चौखम्बा अमरभारती ग्रन्थमाला

५

वैयाकरण-

सिद्धान्तकौमुदी

'इन्दुमती' नामक संस्कृत-व्याख्यासहित-

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी

चौखम्बा अमरभारती ग्रन्थमाला

५

श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

सपरिशिष्ट 'इन्दुमती' संस्कृत-व्याख्योपेता

व्याख्याकारः—

पण्डित रामचन्द्रझा व्याकरणाचार्यः

(कारकान्तो भागः)

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी

१९७६

प्रकाशक : चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी

मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०३३

मूल्य : ६-००

के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० १३८, वाराणसी-२२१००१

(भारत)

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० ८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)

फोन : ६३१४५

CHAUKHAMBA AMARABHARATI GRANTHAMALA

5

VAIYĀKARṆA-SIDDHĀNTA-KAUMUDĪ

By

SHRI BHAṬṬOJIDIKṢITA

Edited With the

'Indumati' Sanskrit Commentary and Appendix

By

Pt. RAMCHANDRA JHA

(PART I)

Chaukhamba Amarabharati Prakashan

VARANASI-221001

1976

Oriental Publishers & Book - Sellers
Post Box No. 138
K. 37/118, Gopal Mandir Lane, Varanasi-221001
(INDIA)

First Edition
1976
Price Rs. 6-00

Also can be had of
The Chowkhamba Sanskrit Series Office
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box 8, Varanasi-221001 (India)
1976
Phone : 63145

आमुख

'संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः' (काव्यादर्श) १

संस्कृत भाषाका ही दूसरा नाम देववाणी है। विश्वकी विविध भाषाओंमें यही एक भाषा है जो वस्तुतः स्वर्गसे अवतीर्ण हुई है, क्योंकि विश्ववाङ्मय के सबसे पुराना अनादि ग्रन्थ वेदका सृजन भगवान्ने सर्वप्रथम इसी भाषा में किया है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

(कु० द्वै० भाष्य)

तत्पश्चात् आर्षयुगके साक्षात्कृतधर्मा महर्षियोंके अपरोक्ष अनुभवसे लेकर आधुनिक कालके बड़े-बड़े भारतीय मनीषियोंके सद्विचारोंसे ओत-प्रोत होनेके कारण संस्कृतवाङ्मयका महत्त्व लोकोत्तर हो गया है। भारतीय पुरातत्त्वके विषयमें पूर्ण और यथार्थ ज्ञान के लिए संस्कृत ही एकमात्र अनन्यसाधारण साधन है।

व्याकरण

व्याक्रियन्ते=व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति—शब्दज्ञानजनकं 'व्याकरणम्'। जिससे साधु शब्दका ज्ञान हो उसीका नाम व्याकरण है। व्याकरणका ही दूसरा नाम महाभाष्यकारने 'शब्दानुशासन' रखा है (अनुशिष्यन्ते=अपशब्देभ्यो विविच्य कथ्यन्ते साधु शब्दा अनेनेत्यनुशासनं नाम—सूत्र[1] वार्तिकभाष्यव्याख्यानादिस्वरूपं शास्त्रम्)। संस्कृत-

---

१. (क) अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

(ख) संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

(१) संज्ञासूत्रं—'वृद्धिरादैच्', 'अदेङ्गुणः' इत्यादि।

वाङ्मयमें व्याकरण शास्त्रका स्थान सबसे ऊंचा है, क्योंकि व्याकरण शास्त्र के ज्ञानके विना वेदार्थ या स्मृति, पुराण, इतिहास, काव्य, कोश आदि किसी भी शास्त्रान्तरका ज्ञान हो ही नहीं सकता। कहा भी है—

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्
ब्राह्मयाः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य विद्वान्
शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी॥ (भास्कराचार्य)

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष इन षडङ्गों में व्याकरण वेद का मुखरूप प्रधान अङ्ग है, जैसा कि कहा है--

मुखं व्याकरणं तस्य ज्यौतिषं नेत्रमुच्यते।
निरुक्तं श्रोत्रमुद्दिष्टं छन्दसां विचितिः पदे॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य हस्तौ कल्पान् प्रचक्षते।

किं बहुना, 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस आगमोक्त वचन का उद्धरण देते हुए भगवान् पतञ्जलि ने कहा है--
'षट्स्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणं, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति।
इत्यादि उक्तिसे भी सिद्ध होता है कि संस्कृतसाहित्यमात्रके लिए मुख्यतः व्याकरणशास्त्रका ज्ञान सर्वप्रथम नितान्त आवश्यक है।

व्याकरण का प्रथम प्रवक्ता

व्याकरणवाङ्मयमें ऐन्द्र तन्त्र सबसे पुराना है। बृहस्पतिने सर्वप्रथम एक हजार वर्ष निरन्तर भगवान् इन्द्रको प्रतिपदपाठ द्वारा शब्दोपदेश किया था, जैसा कि महाभाष्यमें लिखा है--

'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच'।

---

(२) परिभाषासूत्रं—कुव्यवस्थायां सुव्यवस्थासम्पादकम्। यथा—
'आदेः परस्य', 'इको गुणवृद्धी', 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य'। इत्यादि।
(३) विधिसूत्रं--'कृतद्धितसमासाश्च', 'रात्सस्य'। इत्यादि।
(४) अतिदेशसूत्रं—'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ', 'तृज्वत्क्रोष्टुः'। इत्यादि।
(५) अधिकारसूत्रं—'ङ्याप्प्रातिपदिकात्', 'आर्धधातुके'। इत्यादि।

वोपदेवने भी निम्न आठ शाब्दिकोंमें सबसे पहले इन्द्रका ही नाम लिया है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाऽऽपिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥

पाणिनीय व्याकरण

संस्कृतवाङ्मयके व्याकरणोंमें सम्प्रति पाणिनीय व्याकरण ही एकमात्र सांगोपांग उपलब्ध होता है । इसकी सुन्दर और सुबुद्ध रचनाकी प्रशंसा विश्व का प्रत्येक विद्वान् मुक्तकण्ठसे करता है । यह प्राचीन आर्ष वाङ्मयकी निधि है और भारतकी अनुपम देन है । विश्वमें अभीतक किसी भी भाषाका व्याकरण इतना सरल और सुपरिष्कृत नहीं बन सका है । यह व्याकरण 'त्रिमुनि-व्याकरण' नामसे प्रसिद्ध है और इन त्रिमुनियोंमें पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि यथाक्रम हुए हैं ।

(१) महामुनि पाणिनि

पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें 'श्रवण' और 'यवन' शब्दोंको देखकर पाणिनिको कोई बुद्धसे और कोई यवनसे उत्तरवर्ती मानते हैं । इसका समुचित समाधान व्याकरण शास्त्रके मनोनीत इतिहासकार युधिष्ठिर मीमांसकने अपने इतिहास (पृ० १३६) में किया है । मीमांसकजीने महामुनि पाणिनिको विक्रमसे लगभग २८०० सौ वर्ष प्राचीन सिद्ध किया है गणतन्त्रमहोदधिमें शालातुरो नाम ग्रामः सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीयः, तत्र भवान् पाणिनिः' इस व्युत्पत्तिसे शालातुर नामक ग्राम पाणिनिका जन्म-स्थान लिखा है—जो अधुना पाकिस्तानमें 'लाहौर' नाम से प्रसिद्ध है । पाणिनि के पिताका नाम महर्षि पाणि और माता का नाम दाक्षी था । भगवान् पतञ्जलिने भी लिखा है-दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः' पाणिनिके गुरुका नाम 'उपवर्षाचार्य था जो नन्दराजके राज्यकालमें नालन्दा विश्वविद्यालय' (बिहार–राज्य) के सुप्रसिद्ध आचार्य कहे जाते थे । पाणिनिने अपनी घोर तपस्यासे आशुतोष भगवान् शङ्करको प्रसन्न[१] कर उनके उपदेश और आदेशसे

---

१. चित्रपट देखें लेखकके संस्कृतव्याकरणम्' में ।

गुरुके आश्रम (बिहार-राज्य) में ही अष्टाध्यायी, सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन आदि की रचना की थी। आचार्योंने[1] कहा भी है--

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥

'इति माहेश्वराणि सूत्राणि'--

आधुनिक एक इतिहासकार तथा तदनुयायी कौमुदीके एक विद्वान् हिन्दी टीकाकारका मत है कि सि० कौमुदीका 'इति माहेश्वराणि सूत्राणि' अप्रमाक वचन है। उनका कहना है कि आचार्य नन्दिकेश्वर के 'नृत्तावसाने' (पृ० ११ का) श्लोक भी आर्ष ग्रन्थोंमें नहीं है। पता नहीं इन विद्वान्के मत में आर्ष ग्रन्थ किसे कहा जाता है। अति प्राचीन 'रुद्रडमरूद्भवसूत्रविवरणं' नामक ग्रन्थ,[2] तथा आचार्य नन्दिकेश्वरकी 'काशिका' को प्रायः सभी विद्वान् आर्ष मानते हैं। अस्तु, सप्तशताधिक वर्षों से विश्वमान्य दीक्षित रचित सिद्धान्त-कौमुदीका 'इति माहेश्वराणि सूत्राणि' को सि० कौमुदीकी टीकामें ही अनार्ष कहना श्रद्धास्पद प्रतीत नहीं होता।

विद्वान् टीकाकार यह युक्ति भी प्रस्तुत करते हैं कि--'आपिशलि-गार्ग्य-शाकल्य--भारद्वाज--आदि वैयाकरणों के मतों का भी जब (पाणिनि) वर्णन करते हैं तो किसी प्रसंगमें वे लिखते कि--मुझे शंकर--प्रसादसे १४ सूत्र प्राप्त हैं'

विद्वान् टीकाकार भी प्रायः यह जानते और मानते ही होंगे कि लोक-परम्परागत यह देखा और सुना जा रहा है कि महापुरुष किसी भी प्रसंगमें अपने तपःसिद्धिके इतिवृत्तका उल्लेख नहीं करते।

महाकवि श्रीहर्षके बारेमें यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि उन्होंने मिथिला-महीके महादार्शनिक विद्वच्छिरोमणि उदयनाचार्यको (जिन्होने श्रीहर्षके दिवंगत पिताको शास्त्र--चर्चामें बहुवार अपदस्त कर दिया था उन्हे) शास्त्रार्थ में पराजित करनेके उद्देश्यसे भागीरथीके तटपर वर्ष भर

---

१. आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि।
स्वयं चाचरते यस्मात् तस्मादाचार्य उच्यते ॥

२. अत्यन्त प्राचीन हस्तलिखित दुष्प्राप्य संगीत का मापक यह ग्रन्थ सरस्वती भवन, वाराणसी में सुरक्षित है।

'चिन्तामणि' नामक महामन्त्रका जप किया और जपान्तमें भगवती त्रिपुराने प्रत्यक्ष होकर उन्हें अप्रतिम पाण्डित्यका वरदान दिया । किन्तु महाकवियोंमें एकमात्र महात्मश्लाघी[१] श्रीहर्षने भी अपने उपर्युक्त वरदानसिद्धि के इतिवृत्त का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है ।

इसी प्रकार महाकवि कालिदासके बारेमें भी जनश्रुति प्रसिद्ध है कि—उन्होंने महाकालीके चरणों पर अपनी[२] जीभ को काट कर चढ़ा दिया और उनके वरदान से सर्वशास्त्र-पारंगत हो गये ।

ऐसे ही महाकवि विद्यापतिके बारेमें भी कहा जाता है कि—भगवान् शंकर[३] विद्यापतिका 'उगना' के रूप में आजीवन सेवक बने रहे । महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि भी शेषावतार थे (दे० आगे पृ० १०) किन्तु इन महामनीषियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उपर्युक्त तपःसिद्धि के बारे में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है ।

दूसरी युक्ति यह भी दी गयी है कि—'ताण्डव नृत्य क्रोधावेश में ही होता है अतः महर्षि पाणिनिके तपश्चर्याके समय शंकरका 'ताण्डव नृत्य करना असामयिक है' । पर यह युक्ति भी मान्य प्रतीत नहीं होती, इसलिये कि आशुतोष महेश्वरके नृत्यका नाम ही 'ताण्डव' है । उनका नृत्य चाहे क्रोधावेशका हो या हर्षोद्रेकका हो, उनके नृत्यमें ढक्का और डमरूका महानिनाद ही प्रधान रहता है, (अत एव महेश्वर के नृत्य का नाम ही ताण्डव नृत्य पड़ा है । दे० रावणकृत 'शिवताण्डवस्तोत्र' का प्रसंग)

(२) महामुनि कात्यायन

कात्यायन और पाणिनि दोनों समकालिक सतीर्थ्य थे । पूर्वाचार्योंने कात्यायन को महर्षि याज्ञवल्क्यका आत्मज माना है । उनके मतमें स्मृतिकार और

---

१. दे० नैषध, सर्ग २२ के अन्तिम कविप्रशस्ति श्लोक १–४

२. दे० कालिदास–जीवनवृत्त, लेखक के रघुवंश–इन्दुमती टीका, सर्ग २ का पर्यालोचन ।

३. दे० 'विद्यापति-उगना' का इतिवृत्त, लेखक के 'वर्षकृत्य–प्रथम भाग' का आत्म निवेदन ।

वार्तिककार दोनों एक ही कात्यायन हैं । 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः' इस महाभाष्यसे सिद्ध होता है कि कात्यायन दाक्षिणात्य थे । पर उसकी पुष्टि निम्नोक्तरीतिसे स्कन्दपुराणके वचनका समन्वय करने पर ही हो सकती है ।

स्कन्दपुराणमें लिखा है—'मिथिलाके ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्यका एक आश्रम (पीठ) आनर्त (गुजरात) प्रदेशमें भी था ।' संभव है उसी प्रकार महामुनि कात्यायनका भी कोई आश्रम महाराष्ट्र प्रदेशमें रहा होगा और वहीं पर उनका समय व्यतीत होनेसे लोकमें वे दाक्षिणात्येन व्यवहृत हो गये होंगे ।

वार्तिककारोंमें महामुनि कात्यायन सबसे श्रेष्ठ हुए । उनके वार्तिक निम्नोक्त लक्षणोंसे सर्वथा पूर्ण है—

उक्ताऽनुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते ।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ॥

कात्यायनका वार्तिकपाठ पाणिनिव्याकरणका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग है । इसके विना पाणिनोय व्याकरण अपूर्ण ही रह जाता और यही कारण है कि अब पाणिनीय व्याकरणके आलोकमें अन्य कोई भी व्याकरण पनप नहीं सका है ।

महामुनि कात्यायनका ही दूसरा नाम 'वररुचि' है । ये स्मृतिकार और वार्तिककार ही नहीं, अपितु महाकवि भी थे । इनके 'स्वर्गारोहण' नामक काव्यकी प्रशंसा अनेक ग्रन्थोंमें की गयी है, जैसा कि लिखा है—

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि ।
काव्येन रुचिरेणैव ख्यातो वररुचिः कविः ॥
न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः ।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः ॥

(६) शेषावतार भगवान् पतञ्जलि

शेषावतार भगवान् पतञ्जलिका महाभाष्य[1] व्याकरणका सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है सभी वैयाकरण इसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं ।

---

१. सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥

वस्तुतः यह ग्रन्थ न केवल व्याकरणशास्त्रका ही प्रामाणि ग्रन्थ है, अपितु समस्त संस्कृतवाङ्मयका आकार-ग्रन्थ माना जाता है । भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीयमें लिखा है—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना ।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥

भगवान् पतञ्जलिने मनोवाक्कायदोषनिरसनार्थं पातञ्जलयोगसूत्र, पाणिनीय महाभाष्य और चरकसंहिता—इन तीनों ग्रन्थों की रचना की, जैसा कि कैयट ने अपनी महाभाष्यकी टीकाके मङ्गलाचरणमें लिखा है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
येनाऽकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

भगवान् पतञ्जलिके विषयमें निम्नोक्त इतिवृत्त प्रसिद्ध है—

आचार्योंका कहना है कि पाणिनि और कात्यायन दोनों उपवर्षाचार्य नामक एक ही गुरु के शिष्य थे । अध्ययनके समय कात्यायनकी प्रखर बुद्धिके सामने बहुधा पाणिनिको हतप्रभ हो जाना पड़ता था । अतः पाणिनि तीर्थराज प्रयागमें अक्षयवटके नीचे—जहाँ सनकादि ऋषिगण तप कर रहे थे, वहीं जाकर घोर तपस्या करने लगे । कुछ दिनोंके पश्चात् उन लोगोंकी विकट तपश्चर्यासे प्रसन्न होकर आशुतोष भगवान् शंकरने ताण्डवनृत्य करते हुए उन लोगोंको दर्शन दिया और १४ बार अपना डमरू बजाकर उन तपस्वियोंका अभीष्ट सिद्ध किया, जैसा कि नन्दिकेश्वरविरचित काशिकामें लिखा है—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम् ।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥

पाणिनिको उसी डमरूके शब्दोंसे चतुर्दश माहेश्वरसूत्र उपलब्ध हुए और उन्हीं सूत्रोंके आधारपर पाणिनिने सुवुद्ध अष्टाध्यायीकी रचना की, जिसे देखकर कात्यायन चकित हो उठे और तत्क्षण ही उन्होंने अष्टाध्यायीमें दोष निकालने की प्रतिज्ञा साध ली । भगवान् महेश्वरकी तपश्चर्यासे उन्होंने भी अष्टाध्यायीके अनुक्तपुनरुक्तादि दोषोंके उद्धरणस्वरूप पाणिनीय व्याकरणपर वार्तिकका एक विशाल ग्रन्थ ही रच डाला । पाणिनिको कात्यायनका यह द्वेष असह्य हो उठा । उन्होंने आवेशमें आकर कात्यानको तत्क्षण दिवङ्गत हो जाने का शाप

दे दिया। कात्यायन भी इसे सह न सके। उन्होंने भी तमककर आचार्य पाणिनि को सूर्योदय से पहले सिंहद्वारा ग्रसित हो जानेका महाशाप दे दिया। फलस्वरूप दोनों आचार्य उसी दिन त्रयोदशीको शिवलोक प्रस्थान कर गये[1] (इसीलिए वैयाकरण लोग त्रयोदशीको भी अनाध्याय मानते हैं)।

महामुनि पाणिनि और कात्यायनके निधनके पश्चात् शनैः शनैः पाणिनीय व्याकरण लुप्तप्राय होने लगा और उसकी जगह मुकुटाचार्य अपने एक नये ही व्याकरणका सृजन करने लगे।

आशुतोष भगवान् शंकरको अपना अक्षरसमाम्नाय अत्यन्त प्रिय है (अभी भी प्राचीन आचार्य चतुर्दश सूत्रोंसे भगवान् शंकरका स्नपन करते हैं)। उन्होंने पाणिनिके शब्दानुशासनको नष्ट होते हुये देख शेषशायी भगवान्से प्रार्थना की कि शेषनाग पाणिनि-व्याकरणपर महाभाष्य करनेके लिये भूतल-पर 'चिदम्बरम्' में अवतार ग्रहण करें।

उस समय चिदम्बरं प्रदेशमें 'गोणिका' नामकी महासती प्राज्ञ पुत्रकी कामनासे महेश्वरकी आराधना कर रही थी। एक दिन (आजसे ३२०० वर्ष पूर्व) तपस्विनी माता गोणिका भगवान् सूर्यको अर्घ्य दे रही थी कि गोणिका-की अञ्जलिमें भगवान् शेष अवतीर्ण हो गये। सर्पके रूपमें उन्हें देखते ही घब-ड़ाकर माता गोणिका ने पूछा—

१. गोणिका—कोऽभवान्?	३. गोणिका—रेफः क्व गतः?
२. शेषः—सप्पोऽहम्,	४. शेषः—त्वयाऽपहृतः।

यह सुनते ही माता गोणिका आनन्दसे विभोर हो उठी। अनन्तर ही उसने भगवान् शेषको हंसते हुए बालकके रूपमें पाया और उसी दिन उस (शेषा-वतार) का नाम 'पतंजलि' रख दिया। कुछ ही दिनोंमें वे पतंजलि महेश्वरके

१. पञ्चतन्त्रमें लिखा है

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः,
मीमांसाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनिं जैमिनिम्।
छन्दोज्ञाननिधिं जघानमकरोद् वेलातटे पिङ्गलम्,
अज्ञानावृतचेतसामतिरुषां कोऽर्थस्तिरश्चां गणैः॥

अनुग्रहसे व्याकरण शास्त्रमें पारंगत होकर विश्वकी विभुति बन बैठे। दिन-प्रति हजारों की संख्यामें आ—आकर शिष्यगण उनसे पाणिनीय व्याकरण पढ़ने लगे।

एक दिन पतंजलिने अपने शिष्योंसे कहा—'आज (य) जवनिकाके भीतर से मैं पाणिनिकी अष्टाध्यायी और कात्यायनके वार्तिकोंके ऊपर एक साथ ही महाभाष्यकी रचना करूँगा, आपलोग ध्यानसे सुनें और लिखते जायें। पर यह बात स्मरण रहे कि 'आपमें से कोई भी व्यक्ति प्रवचनके समय जवनिका के भीतर मुझे देखनेका दुःसाहस न करें, अन्यथा महान् अनिष्ट होगा।' इतना कहकर पतञ्जलिने जवनिकाके भीतर शेषका रूप धारण कर सहस्र-मुखों (फणों) से एक ही साथ 'तत्तर्हि वक्तव्यम् न वक्तव्यम्' इत्यादिरूपेण महाभाष्यका प्रवचन आरम्भ कर दिया और उनके शिष्यगण लिखने लगे। 'कृदतिङ्' सूत्रका महाभाष्य पूर्ण हो ही रहा था कि एक शिष्य कौतुहल से भगवान् पतञ्जलिको जवनिकाके अन्दर झाँकनेका दुःसाहस करने लगा और त्वरित् ही सहस्र-फणामण्डल-मण्डित भगवान् शेषके अत्युग्र विषकी ज्वालासे सभी शिष्यगण एक ही साथ भस्मसात हो गये।

दैववश उस विप्लवके समयसे कुछ ही पूर्व एक शिष्य अत्यन्त तृषार्त होकर जल पीनेके लिए आश्रमसे बाहर नदीतटपर चला गया था, अतः विप्लवके पश्चात् वह पुनः उपस्थित हुआ। उसे देख पतञ्जलिने अपूर्ण पाठके मध्यसे उठ जानेके अपराधमें उसे ब्रह्मपिशाच होनेका शाप दे दिया। पतञ्जलिके शापसे वह शिष्य अत्यन्त घबड़ा उठा और गुरुके चरणोंपर गिरकर क्षमा-प्रार्थना करने लगा। अन्तमें पतञ्जलिने कहा—घबड़ाओ मत, देखो, इस वट-वृक्षके ऊपर तुम निवास करना और इस वृक्षके नीचेसे जो चले उससे 'पचेर्निष्ठायां किं रूपम् ?' ऐसा प्रश्न करना। इसके उत्तर में जो व्यक्ति 'पक्वम्' ऐसा कहे, उसको मेरा महाभाष्य पढ़ा देना। बस उसी दिन तुम इस शापसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लोगे। इतना कहकर भगवान् पतञ्जलि वहीं पर अन्तर्हित हो गये और वह ब्रह्मपिशाच उसी वट-वृक्ष पर रहने लगा।

एकाएक भगवान् पतञ्जलिके अन्तर्हित हो जाने पर पाणिनीय व्याकरण शास्त्र पुनः ऐसा लुप्त हुआ कि सभी लोग उस ब्रह्मपिशाचके प्रश्नके उत्तर में 'पक्तम्' (अशुद्ध) कहने लगे।

बहुत दिनोंके पश्चात् पाणिनीय व्याकरणका एकमात्र जिज्ञासु चन्द्रगुप्त नामका पण्डित इतस्ततः भगवान् पतञ्जलिका अन्वेषण करता हुआ उस वट-वृक्षके नीचे आ पहुँचा और उसने ब्रह्मपिशाचके प्रश्नका सटीक उत्तर(पक्वम्) दे दिया। उसका उत्तर सुनते ही ब्रह्मपिशाच अपने गुरु भगवान् पतंजलिका वचन स्मरण कर बोल उठा—'अहो ! तुम तो पाणिनीय वैयाकरण जान पड़ते हो, क्या तुम्हें पातञ्जलमहाभाष्य पढ़ने की इच्छा है ?' यह सुन पण्डित चन्द्रगुप्त अतिप्रसन्न हुआ और आसन लगाकर उस वृक्ष के नीचे बैठ गया। तदनन्तर वह ब्रह्मपिशाच वट-पत्रके ऊपर अपने नखाग्रसे महाभाष्य लिख-लिखकर गिराने लगा और चन्द्रगुप्त उसे बटोरने लगा। इतनेमें एक बकरी आई और इधर-उधर बिखरे हुए कुछ वट-पत्रोंको खा गयी। इसलिये महाभाष्यमें, यत्र-तत्र 'अजाभक्षितमेतत्' ऐसा लिखा है। महाकवि श्रीहर्षने भी महाभाष्य के विषय में निम्न पद्य गाया है—

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा।
'फणिभाषितभाष्यफक्किका' विषमा कुण्डलनामवापिता॥

अष्टाध्यायीके [1]व्याख्याकार

पाणिनीय अष्टाध्यायीके ऊपर आचार्य कुणि, आचार्य व्याडि आदि कतिपय प्राचीनाचार्योंने भिन्न-भिन्न प्रकारकी व्याख्या आदिकी रचना की है, परन्तु 'त्रिमुनिव्याकरणम्' सिद्ध हो जानेके पश्चात् सर्वप्रथम महापण्डित जयादित्य और वामनने वि० सं० ६५०–७०० के मध्य 'काशिकावृत्ति' लिखी। परन्तु उससे बालकोंको व्याकरणका परिज्ञान सरलतया नहीं हो पाता था, अतः वि० सं० १४०० में आठों व्याकरणके ज्ञाता पं० रामचन्द्राचार्यने 'प्रक्रियाकौमुदी' की रचना की। किन्तु इसमें भी अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रोंका सन्निवेश नहीं

---

१. पदच्छेदः पदार्थोक्तिविग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं मतम्॥

था। इस न्यूनताको पूर्ण करनेके लिए वि० सं० १५१०-१५७५ के मध्यवर्ती महावैयाकरण भट्टोजिदीक्षितने ३९७५ प्रक्रियोपयोगी अष्टाध्यायी सूत्रोंके सहित उणादिसूत्र, फिट्सूत्र, लिङ्गानुशासन, गणपाठ और धातुपाठसे सर्वाङ्गपूर्ण 'सिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ रचा। इसकी सुललित और सुबुद्ध रचनाशैली को देखकर समस्त आर्यावर्त मुग्ध हो उठा और कुछ लोग इस ग्रन्थकी स्तुति निम्नोक्तरीतिसे करने लगे—

कौमुदी यदि नायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यदि चायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

आत्मनिवेदन

विगत कई वर्षों के प्रश्नपत्रों का संकलन करके व्याख्या के प्रारम्भ में तत्तत् ई० का निर्देश कर दिया गया है। वाराणसी, बिहार तथा पंजाब की परीक्षा में पूछे गये प्रश्नों के उत्तर भी इस व्याख्या में सम्मिलित हैं। अब प्रायः वाराणसी की परीक्षा में फक्किकांशवर्जित ही प्रश्न पूछे जाते हैं। परन्तु सभी प्रान्तों में ऐसा नहीं है, अतः यथास्थल फक्किकाओं का भी संक्षिप्त विवेचन किया गया है। प्राचीन परिपाटी के पिपठिषु छात्रों को इससे अधिक लाभ होगा।

प्रस्तुत टीका, परिशिष्ट आदिके विषयमें गुण-दोषोंकी विवेचना करना मैं पाठक तथा आचार्योंके ऊपर ही छोड़ता हूँ। क्षीर-नीर-विवेकी पाठक स्वयं इसका अनुभव करेंगे तथा आचार्यगण अपनी आशीर्वादात्मक सम्मतियाँ प्रदान कर मुझे अनुगृहीत करेंगे। दृष्टिदोषाशुद्धि तथा प्रमादके लिये सावनत संपादक क्षम्य है।

इन्दुमती स्मृतिदिवस
श्रा० शु० ११, २०३६ वि०

विनयावनत
—रामचन्द्र झा

शिवसूत्र-प्रत्याहाराः

स्यादेको ञ्नणवटैः, पेण द्वौ, त्रय इह कणमैश्च ।
चत्वारश्च चयाभ्यां, पञ्च रेफेण, शलाभ्यां षट् ॥

अक्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ ।

अच—अ, इ,उ,ऋ,ऌ, ए, ओ, ऐ,औ।

अण—अ, इ, उ ।

अट्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ,ऐ, औ, ह, य, व, र ।

अण्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल ।

अम्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न ।

अल्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म,ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज,ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ,च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

अश्—अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र,ल, ञ, म,ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द ।

इक्—इ, उ, ऋ, ऌ ।

इच्—इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ ।

इण्—इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल ।

उक्—उ, ऋ, ऌ ।

एङ—ए, ओ ।

एच्—ए, ओ, ऐ, औ ।

ऐच्—ऐ, औ ।

खय्—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।

खर्—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

ङम्—ङ, ण, न ।

चय्—च, ट, त, क, प ।

चर्—च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

छव—छ, ठ, थ, च, ट, त ।

जश्—ज, ब, ग, ड, द ।

झय्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।

झर् झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स ।

झल्—झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह ।

झश्—झ,भ,घ, ढ,ध, ज, ब, ग,ड,द ।

झष्—झ, भ, घ, ढ, ध ।

बश्—ब, ग, ड, द ।

भष्—भ, घ. ढ, ध ।

मय्—म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प।

यञ्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ।

यण्—य, व, र, ल।

यय्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प।

यर्—य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स।

रल्—र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।

वल्—व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।

वश्—व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।

शर्—श, ष, स।

शल्—श, ष, स, ह।

हल्—ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ट, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।

हश्—ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।

स्वरों का अष्टादश भेदज्ञापक चक्र

अ इ उ ऋ ऌ	अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ	अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ
ह्रस्वभेद	दीर्घभेद	प्लुतभेद
१ ह्रस्व उदात्तानुनासिक	७ दीर्घ उदात्तानुनासिक	१३ प्लुत उदात्तानुनासिक
२ ,, उदात्ताननुनासिक	८ ,, उदात्ताननुनासिक	१४ ,, उदात्ताननुनासिक
३ ,, अनुदात्तानुनासिक	९ ,, अनुदात्तानुनासिक	१५ ,, अनुदात्तानुनासिक
४ ,, अनुदात्ताननुनासिक	१० ,, अनुदात्ताननुनासिक	१६ ,, अनुदात्ताननुनासिक
५ ,, स्वरितानुनासिक	११ ,, स्वरितानुनासिक	१७ ,, स्वरितानुनासिक
६ ,, स्वरिताननुनासिक	१२ ,, स्वरिताननुनासिक	१८ ,, स्वरिताननुनासिक

वर्णोद्भवस्थानज्ञापक चक्र

कंठ	तालु	मूर्धा	दन्त	ओष्ठ	नासिका	कं. ता.	कं. ओ.	दं. ओ.	जि. मू.	नासिका
अ	इ	ऋ	ऌ	उ	ञ	ए	ओ	व	⌣क	
क	च	ट	त	प	म	ऐ	औ			
ख	छ	ठ	थ	फ	ङ				⌣ख	
ग	ज	ड	द	भ	ण					अनुस्वार
घ	झ	ढ	ध	म	न					
ङ	ञ	ण	न							
ह	य	र	ल	⌣प						
:	श	ष	स	⌣फ						

जीभ के चार भाग हैं--मूल, मध्य, उपाग्र और अग्र। ये चार और नीचे का ओष्ठ मिलकर जो पाँच अवयव होते हैं, उनका अनुक्रम से कंठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ इनका परस्पर सम्बन्ध होता है। इन अवयवों का जो एक दूसरे से परस्पर पूर्ण स्पर्श है वही 'स्पृष्ट-प्रयत्न' है और थोड़ा स्पर्श हो तो ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न और उनका एक दूसरे से दूर होना 'विवृत-प्रयत्न' और उनका एक दूसरे के समीप आना संवृत प्रयत्न है।

आभ्यन्तर और बाह्यप्रयत्नज्ञापक चक्र

आभ्यन्तर-प्रयत्न	स्पृष्ट			ईषत्स्पृष्ट	ईषद्विवृत		विवृत	संवृत
संज्ञा	स्पर्श			अन्तःस्थ	ऊष्मा		स्वर उदात्त, अनुदात्त, स्वरित	
व्यञ्जन, स्वर	क ख प फ च छ ट ठ त थ	ग ङ ब म ज ञ ड ण द न	घ भ झ ढ ध	य व र ल	श ष स	ह	अ इ ए उ ओ ऋ ऐ ऌ औ	प्रयोग में ह्रस्व अ
बाह्यप्रयत्न	अ.प्रा.म.प्रा. विवार श्वास अघोष	अल्प.प्रा. संवार नाद घोष	म.प्रा. संवार नाद घोष	अल्प. संवार नाद घोष	म. प्रा. विवार श्वास अघोष	म. प्रा. सं. ना. घो.	अल्पप्राण संवार नाद घोष	अल्प. संवार नाद घोष

प्रकरणसूची

—— × ——

परिशिष्टसूची

॥ श्रीः ॥

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

सपरिशिष्ट-'इन्दुमती' व्याख्योपेता

मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिभाव्य च ।
वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीयं विरच्यते ॥ १ ॥

अथ संज्ञाप्रकरणम्

१ अइउण् । २ ऋलृक् । ३ एओङ् । ४ ऐऔच् । ५ हयवरट् । ६ लण् । ७ ञमङणनम् । ८ झभञ् । ९ घढधष् । १० जबगडदश् । ११ खफछठथचटतव् । १२ कपय् । १३ शषसर् । १४ हल् ॥

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसञ्ज्ञार्थानि । एषामन्त्या इतः । लण्सूत्रे

श्रीजानकीचरणकञ्जमरन्दभृङ्गः श्रीरामचन्द्रसुकृतीन्दुमतीं समाख्याम् ।
टीकान्तनोति बहुधा सरलातिरम्यां स्वर्गंश्रिताञ्च मनसीन्दुमतीं दधानः ॥

माहेश्वराणीति*(ई. ६०)—महेश्वरेण उपज्ञाता माहेश्वरा अनुबन्धाः, ते सन्ति येषु तानि माहेश्वराणि । महेश्वरोपज्ञातानुबन्धयुतानि सूत्राणीति, सूत्रेष्वनुबन्धयोगो महेश्वरकृतः, सूत्राणि तु वेदवदनादिसिद्धानीति तात्पर्यार्थः ।

लण्सूत्रेऽकारश्चेति–अयं भावः–लण्सूत्रे लकारोत्तरवर्तिह्रस्वाकारस्यानुनासिकत्वप्रतिज्ञया 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति सूत्रेणेत्संज्ञायां कृतायाम् 'आदिरन्त्येन सहेता' इत्यनेन अकारेण सहोच्चार्यमाणरेफस्य 'उरण् रपरः' इत्येतत्सूत्रघटकस्य 'हयवरट्'सूत्रस्थोऽयम् इति तत्त्वप्रत्यभिज्ञया मध्यपठितलकारस्वपदग्राह्यरेफयोर्बोधक इति रप्रत्याहारसिद्धिः । तेन तत्र सूत्रे रपरत्वविधानवत् लपरत्वविधानं, तेन च 'तवल्कारः' इति रूपसिद्धिर्भवति । ननु रलयोरिति न्यूनं, टकार-

---

*नोट—जो २ प्रश्न जिन २ ई० की परीक्षा में पूछे गये हैं, उन २ ई० संख्याओं का निर्देश ( ) में किया गया है ।

अकारश्च । हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः ॥

१ हलन्त्यम् ।१।३।३। 'हल्' (म. सू. १४) इति सूत्रेऽन्त्यमित्स्यात् ।

२ आदिरन्त्येन सहेता । १।१।७१। अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च सञ्ज्ञा स्यात् । इति हल्सञ्ज्ञायाम् । हलन्त्यम् १।३।३। उपदेशे-

---

स्यापि मध्यगतत्वेन रप्रत्याहारे तद्ग्रहणस्यापि युक्तत्वादिति चेत् ? न, 'अनुनासिकः' इति ककारपरक–इकारघटितनिर्देशेन प्रत्याहारेषु इत्सञ्ज्ञकवर्णाग्रहणज्ञापनात् । अन्यथा प्रत्यारेष्वित्सञ्ज्ञकवर्णानामपि ग्रहणे अच्प्रत्याहारे 'ऋलृक्' सूत्रस्थककारस्यापि ग्रहणापत्त्या तत्परकेकारस्य 'इको यणचि' इत्यनेन यणि 'अनुनासिक' इति निर्देशानुपपत्तेः ।

हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः (ई. ६६)—'लण्'सूत्रे एव अकारस्य इत्संज्ञकत्वे 'हयवरट्—' इत्यादौ पुनः पुनः अकारोच्चारणस्य किं प्रयोजनमिति प्रश्नाशयः । उच्चारणार्थत्वे मानन्तु 'नान्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणं भवति' इति 'उच्चैरुदात्तः' इति सूत्रस्थभाष्यमेव । अत एव 'वर्णात् कारः' इति कारप्रत्यये सति 'ककार' इत्यादि सिध्यति ।

हलन्त्यम् (ई. ७३,७५)—ननु अष्टाध्याय्यामेकमेव 'हलन्त्यम्' इति सूत्रं पाणिनिना पठितं, तत्कथं कौमुद्यां तदावृत्तिरिति चेन्न, 'न विभक्तौ तुस्माः' इत्यादिसूत्राणां साफल्याय 'हलन्त्यम्' इति सूत्रस्य उपदेशेऽन्त्यं हल इत्स्यादित्यर्थोऽवश्यं वाच्यः । तथा च 'आदिरन्त्येन सहेता' इति सूत्रार्थं विना 'हलन्त्यम्' इति सूत्रार्थो न स्यात् । 'हलन्त्यम्' इति सूत्रार्थं विना च 'आदिरन्त्येन सहेता' इति सूत्रार्थो न स्यादिति द्वयोः परस्परापेक्षत्वेन अन्योन्याश्रयदोषात् 'हलन्त्यम्' इति सूत्रस्य उपदेशेऽन्त्यं हल् इत्स्यादित्यर्थासिद्धेः । तस्मात्सूत्रावृत्त्या एकस्य हल्सूत्रान्त्यमित्स्यादित्यर्थो भवति, द्वितीयस्य च, उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यादित्यर्थो भवतीति

आदिरन्त्येन सहेता (ई. ३४,६१)—आदिः अन्त्येन सह इता, इति पदविभागः । अत्र सूत्रे आद्यन्तशब्दाभ्यां मध्यगाः आक्षिप्यन्ते । 'स्वं रूपम्' इति सूत्रात् 'स्वम्' इत्यनुवर्तते । ततश्च—अन्त्येन इता सह उच्चार्य्यमाणः आदिः (अण्, अच् इत्यादिरूपः) मध्यगानां स्वस्य च प्रत्याहारसंज्ञेति सूत्रार्थो लभ्यते उदाहरणं यथा—'अइउण्' इति सूत्रघटकः 'अण्' इति । तत्र अन्त्येत्संज्ञकवर्णः 'ण्' इति, तेन सह उच्चार्य्यमाणः आदिवर्णः 'अ-ण्' इति, स च (अ-ण्) मध्यगानाम् (इ, उ इत्यनयोः) स्वस्य ('अ' इत्यस्य) च बोधको भवति ।

ऽन्त्यं हल् इत् स्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् । ततः 'अण्' 'अच्' इत्यादि-सञ्ज्ञासिद्धौ । ३ उपदेशेऽजनुनासिक इत् । १।३।२। उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्सञ्ज्ञः स्यात् । प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः । 'लण्' (म. सू. ६) सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः सञ्ज्ञा । प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणम् । 'अनुनासिक' इत्यादिनिर्देशात् । न ह्यत्र ककारे परेऽच्कार्यं दृश्यते । 'आदिरन्त्येन–' (सू. २) इत्येतत्सूत्रेण कृताः सञ्ज्ञाः प्रत्याहारशब्देन व्यवह्रियन्ते ४ । ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः ।१।१।२७। उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः । वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद्ध्रस्वदीर्घप्लुतसञ्ज्ञः स्यात् । स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा । ५ उच्चैरुदात्तः ।१।२।२९। ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञः स्यात् । आ ये । ६ नीचैरनुदात्तः । १।२।३०। स्पष्टम् । अर्वाङ् । ७ समाहारः स्वरितः ।१।२।३१। उदात्तत्वानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसञ्ज्ञः स्यात् । ८ तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम ।१।२।३२। ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम् । स्वरितस्यादितोऽर्धमुदात्तं बोध्यम् । उत्तरार्धं तु परिशेषादनुदात्तम् । तस्य चोदात्त-

---

'लण्' सूत्रस्थावर्णेन (ई. ५५,७०) 'लण्' सूत्रे तिष्ठतीति लणसूत्रस्थः स च असौ अवर्णश्च लणसूत्रस्थावर्णः तेन सह उच्चार्य्यमाणो रेफः 'र' इत्येवंरूपः रेफलकारयोः संज्ञेत्यर्थः । तेन 'र' प्रत्याहारसिद्धिः । अत एव 'उरणरपरः' इति सूत्रेण रपरत्वविधानवत् लपरत्वविधानेन 'तवल्कारः' इत्यादिसिद्धिर्भवतीति दिक् ।

प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणम् (ई. ४९,७२)–प्रत्याह्रियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णाः यत्र स प्रत्याहारः, तेषु इत्संज्ञकानां वर्णानां न ग्रहणम्, 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति सूत्रे 'अनुनासिक' इति निर्देशात् । अन्यथा 'अच्' प्रत्याहारे 'ऋलृक्' इति सूत्रस्थककारस्यापि ग्रहणापत्त्या तत्परके परे इकारस्य 'इको यणचि' इत्यनेन यणि 'अनुनासिक' इति निर्देशानुपपत्तेः ।

ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (ई.४५,७४)–उश्च ऊश्च उ३श्च वः, वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमात् ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यादित्यर्थः । ननु हलामर्धमात्रिकत्वेन वां काल इव कालाऽभावाद् व्यावर्त्याभावेन 'ऊकाले'ति सूत्रे 'अच्' ग्रहणं किमर्थमिति चेन्न, अजग्रहणाभावे 'प्रतक्ष्य, प्रस्क्ष्य, इत्यादौ 'क्-ष' इति द्वाभ्यां मिलितस्य 'क्ष' इत्यस्य एकमात्रिकत्वेन प्रकृतसूत्रेण तस्य ह्रस्वसंज्ञायां 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इत्यनेन तुगागमापत्तेः ।

स्वरितपरत्वे श्रवणं स्पष्टम्। अन्यत्र तूदात्तश्रुतिः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धा। 'क्व १ वोऽश्वाः' 'रथानां न ये २ ऽराः' 'शतचक्रं यो ३ ह्यः' इत्यादिष्वनुदात्तः। 'अग्निमीळे' इत्यादावुदात्तश्रुतिः। स नवविधोऽपि प्रत्येकममुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा। ९ **मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः** ।१।१।८। मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसञ्ज्ञः स्यात्। तदित्थम्—अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः। लृवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्। १० **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्** ।१।१।९। ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसञ्ज्ञं स्यात्। अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां

लृवर्णस्य द्वादश तस्य दीर्घाभावात् (ई. ४३.७०) अत एव 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सूत्रे 'होतृ+लृकारः इति स्थिते सवर्णदीर्घे कृते 'होतॄकारः' इत्येवोदाहृतं भाष्ये। नचैवं लृवर्णस्य दीर्घाऽभावे 'ऋति ऋ वा' 'लृति लृ वा' इत्युभयत्रापि विधेयं वर्णद्वयं द्विमात्रमिति ग्रन्थासङ्गतिरिति वाच्यम्, ताभ्याम् पूर्वोद्विमात्रिकऋलृविधानस्य तत्रैव प्रतिपादित्वात्।

तथा हि—तत्र आद्यस्य=ऋकारस्य, मध्ये द्वौ रेफौ तस्य एका मात्रा ('व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्' इति स्मरणात्), अभितः=रेफद्वयस्य पुरस्तादुपरिष्टाच्च विद्यमानयोर्ह्रस्वऋकारांशयोरन्या मात्रा, एवं द्वितीयस्य विधेयस्य ऋकारस्य मध्ये द्वौ लकारौ तयोः,=लकारयोः, एका मात्रा, तावभितो विद्यमानयोर्लृकारांशयोरन्या मात्रेत्युभयत्र अपूर्वं द्विमात्रिकं विधानेन न ग्रन्थाऽसङ्गतिरिति दिक्।

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (ई. ५७, ६०, ६४)—तालुनः आदिस्ताल्वादिः (कण्ठ इति यावत्)। तालु आदिर्येषां तानि ताल्वादीनि, ताल्वादिश्च ताल्वादीनि च ताल्वादि, तत्ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यादित्यर्थः।

आस्ये भवमास्यं ताल्वादिस्थानम्। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः। आस्यं च प्रयत्नश्च आस्यप्रयत्नौ, तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य (वर्णजालस्य) तत् तुल्यास्यप्रयत्नं परस्परं सवर्णसंज्ञकं स्यादिति भावार्थः। दैत्यारिः, श्रीशः, इत्याद्य दाहरणानि।

नासिका च । एदैतोः कण्ठतालु । ओदौतोः कण्ठोष्ठम् । वकारस्य दन्तोष्ठम् । जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् । नासिकानुस्वारस्य । इति स्थानानि । यत्नो द्विधा—आभ्यन्तरो बाह्यश्च । आद्यश्चतुर्धा—स्पृष्टेषत्स्पृष्टविवृतसंवृतभेदात् । तत्र 'स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम् । ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम् । विवृतमूष्मणां स्वराणां च' । ह्रस्वस्याऽवर्णस्य प्रयोगे संवृतम् । प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव । एतच्च सूत्रकारेण ज्ञापितम् । तथाहि—११ अ अ ।८।४।६८। (इति) विवृतमनूद्य संवृतोऽनेन विधीयते । अस्य चाष्टाध्यायीं सम्पूर्णां प्रत्यसिद्धत्वाच्छास्त्रदृष्ट्या विवृतत्वमस्त्येव । तथा च सूत्रम्—१२ पूर्वत्रासिद्धम् ।८।२।१। अधिकारोऽयम् । तेन सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा । त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धं स्यात् । बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा—विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति ।

खयां यमाः खयः ᳲक ᳲपौ विसर्गः शर एव च ।
एते श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च विवृण्वते ॥ १ ॥
कण्ठमन्ये तु घोषाः स्युः संवृता नादभागिनः ।
अयुग्मा वर्गयमगा यणश्चाल्पासवः स्मृताः ॥ २ ॥

वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः । पलिक्क्नीः, चख्ख्नतुः, अग्ग्निः, घ्घ्नन्तीत्यत्र क्रमेण कखगघेभ्यः

अचां के प्रयत्नाः—आभ्यन्तरप्रयत्ने अचां विवृतप्रयत्नम्, तत्रापि ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे (साधनिकादशायाम्) संवृतप्रयत्नम् इति विशेषः। शास्त्रीयप्रक्रियाभिः परिनिष्ठितानां रामः, कृष्णः, इत्यादिशब्दानां प्रयोगे क्रियमाणे एव ह्रस्वस्यावर्णस्य संवृतमित्यर्थः । अत एव 'दण्ड+आढकम्' इति स्थिते अकाराऽऽकारयोः प्रयत्नसाम्यात् दीर्घत्वं सिद्धम् । बाह्यप्रयत्ने—अचां तु अल्पप्राणः, संवारः, नादः, घोषः इति चत्वारः प्रयत्नाः भवन्तीति तत्त्वविदः ।

प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव (ई. ६३, ६६, ६८)—अयम्भावः—दण्ड+आढकम् इति स्थिते अकारस्य आकारस्य च विवृतसंवृतप्रयत्नभेदेन सावर्ण्याभावात् सवर्णदीर्घो न स्यात् इति चेन्न, 'ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्, प्रक्रियादशायां (शास्त्रीयकार्यप्रवृत्तिसमये) तु (ह्रस्वस्यावर्णस्य) विवृतमेव' इत्यइउण् इति सूत्रे भाष्ये उक्तत्वात् । अयं च सूत्रकारस्यापि सम्मत इत्यत आह मूले 'अ अ' इत्यादि ।

परे तत्सदृशा एव यमाः। तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः, खयः, तथा तेषामेव यमाः, जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ विसर्गः शषसाश्चेत्येतेषां विवारः, श्वासोऽघोषश्च। अन्येषां तु संवारो नादो घोषश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमाः प्रथमतृतीययमौ यरलवाश्चाल्पप्राणाः। अन्ये महाप्राणा इत्यर्थः। वाह्यप्रयत्नाश्च यद्यपि सवर्णसञ्ज्ञायामनुपयुक्ताः तथाप्यान्तरतम्यपरीक्षायामुपयोक्ष्यन्त इति वोध्यम्। कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यरलवा अन्तःस्थाः। शषसहा ऊष्माणः। अचः स्वराः। ≍क≍प इति कपाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ। इति स्थानप्रयत्नविवेकः। 'ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्' (वा १०५) अकारहकारयोरिकार-शकारयोर्ऋकारषकारयोर्लृकारसकारयोश्च मिथः सावर्ण्ये प्राप्ते–१३ नाऽऽज्झलौ १।१।१०। आकारसहितोऽच्, आच् स च हल् चेत्येतौ मिथः सवर्णौ न स्तः। तेन दधीत्यस्य हरति शीतलं षष्ठं सान्द्रमित्येतेषु परेषु यणादिकं न। अन्यथा दीर्घादीनामिव हकारादीनामपि ग्रहणकशास्त्रवलादच्त्वं स्यात्। तथा हि–१४ अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः १।१।६९। प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः।

नाज्झलौ (ई. ५४)—आकारसहितोऽच्, आच् स च हल् चेत्येतौ मिथः सवर्णसंज्ञौ न स्तः, इत्यर्थः। तेन 'दधि+हरति, दधि+षष्ठम्, दधि+सान्द्रम्' इत्यादौ 'इको यणचि' इति यणादेशः, 'दधि+शीतलम्' इत्यादौ सवर्णदीर्घश्च न भवति। अन्यथा तेषां सावर्ण्याभ्युपगमे दीर्घादीनामिव हकारादीनामपि 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इति सूत्रबलाद् अच्त्वं स्यादिति दिक्।

अणुदित्सवर्णस्येति (ई. ४१, ७३)—प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः। उत् इत् यस्य स 'उदित्' (कु चु टु तु पु इत्यादिः)। चकारात् स्वं रूपमित्यतः स्वमित्यनुवर्तते, तच्च षष्ठ्यन्ततया विपरिणम्यते। ततश्च—अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यादित्यर्थो भवति। अत्र सूत्रे एव 'अण्' प्रत्याहारः परेण णकारेणेति भाष्याशयः।

अणुदित्सवर्णस्येति किं विधियते (ई. ६८)—अणमुदिश्य सवर्णग्राहकता अनेन विधीयते। 'वृद्धिरादैच्' इतिवदस्य संज्ञासंज्ञिभावबोधकत्वं तु न, समानाधिकरणपदोपादानाभावात्। एवं च 'येन विधिस्तदन्तस्य' इत्यत्र समानाधिकरणपदोपादानाभावात् तदन्तस्य स्वस्य च बोधकतैव विधीयते न तु संज्ञेति।

अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य सञ्ज्ञा स्यात् । अत्राण् परेण णकारेण । कु चु टु तु पु एते उदितः । तदेवम्—अ इत्यष्टादशानां सञ्ज्ञा । तथेकारोकारौ । ऋकारस्त्रिंशतः । एवम् लृकारोऽपि । एचो द्वादशानाम् । एदैतोरोदौतोश्च न मिथः सावर्ण्यम्, 'ऐऔच्' (म० सू० ४) इति सूत्रारम्भसामर्थ्यात् । तेनैचश्चतुर्विंशतेः सञ्ज्ञाः स्युरिति नापादनीयम् । 'नाज्झलौ' (सू० १३) इति सावर्ण्यनिषेधो यद्यप्याक्षरसमाम्नायिकानामेव, तथापि हकारस्याकारो न सवर्णः, तत्राप्याकारस्य प्रश्लिष्टत्वात् । तेन 'विश्वपाभिः, इत्यत्र 'हो ढः' (सू ३२४)

अत्राण् परेण णकारेण—अत्र मानन्तु 'उऋत्' इति सूत्रे तकारोच्चारणम् । पूर्वेण णकारेणात्र 'अण्' प्रत्याहारे तु ऋकारस्य अण्प्रत्याहारे पाठाभावेन दीर्घऋकारादेरप्रसक्तौ तपरकरणं व्यर्थमेव स्यादिति तदेव व्यर्थं सत् 'अणुदित्—' सूत्रे अण्प्रत्याहारः परणकारेणेति बोधयति । तपरकरणाभावे तु 'अणुदित्-' सूत्र प्रवृत्त्या दीर्घऋकरोऽपि स्यादिति स्वांशे चरितार्थम् ।

ऋ-इत्यष्टादशभेदाः ? टु इति टवर्गः । ऋ च, टुश्च, रश्च षश्चेति—ऋटुरषास्तेषाम्—'ऋटुरषाणाम्' । 'कु चु टु तु पु' एते उदितः, तेन 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इत्यनेन सवर्णग्राहकतायां सत्यां—'कु' इत्यनेन कवर्गस्य 'चु' इत्यनेन चवर्गस्य, 'टु' इत्यनेन टवर्गस्य, 'पु' इत्यनेन पवर्गस्य च ग्रहणं भवति ।

घि-टीति (ई. ५७)—प्रकृतिभागस्य घिसंज्ञा, प्रत्ययमात्रस्य टिसंज्ञा, प्रकृतिप्रत्यययोः वृद्धिसंज्ञा, प्रकृतिमात्रस्य सम्बुद्धिसंज्ञा, प्रत्ययमात्रस्य भसंज्ञा अपृक्तसंज्ञा च, प्रकृतेरन्त्यालः पूर्ववर्णस्य उपधासंज्ञा, प्रत्ययमात्रस्य विभक्तिसंज्ञा सर्वनामस्थानसंज्ञा च । प्रकृतिप्रत्यययोः प्रगृह्यसंज्ञा भवति ।

एदैतोरोदौतोश्च न मिथः सावर्ण्यम् (ई. ६८, ७१)—अयम्भावः, ययोर्वर्णयोः स्थानप्रयत्नसाम्यं तयोः परस्परं 'तुल्यास्य–' इति सूत्रेण सवर्णसंज्ञा विधीयते । तथा च एकारस्य इकारस्य च उभयोः कण्ठतालुस्थानं विवृतप्रयत्नश्चेति तयोः, एवम् ओकारस्य औकारस्य च कण्ठोष्ठस्थानं विवृतप्रयत्नश्चेति तयोश्च परस्परं सवर्णसंज्ञा प्राप्नोति । तथा च ऋकारेण स्वसवर्णानां त्रिंशद् ऋकारलृकाराणां यथा ग्रहणं तथा एभिः स्वसवर्णचतुर्विंशतेर्ग्रहणमिति नापादनीयम्, तथा सति एकारेण ऐकारस्य ओकारेण औकारस्य च ग्रहणसिद्धेः 'ऐऔच्' इति सूत्रं व्यर्थमिति तयोः परस्परमसावर्ण्यज्ञापनात् ।

विश्वपाभिरित्यत्र ढत्वं कुतो नेति (ई. ५४, ६८, ६९, ७२, ७३ ४९ ७४, ७५)—अयम्भावः, 'पूर्वं वर्णानामुपदेशस्तदूत्तरकालेत्संज्ञा, इत्संज्ञोत्तरकाला

इति ढत्वं न भवति। अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा। तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः सञ्ज्ञा। १५ तपरस्तत्कालस्य १।१।७०। तः परो यस्मात् स च तात्परश्चोच्चार्यमाणः समकालस्यैव सञ्ज्ञा स्यात्। तेन 'अत्' 'इत्' 'उत्' इत्यादयः षण्णां षण्णां सञ्ज्ञा। 'ऋत्' इति द्वादशानाम्। १६ वृद्धिरादैच् १।१।१। आदैच्च वृद्धिसञ्ज्ञः स्यात्। १७ अदेङ्गुणः १।१।२। अदेङ् च गुणसञ्ज्ञः स्यात्। १८ भूवादयो धातवः १।३।१। क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसञ्ज्ञाः स्युः। १९ प्राग्रीश्वरान्निपाताः १।४।५६। इत्यधिकृत्य। २० चादयोऽसत्त्वे १।४।५७। अद्रव्यार्थाश्चादयो निपातसञ्ज्ञाः स्युः। २१ प्रादयः १।४।५८। अद्रव्यार्थाः प्रादयस्तथा। २२ उपसर्गाः क्रियायोगे १।४।५९। २३ गतिश्च १।४।६० प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसञ्ज्ञा गतिसंज्ञाश्च स्युः। प्र परा अप सम् अनु अव निस् निर् दुस् दुर् वि आङ् नि अधि अपि अति सु उत् अभि प्रति परि उप—एते प्रादयः। २४ न वेति विभाषा १।१।४४। निषेधविकल्पयोर्विभाषा सञ्ज्ञा स्यात्। २५ स्वं रूपं शब्दस्याशब्द-

---

प्रत्याहारसिद्धिः, तदुत्तरकाला सवर्णसंज्ञा, तदुत्तरं नाज्झलाविति निषेधः, तदुत्तरं ग्राहकताशक्तिः, एतेन सर्वेण समुदितेन अन्यत्र सवर्णानां ग्रहणं भवति न स्वस्मिन्नापि स्वाङ्गे इति भाष्योक्तरीत्या 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' 'नाज्झलौ' इत्येताभ्यां प्राक् ग्रहणकशास्त्रस्य असिद्धया 'नाज्झलौ' इत्यस्य वाक्यार्थबोधावसरे अच्पदेन वर्णसमाम्नायस्थानां ह्रस्वानामेव ग्रहणात् तेषामेव सवर्णसंज्ञानिषेधेन 'विश्वपाभिः' इत्यत्र हकारेण आकारस्य ग्रहणात् 'हो ढः' इत्यनेन ढत्वं कुतो नेति चेन्न, 'नाज्झलौ'विति सूत्रे 'आसहितोऽच् इत्याच्' इत्याकारस्यापि सवर्णदीर्घेण प्रश्लिष्टत्वात्। अत्र प्रश्लेषे 'कालसमयवेलासु तुमुन्' इति सूत्रमेव मानम्। अन्यथा 'वेलासु' इत्यत्र ढत्वस्य संयोगान्तलोपस्य वाऽऽपत्तौ लकारादाकारस्य निर्देशासङ्गतिः स्यादिति।

तपरस्तत्कालस्य (ई. ४५,७०)—अत्र 'तपर' इत्यावर्तते। प्रथमस्तावत्, तपरशब्दः तः परः यस्मादिति बहुव्रीहिः। द्वितीयस्तु तात्परः इति पञ्चमीसमासः। ग्रहणकशास्त्राद् 'अण्' इत्यनुवर्तते। तस्य तपरत्वेन उच्चार्यमाणवर्णस्य काल इव कालो यस्येति बहुव्रीहिः। एवं च—'अत्' 'इत्' इत्याद्यात्मकः अण् तपरत्वेन उच्चार्यमाणः स्वीयकालसदृशकालस्य संज्ञा स्यात्' इति सूत्रार्थः।

स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा (ई. ५७,७१,७३)—शब्दस्य स्वं रूपं संज्ञि, शब्दशास्त्रे या संज्ञा तां विनेति सूत्रार्थः। 'शब्दस्य स्वं रूपं संज्ञि, इत्येताव-

सञ्ज्ञा १।१।६८। शब्दस्य स्वं रूपं सञ्ज्ञि शब्दशास्त्रे या सञ्ज्ञा तां विना। २६ येन विधिस्तदन्तस्य १।१।७२। विशेषणं तदन्तस्य सञ्ज्ञा स्यात् स्वस्य च रूपस्य। २ समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः*। ३उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्*। २७ विरामोऽवसानम् १।४।११०। वर्णानामभावोऽवसानसञ्ज्ञः स्यात्। २८ परः सन्निकर्षः संहिता १।४।१०९। वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासञ्ज्ञः स्यात्। २९ सुप्तिङन्तं पदम् १।४.१४। सुबन्तं तिङन्तं च पदसञ्ज्ञं स्यात्।

न्मात्रार्थस्योदाहरणं तु 'अग्नेढक्' इति। अत्र अग्निशब्देन अग्निशब्दार्थस्य तत्पर्यायस्य=वह्निशब्दस्य वा ग्रहणं न भवति। शब्दशास्त्रे या संज्ञा तां विनेत्यर्थस्योदाहरणं तु वृद्धिगुणादिसंज्ञेति। अत्र वृद्धिगुणादिशब्दस्वरूपस्य ग्रहणं न भवति। किं च 'उपसर्गे घोः किः' इत्यत्र 'घु' इत्यनेन घुधातोर्ग्रहणं न भवतीति दिक्।

येन विधिस्तदन्तस्य (ई. ७४)—'येन' इति करणे तृतीया, करणस्य व्यापारवत्त्वनियमात्, अन्येषां च व्यापाराभावात्, विशेषणमेवात्र करणतृतीयान्तेन उच्यते। तस्य च इतरव्यावृत्तिकरणमेव व्यापारः, तच्च शब्दोपस्थितिविशेषस्य तादृशं विशेषणमेव तदन्तग्राहकम्। क्वचित् सति गमके अतादृशं शब्दरूपं विशेष्यमादाय अपि तदन्तविधिः। अत एव 'इन्हन्–' इत्यत्र तदन्तविधिः।

विरामोऽवसानम् (ई. ६१)—विरम्यतेऽस्मिन्निति विरामः। यस्मिन् वर्णे उच्चारिते सति अव्यवहितोत्तरकाले वर्णान्तराणामुच्चारणाभाव सः अन्त्यवर्णः अवसानसंज्ञकः इत्यर्थः।

परः सन्निकर्षः संहिता (ई. ६५, ७०)—परः=अतिशयितः, सन्निकर्षः=अर्धमात्राधिककालव्यवधानाभावरूपसामीप्यम्। तदाह मूले—वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यादिति। उदाहरणं तु 'सुध्युपास्यः' इत्यादि बोध्यम्।

सुप्तिङन्तं पदम् (ई. ६६,७०)—'सुप्' इति 'स्वौजसमौट–' इति सूत्रे 'सु' इत्यारभ्य सुपः पकारेण प्रत्याहारः। सुप् च तिङ् च इति सुप्तिङौ तौ अन्ते यस्य तत् सुप्तिङन्तम्। अन्तशब्दश्च प्रत्येकं सम्बध्यते, तदाह मूले— सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यादिति। उदाहरणं तु 'रामः' इत्यादि बोध्यम्। तत्र हि 'राम स्' इति स्थिते प्रकृतसूत्रेण पदत्वात् 'ससजुषो रुः' इत्यनेन रुत्वे विसर्गः सिद्ध्यति।

सुप्तिङन्तं पदमिति सूत्रेऽन्तग्रहणं किमर्थम्—अयम्भावः, प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः, इति परिभाषया सुप्तिङोः प्रत्ययत्वेन तदन्तग्रहणे सिद्धे अन्तग्रहणं

३० हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७। अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसञ्ज्ञाः स्युः। ३१ ह्रस्वं लघु १।४।१०। ३२ संयोगे गुरु १।४।११। संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसञ्ज्ञं स्यात्। ३३ दीर्घं च १।४।१२॥ दीर्घं च गुरुसञ्ज्ञं स्यात्।

इति सञ्ज्ञाप्रकरणम्।

अथ परिभाषाप्रकरणम्

३४ इको गुणवृद्धी १।१।३। गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्र 'इकः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते। ३५ अचश्च १।२।२८। ह्रस्वदीर्घप्लुतशब्दैर्यत्राज्विधीयते तत्र 'अचः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते ३६ आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६। टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः। ३७ मिदचोऽन्त्यात् परः। १।१।४७। 'अचः' इति निर्धारणे षष्ठी। अचां

व्यर्थं सत् ज्ञापयति—'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' इति। तेन घसंज्ञा तरप्तमपयोरेव न तदन्तस्य। अतः 'गौरी ब्राह्मणितरा' इत्यत्र न ह्रस्वः।

दीर्घं च (ई. ६४)—अत्र सूत्रे 'संयोगे' इति नानुवर्तते। दीर्घमपि गुरुसंज्ञकमित्यर्थः। छन्दःशास्त्रे एवास्य विशिष्टोपयोगः।

इति संज्ञाप्रकरणम्।

—:०:—

इको गुणवृद्धी (ई. ६६)—'इकः' 'इति षष्ठ्यन्तशब्दः स्वरूपपरः। उपतिष्ठति इति शेषः। वृद्धिरादैच् अदेङ्गुणः, इत्यतो वृद्धिरिति गुण इति चानुवर्तते। इतिशब्दोऽध्याहार्यः। यत्र विधीयते तत्रेत्यप्यध्याहार्यम्। ततश्च—'गुणो वृद्धिरित्युच्चार्य्य यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्र इकः इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते' इत्यर्थो भवति। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः, मिदेर्गुणः, इत्याद्युदाहरणम्।

अचश्च (ई. ५५, ६३, ६६)—'अचः' इति षष्ठ्यन्तशब्दः स्वरूपपरः। 'ऊकालोऽच्'—इत्यतः 'अच्ह्रस्वदीर्घप्लुतः' इत्यनुवर्तते। इति यत्र विधीयते इत्यध्याहार्यम्। तदाह मूले—'ह्रस्वदीर्घप्लुतशब्दैर्यत्राज्विधीयते तत्र 'अचः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते' इति। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इत्याद्युदाहरणम्।

मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात् परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात् । ३८ षष्ठी स्थानेयोगा १।१।४९। अनिर्धारितसम्बन्धविशेषा षष्ठी स्थानेयोगा बोध्या । स्थानं च प्रसङ्गः। ३९ स्थानेऽन्तरतमः १।१।५०। प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात् । 'यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः' (प. १३) ४० तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ।१।१।६६। सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम् । ४१ तस्मादित्युत्तरस्य १।१।६७।

स्थानेन्तरतमः (ई. ६३)—स्थानं प्रसङ्गः। अन्तरशब्दोऽत्र सदृशपर्यायः। अतिशयितोऽन्तरः अन्तरतमः। तदाह मूले—'प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्' इति। एकस्य स्थानिनः अनेकादेशप्रसङ्गे सति यः स्थानार्थगुणप्रमाणतः स्थानिना सदृशतमः स एव आदेशो भवतीत्यर्थः। अत्र स्थानशब्देन ताल्वादि-स्थानं विवक्षितम्। गुणशब्देन प्रयत्नः। प्रमाणशब्देन एकद्विमात्रादिपरिमाणम्। तत्र स्थानतो यथा—दध्यत्र। अर्थतो यथा—तृज्वत्क्रोष्टुः। गुणतो यथा—वाग्घरिः। प्रमाणतो यथा—'अदसोऽसेर्दादुदो मः' इति।

यत्राऽनेकविधमान्तर्यम् (ई. ६६,७१)—अस्याः परिभाषायाः किं प्रयोजनमिति चेच्छृणु—चेता, स्तोता, इत्यत्र 'पुगन्तलघूपधस्य च' इत्यनेन इकारोकारयोः स्थानत आन्तर्याद् एकारौकाररूपे गुणे प्राप्ते प्रमाणत आन्तर्याच्च अकार-रूपे गुणे प्राप्ते 'यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः' इति परिभाषया स्थानत आन्तर्यस्य बलवत्वात् एकरौकारौ स्त एवेति।

आन्तर्यभेदाः के, कानि च तेषामुदाहरणानि (ई. ६६)—स्थानार्थ-गुणप्रमाणतश्चेति चत्वारः आन्तर्यभेदाः शब्दशास्त्रे प्रसिद्धाः। तत्र स्थानतो यथा—'दध्यत्र' इति। अत्र तालुस्थानस्य इकारस्य स्थाने तालुस्थानीयः यकारो जातः। अर्थतो यथा—'पद्भ्नोमास—' इति। अत्र पादशब्दस्य पदादेशः। गुणतो यथा—'वाग्घरिः' इति। अत्र संवारस्य नादस्य घोषस्य महाप्राणस्य हस्य तादृश एव घकारः। प्रमाणतो यथा—अमुम्, अमू, अमून्, इत्यादि। अत्र 'अदसोऽसे-र्दादुदो मः' इत्यनेन ह्रस्वः, दीर्घस्य च दीर्घ ऊकारः। इति।

तस्मादित्युत्तरस्य (ई. ६४)—'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इत्यादि सूत्रगतपञ्चम्यन्तस्यानुकरणं तस्मादिति। इतिशब्दानन्तरं गम्यऽर्थे इति शेषः। निर्दिष्टे इत्यनुवर्तते। तदाह मूले—'पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणा-व्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्' इति। 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इत्याद्युदाहरणम्।

पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् । ४२ अलोऽन्त्यस्य १।१।५२। षष्ठीनिर्दिष्टस्यान्त्यस्याल आदेशः स्यात् । ४३ ङिच्च १।१।५३। अयमप्यन्त्यस्यैव स्यात् । 'सर्वस्य' (सू ४५) इत्यस्यापवादः । ४४ आदेः परस्य १।१।५४। परस्य यद्विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम्; 'अलोऽन्त्यस्य' (सू. ४२) इत्यस्यापवादः । ४५ अनेकाल्शित् सर्वस्य १।१।५५। स्पष्टम् । 'अलोन्त्य' (सू. ४२) सूत्रापवादः । 'अष्टाभ्य औश्' (सू. ३७२) इत्यादौ 'आदेः परस्य' (सू. ४४) इत्येतदपि परत्वादनेन बाध्यते । ४६ स्वरितेनाधिकारः १।३।११। स्वरितत्वयुक्तं शब्दस्वरूपमधिकृतं बोध्यम् । परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः' (प ३९) ।

'अष्टाभ्य औश्' इत्यादौ आदेः 'परस्य' इति परिभाषा 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' इत्यनया कथं बाध्यते ? (ई. ३०)—'अष्टा जस्' इति स्थिते 'अष्टाभ्य औश्' इति औश् प्राप्तः । स च 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति परिभाषया अष्टन्शब्दाव्यवहितपरस्य प्राप्तः । तत्र अनेकाल्त्वात् सर्वादेशे प्राप्ते 'आदेः परस्य' इत्यनेन आदेरेव प्राप्ते, तत्र 'तुल्यबलविरोधे परं कार्यम्' इति परस्य प्राबल्येन 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' इति सर्वादेशः ।

स्वरितेनाधिकारः (ई. ५५)— स्वरितत्वप्रयुक्तं शब्दस्वरूपमधिकृतं बोध्यमित्यर्थः । यत् पदं शास्त्रकृता स्वरिताख्यस्वरविशेषविशिष्टमुच्चारितं तदुत्तरसूत्रेष्वनुवर्तनीयमिति यावत् । एतत्सूत्रप्रयोजनं तु बहुधा भाष्ये प्रपञ्चितम् ।

परनित्येति—'परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः' परादीनां मध्ये पूर्वंपूर्वापेक्षया उत्तरमुत्तरं शास्त्रं बलवत्तरमित्यर्थः । परापेक्षया नित्यान्तरङ्गापवादाः, नित्यापेक्षयापि अन्तरङ्गापवादौ, अन्तरङ्गापेक्षयापि अपवादः, इत्यवंक्रमेण पूर्वपूर्वापेक्षया उत्तरोत्तरबलवत्त्वमिति फलितोऽर्थः । परान्नित्यं यथा—'तुदति' इति । अत्र परमपि लघूपधगुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् 'तुदादिभ्यः शः' इति शः । परादन्तरङ्गं यथा—'उभये देवमनुष्याः' इति । अत्र 'प्रथमचरम–' इति परामपि विकल्पेन प्राप्तां सर्वनामसंज्ञा बाधित्वा विभक्तिनिरपेक्षत्वेन अन्तरङ्गत्वात् सर्वादीनि–' इति सर्वनामसंज्ञा भवति । परादपवादो यथा—'दध्ना' इति । अत्र 'अस्थिदधि–' इत्यनङ् परमपि अनेकालिति सर्वादेशं बाधित्वा 'ङिच्च' इत्यपवादेव अन्तादेशः । नित्यदन्तरङ्गं यथा—'ग्रामणिनि कुले' इति । अत्र नित्यमपि

'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' (प ५१) 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः" (प ५७) । निमित्तं विनाशोन्मुखं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं कार्यं न कुर्वन्तीत्यर्थः ।

इति परिभाषाप्रकरणम् ।

अथ अच्सन्धिप्रकरणम्

४७ इको यणचि ६।१।७७। इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये । 'सुधी उपास्यः' इति स्थिते । स्थानत आन्तर्यादीकारस्य यकारः । 'सुध्य् उपास्यः' इति जाते । ४८ अनचि च ८।४।४७। अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि । इति धकारस्य द्वित्वम् । ४९ स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १।१।५६।। आदेशः स्थानिवत् स्यात् न तु स्थान्यलाश्रयविधौ । अनेनेह यकारस्य स्थानिवद्भावेनाच्त्वमाश्रित्य 'अनचि च' (सू ४८) इति द्वित्वनिषेधो न शङ्क्यः, 'अनल्विधौ' इति तन्निषेधात् । ५० अचः परस्मिन् पूर्वविधौ

'इकोऽचि–' इति नुमं बाधित्वा 'ह्रस्वो नपुंसके–' इति अन्तरङ्गत्वाद्ध्रस्वः, प्रथमतः नुमि कृते तु अनजन्तत्वात् ह्रस्वो न स्यात् । अन्तरङ्गादपवादो यथा— 'दैत्यारिः' इति । परमपि सवर्णदीर्घं बाधित्वा अन्तरङ्गत्वाद् 'आद्गुणः' इति गुणे प्राप्ते अपवादत्वात् सवर्णदीर्घः । इति दिक् ।

अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः (ई. ५१)—न कृतः अकृतः व्यूहः प्रकृतिप्रत्ययविवेचनं यैः ते अकृतव्यूहाः पाणिनिशिष्या इत्यक्षरार्थः । निमित्तं विनाशोन्मुखं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं कार्यं न कुर्वन्तीत्यर्थः । 'सेदुषः' इत्याद्युदाहरणम् ।

इति परिभाषाप्रकरणम् ।

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (ई. ५७)—अच इत्येतदादेश इत्यनेनान्वेति, अच आदेश इति । परस्मिन्निति सति सप्तमी । ततश्च परनिमित्तक इति लभ्यते । तच्च आदेशविशेषणम् । विधीयत इति विधिः । पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः । तदाह— परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत् स्यात् स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये, इति । 'सुध्युपास्यः' इत्याद्युदाहरणम् । तत्र हि 'सुध्य् उपास्यः' इति जाते प्रकृतसूत्रेण यकारस्य स्थानिवद्भावेन अच्त्वमाश्रित्य अच्परत्वेन 'अनचि च' इति

१।१।५७। अल्विध्यर्थमिदम् । परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत्स्यात् स्थानिभूता-दचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये । इति यणः स्थानिवद्भावे प्राप्ते । ५१ न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु १।१।५८। पदस्य चरमावयवे द्विर्वचनादौ च कर्तव्ये परनिमित्तोऽजादेशो न स्थानिवत् । इति स्थानिवद्भावनिषेधः । ५२ झलां जश् झशि ८।४।५३। स्पष्टम् । इति घकारस्य दकारः । ५३ अदर्शनं लोपः १।१।६०। प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् । ५४ संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३। संयोगान्तं यत्पदं तदन्तस्य लोपः स्यात् । इति यलोपे प्राप्ते । ४ यणः प्रतिषेधो वाच्यः * । ५ यणो मयो द्वे वाच्ये* । 'मय इति पञ्चमी, यण इति षष्ठी' इति पक्षे यकारस्यापि द्वित्वम् । तदिह धकारयकारयोर्द्वित्वविकल्पाच्चत्वारि रूपाणि । एकधमेकयम् । द्विधं द्वियम् । द्विधमेकयम् । एकधं द्वियम् । सुद्ध्य् उपास्यः । मद्ध्वरिः । धात्त्रंशः । लाक्तृतिः । ५५ नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य ८।४।४८। पुत्रशब्दस्य न द्वे स्त आदिनीशब्दे परे आक्रोशे गम्यमाने । पुत्रादिनी त्वमसि पापे । 'आक्रोशे' किम् ? तत्त्वकथने द्विर्वचनं भवत्येव । पुत्रादिनी सर्पिणी । ६ तत्परे च* । पुत्रपुत्रादिनी त्वमसि पापे । ७ वा हतजग्धयोः* । पुत्रहती-पुत्त्रहती । पुत्रजग्धी-पुत्त्रजग्धी ।

द्वित्वस्याप्राप्तौ 'न पदान्त–' इति द्विर्वचने कर्तव्ये स्थानिवद्भावनिषेधो भवतीति । अलाश्रयविधावपि स्थानिवद्भावार्थमिदं सूत्रमिति न विस्मर्तव्यम् ।

अदर्शनं लोपः (ई. ५३)—शब्दविषयकश्रवणमिह दर्शनम्, तस्याऽभाव अदर्शनम् । 'स्थानेऽन्तरतमः' इत्यतः स्थान इत्यनुवर्तते । स्थानं प्रसङ्गः । तथा च — शास्त्रतः शब्दस्य कस्यचिच्छ्रवणप्रसङ्गे सति यदश्रवणम्, तत् लोपसंज्ञं भवतीत्यर्थः । तदाह मूले—प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यादिति । 'सुद्ध्य् उपास्यः' इति स्थिते संयोगान्तलोपं शङ्कितुं लोपसंज्ञासूत्रमिदं विवक्षितम् ।

पुत्रजग्धी (ई. ५४)—'पुत्र जग्धी' इति स्थिते 'वाहतजग्धयोः' इति वार्तिकेन विभाषया द्वित्वे 'पुत्त्रजग्धी' इति । द्वित्वाऽभावे 'पुत्रजग्धी'ति । 'अनचि च'ति द्वित्वविकल्पे सिद्धे क्तान्ते परे पुत्रशब्दस्य यदि द्वित्वं तर्हि हतजग्धयोरेव, आक्रोशे एवेति नियमार्थमिदमिति तत्त्वविदः । नियमफलं तु 'पुत्रवित्तिः' इत्यादौ द्वित्वाऽभावः ।

५६ त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ८।४।५०। त्र्यादिषु वर्णेषु संयुक्तेषु वा द्वित्वम् । इन्न्द्रः–इन्द्रः । राष्ष्ट्रम्–राष्ट्रम् । ५७ सर्वत्र शाकल्यस्य ८।४।५१। द्वित्वं न । अर्कः । ब्रह्मा । ५८ दीर्घादाचार्याणाम् ८।४।५२। द्वित्वं न । दात्रम् । पात्रम् । ५९ अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६। अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः । हर्य्यनुभवः–नह्य्यस्ति । ६० हलो यमां यमि लोपः ८।४।६४। हलः परस्य यमो लोपः स्याद्वा यमि । इति लोपपक्षे द्वित्वाभावपक्षे चैकयं रूपं तुल्यम् । लोपारम्भफलं तु 'आदित्यो देवता अस्येत्यादित्यं हविः' इत्यादौ । 'यमां यमि' इति यथासंख्यविज्ञानान्नेह–माहात्म्यम् । ६१ एचोऽयवायावः ६।१।७८। एचः क्रमादय् अव् आय् आव् एते स्युरचि । ६२ तस्य लोपः १।३।९। तस्येतो लोपः स्यात् । इति यवयोर्लोपो न, उच्चारणसामर्थ्यात् । एवञ्च इत्संज्ञापीह न भवति । हरये । विष्णवे । नायकः । पावकः । ६३ वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९। यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरव् आव् एतौ स्तः । गोर्विकारो गव्यम् । 'गोपयसोर्यत्' (सू० १५-३८) । नावा तार्यं नाव्यम् । 'नौवयोधर्म–' (सू १६४३) इत्यादिना यत् । ८ *गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम् । ९ *अध्वपरिमाणे च । गव्यूतिः । 'ऊति

सर्वत्र शाकल्यस्य (ई. ५४)—नेत्यनुवर्तते । यत्र-यत्र द्वित्वं विहितं तत्र-तत्र शाकल्यस्य ऋषेर्मते द्वित्वं न भवतीत्यर्थः । अर्कः, ब्रह्मा इत्याद्युदाहरणम् ।

'हलो यमां यमि लोपः' इति सूत्रस्य प्रयोजनं किम्? (ई. ३२)—अयम्भावः, हर्यनुभवः, न ह्यस्ति, इत्यादौ 'अचो रहाभ्यां द्वे' इत्यनेन द्वित्वे द्वियकारकं, तदभावे एकयकारक रूपं सिद्ध्यत्येवेति 'हलो यमां यमि लोपः' इत्यस्य प्रयोजनं किमिति चेन्न, अदितेरादित्यस्य वा अपत्यम् आदित्यः इत्यत्र विभाषया यलोपविधानार्थं तस्यावश्यकत्वात् । तथा—आदित्यशब्दाद् देवतार्थे 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' इति ण्यप्रत्यये भत्वात् 'यस्येति च' इत्यकारलोपे 'हलो यमां यमि लोपः' इति विभाषया यलोपे उक्तं रूपं सिद्धं भवति ।

गव्यूतिः (ई. ६५, ६०, ६१, ६३, ७३)—युधातोरधिकरणे क्तिन्प्रत्यये कृते 'ऊतियूति–' इत्यादिना निपातनाद्दीर्घे 'यूतिः' इति । 'गव्यूतिः, इत्यस्य गोप्रचारभूमिः, इत्यर्थे 'गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम्' इति वार्तिकेन वान्तादेशे 'गव्यूतिः' इति । 'गव्यूतिः' इत्यस्य क्रोशयुगम्, इत्यर्थपक्षे तु लोकेऽपि 'अध्व-

यूति–'। (सू ३२७४) इत्यादिना यूतिशब्दो निपातितः । वान्त इत्यत्र वकाराद् गोयूंताविल्यत्र छकाराद्वा पूर्वभागे 'लोपो व्योः–' (सू ८७५) इति लोपेन वकारः प्रश्लिष्यते । तेन श्रूयमाणवकारान्त आदेशः स्यात् । वकारो न लुप्यत इति यावत् । ६४ **धातोस्तन्निमित्तस्यैव** ६।१।८०। यादौ प्रत्यये परे धातोरेचश्चेद्वान्तादेशस्तर्हि तन्निमित्तस्यैव नान्यस्य । लव्यम् । अवश्यलाव्यम् । 'तन्निमित्तस्यैव' इति किम् ? ओयते । औयत । ६५ **क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे** ६।१।८१। यान्तादेशनिपातनार्थमिदम् । क्षेतुं शक्यं क्षय्यम् । जेतुं शक्यं जय्यम् 'शक्यार्थे' किम् ? क्षेतुं जेतुं योग्यं क्षेयं पापं जेयं मनः । ६६ **क्रय्यस्तदर्थे** ६।१।८२। तस्मै प्रकृत्यर्थायेदं तदर्थम् । क्रेतारः क्रीणीयुरिति बुद्धया आपणे प्रसारितं क्रय्यम् । क्रेयमन्यत् । क्रयणार्हमित्यर्थः । ६७ **लोपः शाकल्यस्य** ८।३।१९। अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्वा लोपोऽशि परे । 'पूर्वत्रासिद्धम्'

परिमाणे च' इति वार्तिकेन वान्तादेशो बोध्यः । 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यनेनात्र वान्तादेशस्तु न, यूतिशब्दस्य प्रत्ययत्वाभावात् ।

वान्त इत्यत्रेति (ई. ६६)—अयम्भावः—गव्यम्, नाव्यम् इत्यादौ पदत्वेन 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यनेन वकारस्य लोपः कथं नेति चेन्न, 'वान्त' इत्यत्र वकारप्रश्लेषेण श्रूयमाणवकारादेशविधानात् । अथ च यदि पदत्वबाधकेन भत्वेन 'गव्यम्' इत्यादौ लोपाप्रसक्तिस्तदा 'गव्यूतिः' इत्यादौ वकारलोपाऽभावार्थं 'गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानाम्' इति वार्तिके छकारात् पूर्वं वकारप्रश्लेषो बोध्यः । तथा च तत्सामर्थ्यादत्र वलोपाभाव इति ।

लव्यम् (ई. ४५, ६५, ६७)—'लूञ् छेदने' इति धातोर्यत्प्रत्यये कृते गुणे 'लो यम्' इति स्थिते 'धातोस्तन्निमित्तस्य' इत्यनेन ओकारस्य धात्ववयवत्वात् यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाच्च वान्तादेशे 'लव्यम्' इति ।

तन्निमित्तस्यैवेति किम् ?–अयमाशयः, यत्र यादिप्रत्ययनिमित्तको धातोरेच् भवति, तत्रैव वान्तादेशो भवति । 'ओयते' इत्यत्र तु वेञ्धातोः कर्मणि लटि, यकि, सम्प्रसारणे च कृते आङा सहैकादेशो जातः । ततश्च यादिप्रत्ययनिमित्तक एच नास्ति, किन्तु गुणनिमित्तक एवेत्यतोऽत्र वान्तादेशवारणाय तन्निमित्तस्यैवेति कर्तव्यम् । केचित्त्वत्र धातूपसर्गयोः कार्यं बहिरङ्गमिति वान्तादेशे कर्तव्ये गुणोऽसिद्ध एवेति 'औयत' इत्यत्र वान्तादेशवारणार्थं नियमभूतसूत्रं कर्तव्यमिति वदन्ति ।

(सू १२) इति लोपशास्त्रस्यासिद्धत्वान्न स्वरसन्धिः । हर एहि–हरयेहि । विष्ण इह–विष्णविह । श्रिया उद्यतः–श्रियायुद्यतः । गुरा उत्कः–गुरावुत्कः । 'कानि सन्ति' 'कौ स्तः' इत्यत्रास्तेरल्लोपस्य स्थानिवद्भावेन यणावादेशौ प्राप्तौ 'न पदान्त–' (सू ५१) इति सूत्रेण पदान्तविधौ तन्निषेधान्न स्तः।

६८ **एकः पूर्वपरयोः** ६।१।८४। इत्यधिकृत्य । ६९ **आद् गुणः** ६।१।८७। अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात् संहितायाम् । उपेन्द्रः । रमेशः । गङ्गोदकम् । ७० **उरण् रपरः** १।१।५१। 'ऋ इति त्रिंशतः संज्ञा' इत्युक्तम्, तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते । तत्रान्तरतम्यात् 'कृष्णर्द्धिः' इत्यत्र अर् । 'तवल्कारः' इत्यत्र अल् । 'अचो रहाभ्याम्–' (सू ५९) इति पक्षे द्वित्वम् । ७१ **झरो झरि सवर्णे** ८।४।६५। हलः परस्य झरो लोपो वा स्यात्सवर्णे झरि । द्वित्वाभावे लोपे सत्येकधम् । असति लोपे, द्वित्वलोपयोर्वा द्विधम् । सति द्वित्वे लोपे चासति त्रिधम् । कृष्णर्धिः–कृष्णर्द्धिः कृष्ण-

---

वस्तुतस्तु 'नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः' इति परिभाषया निषेधान्नात्रान्तरङ्ग-बहिरङ्गभाव इति तत्त्वविदः ।

हर एहि (ई. ६६)—'हरे एहि' इति स्थिते 'एचोऽयवायावः' इत्यायादेशे 'लोपः शाकल्यस्य' इति यलोपे 'हर एहि' इति भूते 'आद्गुणः' इति गुणे प्राप्ते 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन यलोपस्याऽसिद्धत्वाद् गुणाभावे 'हर एहि' इति । यलोपाभावपक्षे 'हरयेहि' इति भवति ।

कृष्णर्द्धिः (ई. ५५)—ऋधुधातोः क्तिनि 'झषस्तथोः–' इति धत्वे 'ऋद्धिः' इति । 'कृष्ण ऋद्धिः' इति स्थिते 'ऋकारस्य गुणवृद्धी अरारावेव' इति भाष्योक्त्या 'आद्गुणः' इत्यनेन अकार-ऋकारयोः स्थाने गुणे अकारे तस्य 'उरण् रपरः' इत्यनेन रपरत्वे 'कृष्णर्द्धिः' इति ।

अत्र धात्वन्तस्य धकारस्य 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति द्वित्वाऽभावे सति 'झरो झरि सवर्णे' इति लोपे च सति एकधकारकं 'कृष्णर्धिः' इति । तस्यैव (धात्वन्तस्य ऋद्धेर्धकारस्यैव) दित्वाभावे लोपे च असति द्विधकारकम्, अथवा तस्यैव द्वित्वे लोपे च सति द्विधकारकमेव 'कृष्णर्द्धिः' इति । तस्यैव द्वित्वे सति लोपे च असति त्रिधकारकं 'कृष्णर्द्द्धिः' इति । तदुक्तं मूले–'द्वित्वाभावे लोपे सत्येकधम्' इत्यादि ।

र्द्धिः 'यण इति पञ्चमी मय इति षष्ठी' इति पक्षे ककारस्य द्वित्वम्। लस्य तु 'अनचि च' (सू ४८) इति। तेन 'तवल्कार' इत्यत्र रूपचतुष्टयम्।

द्वित्वं लस्यैव कस्यैव नोभयोरुभयोरपि।
तवल्कारादिषु बुधैर्बोध्यं रूपचतुष्टयम्॥

७२ **वृद्धिरेचि** ६।१।८८। आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। गुणापवादः। कृष्णैकत्वम्। गङ्गौघः। देवैश्वर्यम्। कृष्णौत्कण्ठ्यम्। ७३ **एत्येधत्यूठ्सु** ६।१।८९। अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। पररूपगुणापवादः। उपैति। उपैधते। प्रष्ठौहः। एजाद्योः किम्? उपेतः। मा भवान् प्रेदिधत्। **पुरस्तादपवाद** (प ५९) न्यायेनेयं वृद्धिः 'एङि पररूपम्'। (सू ७८) इत्यस्यैव बाधिका, न तु 'ओमाङोश्च' (सू ८०) इत्यस्य। तेन 'अवैहि' इति वृद्धिरसाधुरेव। १० **अक्षादूहिन्यामुपसंख्या-**

तवल्कारः (ई ५२, ५६, ६७, ७१)–'तव लृकारः' इति स्थिते 'आद्गुणः' इत्यनेन अकार लृकारयोः स्थाने गुणे अकारे तस्य 'उरण् रपरः' इत्यनेन लपरत्वे 'तवल्कारः' इति। अत्र 'यणो मयो द्वे वाच्ये' इत्यस्य 'यणः परस्य मयो द्वित्वम्' इति व्याख्याने ककारस्य दित्वं लकारस्य तु 'अनचि चे'ति द्वित्वं तेन रूपचतुष्टयं बोध्यम्। तथा हि–लकारस्य द्वित्वे ककारस्य द्वित्वाऽभावे च सति द्विलकारकमेकककारकं च प्रथमं रूपम्। ककारस्य द्वित्वे लकारस्य द्वित्वाऽभावे द्विककारकमेकलकारकं च द्वितीयं रूपम्। लकार-ककारयोरुभयोरपि द्वित्वाऽभावे एकलकारकमेकककारकं च तृतीयं रूपम्। लकार-ककारयोरुभयोरपि द्वित्वे द्विलकारकं द्विककारकं च चतुर्थं रूपम् इति। तदुक्तं मूले— 'द्वित्वं लस्यैव कस्यैवे'त्यादि।

अवेहि—(ई. ६९)—आ + इहि = एहि। 'अव एहि' इति स्थिते 'ओमाङोश्च' इति पररूपे 'अवेहि' इति। 'जानीहि इत्यर्थः। ननु येन नाप्राप्तिन्यायेन 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धिर्हि यथा 'एङि पररूपम्' इत्यस्यापवादस्तथा 'ओमाङोश्च' इत्यस्यापि कथन्नेति चेन्न, 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इति न्यायेनेयं वृद्धिः 'एङि पररूपमि'त्यस्यैव बाधिका न तु 'ओमाङोश्चे'त्यस्येति।

अयम्भावः—'एत्येधत्यूठ्सु' इत्युत्तरं कानिचित् सूत्राणि पठित्वा 'एङि पररूपम्' इति पठित्वा पुनः कतिपयानि सूत्राणि पठित्वा 'ओमाङोश्चे'ति

नम्* । अक्षौहिणी सेना । ११ स्वादीरेरिणोः* । स्वैरः स्वेनेरितुं शील-मस्येति स्वैरी । स्वैरिणी । १२ प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु* । प्रौहः । प्रौढः । 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्' (प १५) । 'व्रश्च–' (सू २९४) इति सूत्रे राजेः पृथग्भ्राजिग्रहणाज्ज्ञापकात् । तेन ऊढग्रहणेन क्तान्तमेव गृह्यते, न तु क्तवत्वन्तस्यैकदेशः प्रोढवान् । प्रौढिः । 'इष्' इच्छायां तुदादिः । 'इष्' गतौ दिवादिः 'इष्' आभीक्ष्ण्ये क्र्यादिः । एषां घञि ण्यति च 'एषः' 'एष्यः' इति रूपे । तत्र पररूपे प्राप्ते अनेन वृद्धिः । प्रैषः । प्रैष्यः । यस्तु 'ईष् उञ्छे' यश्च 'ईष् गतिहिंसादर्शनेषु' तयोर्दीर्घोपधत्वात् ईषः, ईष्यः । तत्राद्-गुणेन प्रेषः । प्रेष्यः । ऋते च तृतीयासमासे* । सुखेन ऋतः सुखार्तः । 'तृतीया' इति किम् ? परमर्तः । १४ प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशाना-मृणे* । प्रार्णम् । वत्सतरार्णमित्यादि । ऋणस्यापनयनाय यदन्यदृणं क्रियते तद् ऋणार्णम् । दशार्णो देशः । नदी च दशार्णा । ऋणशब्दो दुर्गभूमौ जले च । ७४ उपसर्गादृति धातौ ६।१।९१। अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । प्रार्च्छति । उपार्च्छति । ७५ अन्तादिवच्च

पठितम् । ततश्च उक्तन्यायेन एत्येधतीति वृद्धया 'एङि पररूपम्' इत्येव बाध्यते नतु 'ओमाङोश्चे'ति । तेन 'अवैहि इति वृद्धिरसाधुरेव ।

प्रोढवान् (ई. ६३, ६६, ६८, ७२)—'प्र ऊढवान् इति स्थिते 'आद्गुणः, इत्यनेन गुणे 'प्रोढवान्' इति ।

ननु 'प्रोढवान्' इत्यत्र 'प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु' इति वार्तिकेन वृद्धिः कथन्नेति चेन्न, 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्' इति परिभाषया निषेधात् । परिभाषायां मानन्तु 'व्रश्च—' इति सूत्रे राजेः पृथग्भ्राजिग्रहणम् । यदि सार्थकानर्थकयो-र्द्वयोरपि शास्त्रे ग्रहणम्भवति, तदा भ्राजघटकस्यापि राजपदस्य राजग्रहणेन ग्रहणं स्यादेवेति भ्राजशब्दोच्चारणं व्यर्थमेवेति ।

प्रार्च्छति (ई. ५४, ५३, ५८, ६६, ७१)—'प्र ऋच्छति' इति स्थिते गुणं बाधित्वा 'उपसर्गादृति धातौ' इति वृद्धौ 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे 'प्रार्च्छति इति । नन्वत्र 'आर्' इत्येकादेशस्य 'अन्तादिवच्च' इति पूर्वान्तवत्वेन रेफस्य पदा-न्तत्वात् 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गः कुतो नेति चेन्न, 'उभयथर्क्षु' 'कर्तरि चर्षि' इत्यादिषु रेफस्य विसर्गाकरणपूर्वकं रेफविशिष्टनिर्देशेन 'अन्तवद्भावेन पदान्तरेफस्य न विसर्गः' इति ज्ञापनेनादोषात् ।

६।१।८५। योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत्परस्यादिवत्स्यात् । इति रेफस्य पदान्तत्वे । ७६ खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५। खरि अवसाने च परे रेफस्य विसर्जनीयः स्यात् । पदान्ते इति विसर्गे प्राप्ते । अन्तवद्भावेन पदान्तरेफस्य न विसर्गः, 'उभयथर्क्षु' (सू ३६२८) 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' (सू ३१६७) इत्यादिनिर्देशात् । उपसर्गेणैव धातोराक्षेपे सिद्धे 'धातौ' इति योगविभागेन पुनर्वृद्धिविधानार्थम् । तेन 'ऋत्यकः' (सू ९२) इति पाक्षिकोऽपि प्रकृतिभावोऽत्र न भवति ।

७७ वा सुप्यापिशलेः ६।१।९२। अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ सुब्धातौ परे वृद्धिर्वा स्यात् । आपिशलिग्रहणं पूजार्थम् । प्रार्षभीयति-प्रर्षभीयति । सावर्ण्यात् लृवर्णस्य ग्रहणम् । प्राल्कारीयति–प्रल्कारीयति । तपरत्वाद्दीर्घे न । उपऋकारीयति–उपर्कारीयति । ७८ एङि पररूपम् ६।१।९४। अवर्णान्तादुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात् । प्रेजते । उपोषति । इह 'वा सुपि' इत्यनुवर्त्य वाक्यभेदेन व्याख्येयम् । तेन एङादौ सुब्धातौ वा । उपेडकीयति–उपैडकीयति । प्रोघीयति–प्रौघीयति । १५ एवे चानियोगे* ।

अन्तादिवच्च (ई. ७४)—अत्र 'एकः पूर्वपरयोः' इति सूत्रमनुवर्तते । यथासंख्यपरिभाषया 'अन्तादिवत्' इत्यस्य क्रमेण अन्वयः । ततश्च—'पूर्वपरयोर्भवन् एकः आदेशः पूर्वस्य अन्तवत्, परस्य आदिवत् 'स्यात्' इत्यर्थो लभ्यते । पूर्वस्यान्तवदित्यस्योदाहरणं 'क्षीरपेण' इति । अत्र 'क्षीरप इन' इति स्थिते 'आद्गुणः' इत्येकादेशः एकारः, तत्र पूर्वान्तवत्त्वेन 'पे' इत्युत्तरपदस्य एकाच्त्वात् 'एकाजुत्तरपदे णः' इति णत्वं भवति । परस्यादिवदित्यस्योदाहरणं खट्व+आ 'खट्वा' इति । अत्र सवर्णदीर्घे कृते आकारस्य परादित्वेन टाप्त्वात् ततः परस्य सोर्हल्ङ्यादिलोपो भवतीति ।

प्रार्षभीयति (ई. ६२, ६७, ७०) ऋषभमात्मनः इति ऋषभीयति । 'प्र ऋषभीयति' इति स्थिते गुणं प्रबाध्य 'वा सुप्यापिशलेः' इति वृद्धौ रपरत्वे 'प्रार्षभीयति' इति । वृद्धौ सत्याम् 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति द्वित्वं तु न, 'शरोऽचि' इति निषेधात् । पक्षे तु 'आद्गुणः' इति गुणे रपरत्वे 'प्रर्षभीयति' इति ।

उपेडकीयति (ई. ५३, ५८, ६८, ७२, ७४)—'एङि पररूपम्' इति सूत्रे 'वा सुपि' इत्यनुवर्त्य 'एङि पररूपम्' इति प्रथमं वाक्यम् । अवर्णान्तादुपसर्गा-

नियोगोऽवधारणम् क्वेव भोक्ष्यसे । अनवक्लृप्तावेवशब्दः । 'अनियोगे' किम् ? तवैव । ७९ अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४। अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात् । १६ शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्* । तच्च टेः । शकन्धुः । कर्कन्धुः । कुलटा । 'सीमन्तः केशवेशे' (ग१३५) । सीमान्तोऽन्यः । मनीषा । हलीषा । लाङ्गलीषा । पतञ्जलिः । 'सारङ्गः पशुपक्षिणोः' (ग १३६) । साराङ्गोऽन्यः । आकृतिगणोऽयम् । मार्तण्डः १७ ओत्वोष्ठयोः समासे वा* । स्थूलोतुः-स्थूलौतुः । बिम्बोष्ठः-बिम्बौष्ठः । समासे किम् ? तवौष्ठः ।

८० ओमाङोश्च ६।१।९५। ओमि आङि च आत्परे पररूपमेकादेशः स्यात् । शिवायों नमः । शिव एहि—शिवेहि । ८१ अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ ६।१।९८। ध्वनेरनुकरणस्य योऽच्छब्दस्तस्मादितौ परे पररूपमेकादेशः

देङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यादिति तदर्थः । उदाहरणं तु 'प्रेजते' इत्यादि । अत्र नित्यमेव पररूपं भवति । 'वा सुपि' इति तु द्वितीयं वाक्यम् । अत्र 'एङि पररूपम्' इत्यनुवर्तते' धातौ उपसर्गादित्यादि च । ततश्च—अवर्णान्तादुपसर्गादेङादौ सुब्धातौ परे पररूपमेकादेशो वा स्यादित्यर्थो भवति । तेन 'उप एडकीयति' इति स्थिते विकल्पेनानेन पररूपे 'उपेडकीयति' इति । पक्षे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'उपैडकीयति' इत्यपि भवति ।

घि-टि इत्यादि (ई. ५८)—प्रकृतिभागस्य घिसंज्ञा, प्रत्ययमात्रस्य टिसंज्ञा, प्रकृतिप्रत्यययोः वृद्धिसंज्ञा, प्रकृतिमात्रस्य सम्बुद्धिसंज्ञा, प्रत्ययमात्रस्य भसंज्ञा-अपृक्तसंज्ञा च, प्रकृतेरन्त्यालः पूर्ववर्णस्य उपधासंज्ञा, प्रत्ययमात्रस्य विभक्तिसंज्ञा सर्वनामस्थानसंज्ञा च, प्रकृतिप्रत्यययोः प्रगृह्यसंज्ञेति ।

शकन्धुः-शकानां=देशविशेषाणाम्, अन्धुः=कूपः, शकन्धुः । 'शक अन्धुः' इति स्थिते सवर्णदीर्घं प्रबाध्य 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इत्यनेन पररूपे उक्तं रूपं सिद्धम् । अत्र तत्पररूपं टिसंज्ञकस्य भवति, टिसंज्ञा च 'अचोऽन्त्यादिटि' इत्यनेन 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति वचनात् ककारोत्तरवर्तिनः अकारस्य भवतीति न विस्मर्तव्यम् ।

शिव एहि (ई. ७२, ७४)—'शिव आ इहि' स्थिते 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' इत्यन्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घस्याऽसिद्धत्वात् पूर्वम् 'आद्गुणः' इति आकारेकारयोः गुणे 'एहि' इति जाते 'शिव एहि' इति स्थिते 'अन्तादिवच्च' इत्यनेन अन्तवद्भावमादाय 'ओमाङोश्च' इति पररूपे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

स्यात् । पटत् इति-पटिति । १८ एकाचो न *। अदिति । ८२ नाम्रेडित-स्यान्त्यस्य तु वा ६।१।९९। आम्रेडितस्य प्रागुक्तं न स्यात्, अन्त्यस्य तु तकाग्मात्रस्य वा स्यात् । १९ डाचि बहुलं द्वे भवतः* । इति बहुलवचनाद् द्वित्वम् । ८३ तस्य परमाम्रेडितम् ८।१।२। द्विरुक्तस्य परं रूपमाम्रेडितसंज्ञं स्यात् पटत्पटेति । ८४ झलां जशोऽन्ते ८।२।३९। पदान्ते झलां जशः स्युः । पटत्पटदिति । ८५ अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१। अकः सवर्णेऽचि परे दीर्घ एकादेशः स्यात् दैत्यारिः । श्रीशः । विष्णूदयः । 'अचि' किम् ? कुमारी शेते । 'नाज्झलौ' (सू १३) इति सावर्ण्यनिषेधस्तु न दीर्घशकारयोः, ग्रहणकशास्त्रस्य सावर्ण्यविधिनिषेधाभ्यां प्रागनिष्पत्तेः । 'अकः' किम् ? हरये । 'अकोऽकिदीर्घः' इत्येव सुवचम् । २० ॠति सवर्णे ॠ वा*। होतृकारः-होतॄकारः । २१ ॡति सवर्णे ॡ वा *। होतॢकारः । पक्षे ॠकारः। सावर्ण्यात् । होतॄकारः । 'ॠति ॠ वा' 'ॡति ॡ वा' इत्युभयत्रापि विधेयं

पटत्पटेति (ई. ६८, ७१, ७४)—'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इति बहुलग्रहणात् द्वित्वे सति 'पटत् पटत् इति' इति स्थिते 'तस्य परमाम्रेडितम्' इति द्वितीयस्य 'पटत्' शब्दस्य आम्रेडितसंज्ञायां 'नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा' इति सूत्रेण अत्शब्दान्तस्य तकारस्य पररूपे 'पटत्पट इति' इति स्थिते 'आद्गुणः' इति गुणे 'पटत्पटेति' इति । पररूपाभावपक्षे 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन जश्त्वे 'पटत्पटदिति' इति ।

अचि किम् (ई. ६७, ७१)—'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सूत्रे अच्पदानुवृत्त्यभावे 'कुमारी शेते' इत्यत्र दीर्घेकार-शकारयोः विवृतप्रयत्नतालुस्थानतुल्यत्वेन सावर्ण्यात् सवर्णदीर्घापत्तिः स्यात् । नच 'नाज्झलौ' इति सूत्रेण तयोः सावर्ण्यनिषेध इति वाच्यम्, तत्र सूत्रे अच्पदेन दीर्घादीनां ग्रहणाभावेन दीर्घादीनां हलां च परस्परं सवर्णसंज्ञानिषेधस्य वक्तुमशक्यत्वात् । अचपदेन दीर्घादीनां ग्रहणम् 'अणुदित'—सूत्रेण कर्तव्यम्, तच्च न सम्भवति 'नाज्झलौ' इति सूत्रार्थाववोधकाले ग्रहणकशास्त्रस्य 'अणुदित्—' सूत्रस्य सावर्ण्यविधिनिषेधाभ्यां प्रागनिष्पत्त्या 'अणुदित्—'सूत्रेण ग्राहकत्वेन बोधाऽभावात् ।

पक्षे ॠकारः (ई. ६९)—'ॡवर्णस्य द्वादश तस्य दीर्घाभावात्' । तेन 'होतृ ॡकारः' इति स्थिते पक्षे सवर्णदीर्घे कृते 'होतॄकारः' इत्येवोदाहृतं भाष्ये । नन्वेवं ॡवर्णस्य दीर्घाभावे—'ॠति ॠ वा, ॡति ॡ वा' इत्युभयत्रापि विधेयं

वर्णद्वयं द्विमात्रम्, आद्यस्य तु मध्ये द्वौ रेफौ, तयोरेका मात्रा । अभितोऽज्भक्ते-रपरा । द्वितीयस्य तु मध्ये द्वौ लकारौ, शेषं प्राग्वत् । इहोभयत्रापि 'ऋत्यक' (सू ९२) इति पाक्षिकः प्रकृतिभावो वक्ष्यते । ८६ एङः पदान्तादति ६।१।१०९। पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेऽव । विष्णोऽव । ८७ सर्वत्र विभाषा गोः ६।१।१२२। लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः स्यात्पदान्ते । गो अग्रम्—गोऽग्रम् । 'एङन्तस्य' किम् ? चित्रग्वग्रम् । 'पदान्ते' किम् ? गोः । ८८ अवङ् स्फोटायनस्य ६।१।१२३। 'अति' इति निवृत्तम् । अचि परे पदान्ते गोरवङ् वा स्यात् । गवाग्रम् । 'पदान्ते' किम् ? गवि । व्यवस्थितविभाषया गवाक्षः । ८९ इन्द्रे च ६।१।१२४। गोरवङ् स्यादिन्द्रे । गवेन्द्रः ।

इति अच्सन्धिप्रकरणम्

वर्णद्वयं द्विमात्रम्' इति ग्रन्थाऽसङ्गतिरिति चेन्न, ताभ्यामपूर्वद्विमात्रिकस्य 'ऋ-लृ' विधानस्य तत्रैव प्रतिपादितत्वात् । तथा हि तत्र 'आद्यस्य=ऋकारस्य, मध्ये द्वौ रेफौ तयोरेका मात्रा ('व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्' इति स्मरणात्), अभितः= रेफद्वयस्य पुरस्तादुपरिष्टाच्च, विद्यमानयोर्ह्रस्वऋकारांशयोरेका मात्रा । एवं द्वितीयस्य=विधेयस्य लृकारस्य मध्ये द्वौ लकारौ तयोरका मात्रा । अभितः= लृकारस्य पुरस्तादुपरिष्टाच्च विद्यमानयोर्लृकारांशयोरेका मात्रा, इत्युभयत्रापि अपूर्वं द्विमात्रिकं विधाने च न ग्रन्थाऽसङ्गतिरिति दिक् ।

'अति' इति निवृत्तम्—'अवङ् स्फोटायनस्य' इति सूत्रे 'अति' इति निवृत्तम् । अत्र मानन्तु—'नित्यग्रहणं किमर्थम् ? 'इन्द्रे च' इत्यारम्भसामर्थ्यादेव नित्यत्वलाभात्, इति 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति सूत्रस्य भाष्यमेव । अन्यथा 'गवेन्द्रः' इत्यादौ अत्परत्वाऽभावाद् अवङोऽप्राप्तया तदर्थम् 'इन्द्रे च' इत्यस्यावश्यकत्वात् 'आरम्भसामर्थ्यान्नित्यत्वलाभः' इति भाष्यकारोक्तिरसङ्गता स्यात् । 'अति' इति निवृत्तौ 'अचि' इति मण्डूकप्लुत्या अनुवृत्तिस्वीकारे च पूर्वसूत्रेणैव तत्राऽवङ्सिद्धौ 'इन्द्रे च' इत्यस्य वैयर्थ्येन तत्सामर्थ्यात् 'नित्यमिति किम्' इति भाष्योक्ते सामञ्जस्यमेवेति दिक् ।

गवाग्रम् (ई. ६४)—'गो अग्रम्' इति स्थिते अवादेशं प्रबाध्य 'सर्वत्र विभाषा गोः' इति प्रकृतिभावे प्राप्ते तमपि प्रबाध्य 'अवङ्स्फोटायनस्य' इत्यनेन

अथ प्रकृतिभावप्रकरणम्

९० प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२५। प्लुताः प्रगृह्याश्च वक्ष्यन्ते, तेऽचि परे नित्यं प्रकृत्या स्युः। एहि कृष्ण३ अत्र गौश्चरति। हरी एतौ। 'नित्यमिति किम्? 'हरी एतौ' इत्यादावयमेव प्रकृतिभावो यथा स्यात्, 'इकोऽसवर्णे' (सू ९१) इति ह्रस्वसमुच्चितो मा भूत्। ९१ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६।१।१२७। पदान्ता इकोऽसवर्णेऽचि परे प्रकृत्या स्युर्ह्रस्वश्च वा। अत्र ह्रस्वविधिसामर्थ्यादेव प्रकृतिभावे सिद्धे तदनुकर्षणार्थश्च-

---

अग्रमित्येतद्घटकाऽकारे परे पदान्ते विद्यमानस्य एङन्तगोशब्दस्य 'अनेकाल्शित्सर्वस्ये'ति परिभाषया सम्पूर्णस्थाने अवङि प्राप्ते 'ङिच्चे'त्यनेन गकारोत्तरवर्तिनः ओकारस्य अवङि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे च 'गवाग्रम्' इति। पक्षे 'सर्वत्र विभाषा गोः' इति प्रकृतिभावे 'गो अग्रम्' इति। प्रकृतिभावाऽभावपक्षे 'एङः पदान्तादति' इति पररूपे 'गोऽग्रम्' इति।

गवाक्षः (ई. ७४)—'वातायनं गवाक्षः स्यादि'त्यमरः। क्वचिद्भवतीत्यंशे एव प्रवर्तते, क्वचित्तु न भवतीत्यंशे एव, क्वचिदुभयमित्येवं लक्ष्यानुसारेण व्यवस्थया प्रवृत्ता विभाषा व्यवस्थितविभाषा 'सर्वत्र विभाषा गोः' इत्यत्र आश्रीयते। ततश्च 'गवाक्षः' इत्यत्र नित्यमेव अवङ् भवतीति बोध्यम्।

इत्यच्सन्धिप्रकरणम्।

(अच्सन्धिप्रकरणान्तर्गतमेव प्रकृतिभावप्रकरणं ज्ञेयम्)

'हरी एतौ' इत्यादावयमेवेति (ई. ६८, ७०)—अयम्भावः, 'हरी ईशौ' इत्यादौ 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति, 'चक्री अत्र' इत्यत्र तु 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' इति च सावकाशम्, ततश्च 'हरी एतौ' इत्यादौ परत्वात् 'इकोऽसवर्णे—' इति ह्रस्वसमुच्चित एव प्रकृतिभावो भवेत्। नित्यग्रहणे तु तत्सामर्थ्येन प्लुतस्य प्रगृह्यसंज्ञकस्य च अचि परेऽयमेव प्रकृतिभावो नान्य इति बोध्यते। तेन 'हरी एतौ' इत्यत्र द्विवचनान्तस्य 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' इति प्रगृह्यसंज्ञायामेव प्रकृतिभावो भवति, न तु 'इकोऽसवर्णे—' इति ह्रस्वसमुच्चित इति।

अत्र ह्रस्वविधिसामर्थ्यादेवेति—अयम्भावः, 'चक्री अत्र' इति स्थिते 'इकोऽसवर्णे—' इति ह्रस्वमात्रविधाने 'इको यणचि' इति यण् स्यादिति चेन्न, ह्रस्वविधानस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। एवञ्च प्रकृतिभावस्य अन्यथासिद्धत्वात्तदनु-

कारो न कर्तव्य इति भाष्ये स्थितम्। चक्रि अत्र—चक्र्यत्र। 'पदान्ताः' इति किम् गौर्यौ। २२ न समासे *। वाप्यश्वः। २३ सिति च *। पार्श्वम्। ९२ ऋत्यकः ६।१।१२८। ऋति परेऽकः प्राग्वद्वा। ब्रह्म ऋषिः-ब्रह्मर्षिः। 'पदान्ताः' इत्येव। आर्च्छंत्। समासेऽप्ययं प्रकृतिभावः। सप्त ऋषीणाम्—सप्तर्षीणाम्। ९३ वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः ८।२।८२। इत्यधिकृत्य। ९४ प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ८।२।८३। अशूद्रविषये प्रत्यभिवादे यद्वाक्यं तस्य टेः प्लुतः स्यात्; स चोदात्तः। अभिवादये देवदत्तोऽहम्। भो आयुष्मान् एधि देवदत्त ३। २२ स्त्रियां न*। अभिवादये गार्ग्यहम्। भो आयुष्मती भव गार्गि। नाम गोत्रं वा यत्र प्रत्यभिवादवाक्यान्ते प्रयुज्यते तत्रैव प्लुत इष्यते (भा० इ०)। नेह आयुष्मानेधि। २५ भोराजन्यविशां वेति वाच्यम्*। आयुष्मानेधि भोः ३। आयुष्मानेधीन्द्रवर्म३न्। आयुष्मानेधीन्द्रपालित ३। ९५ दूराद्धूते च ८।२।८४। दूरात्सम्बोधने यद्वाक्यं तस्य टेः प्लुतः स्यात्। सक्तून्पिब देवदत्त३। ९६ हैहेप्रयोगे हैहयोः ८।५।८५। एतयोः प्रयोगे दूराद्धूते यद्वाक्यं तत्र हैहयोरेव प्लुतः स्यात्। हे ३ राम। राम है ३। ९७ गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ८।२।८६। दूराद्धूते यद्वाक्यं तस्य ऋद्भिन्नस्यानन्त्यस्यापि गुरोर्वा प्लुतः स्यात्। दे३वदत्त-देवद३त्त—देवदत्त३। 'गुरोः' किम्? वकारात्परस्याकारस्य मा भूत्। 'अनृतः' किम्? कृष्ण ३। एकैकग्रहणं पर्यायार्थम्। इह 'प्राचाम्' इति योगो विभज्यते। तेन सर्वः प्लुतो विकल्प्यते। ९८ अप्लुतवदुपस्थिते ६।१।१२९। उपस्थितोऽनार्ष इति शब्दः, तस्मिन्परे प्लुतोऽप्लुतवद्भवति। अप्लुतकार्यं यणादिकं करोतीत्यर्थः सुश्लोक ३ इति, सुश्लोकेति। 'वत्' किम्? 'अप्लुतः' इत्युक्तेऽप्लुत एव विधी-

---

कर्षणार्थश्चकारो न कर्तव्यः इति भाष्याशयः।

देवद३त्त (ई. ९८, ७१)—'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्' अत्र सूत्रे 'दूराद्धूते च' इत्यनुवर्तते। 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' इत्यधिकृतम्। ततश्च—'दूरात् सम्बोधने यद्वाक्यं तत्र सम्बोध्यमानवाचकं यत् पदं तदवयवस्य ऋकारभिन्नस्य गुरोः (अन्त्यस्य तु गुरोरगुरोश्च) प्लुतः, स्यात्' इत्यर्थो भवति। तेन 'दे३वदत्त' देवद३त्त, देवदत्त३, इति रूपत्रयं सिद्धं भवति। अत्र सूत्रे एकैकग्रहणं पर्यायार्थम्। अन्यथा सर्वेषां गुरूणां युगपत् प्लुतः स्यादिति तत्त्वविदः।

सुश्लोकेति (ई. ९४, ९६, ७३,)—'सुश्लोक३-' इति प्लुतान्तो वैदिक-

येत प्लुतश्च निषिध्येत। तथा च प्रगृह्याश्रये प्रकृतिभावे प्लुतस्य श्रवणं न स्यात् अग्नी ३ इति। ९९ **ई३ चाक्रवर्मणस्य** ६।१।१३९। ई३ प्लुतोऽचि परेऽप्लुतवद्वा स्यात्। चिनुहि३ इति–चिनुहीति। चिनुहि३ इदम्–चिनुहीदम्। उभयत्र विभाषेयम्। १०० **ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** १।१।११। ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्। हरी एतौ। विष्णू इमौ। गङ्गे अमू। पचेते इमौ। 'मणी वोष्ट्रस्य' इति त्विवार्थे वशब्दो वाशब्दो वा बोद्धयः। १०१ **अदसो मात्** १।१।१२। अस्मात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः। अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते। 'मात्' किम्? अमुकेऽत्र। असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तेत। १०२ **शे** १।१।१३। अयं प्रगृह्यः स्यात्। अस्मे इन्द्राबृहस्पती। १०३ **निपात एकाजनाङ्** १।१।१४ एकोऽज्निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात्। इ विस्मये। इ इन्द्रः। उ वितर्के। उ उमेशः। 'अनाङ्' इत्युक्तेरङिदाकारः प्रगृह्य एव। आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्। ङित्तु न प्रगृह्यः ईषदुष्णम् ओष्णम्। 'वाक्यस्मरणयोरङित् अन्यत्र ङित्' इति विवेकः। १०४ **ओत्** १।१।१५।

मन्त्रः। तत्र पदकाले तस्मात् परतः 'इति' शब्दं पदकाराः पठन्ति। 'तत्र सुश्लोक३ इति' स्थिते 'अप्लुतवदुपस्थिते' इति सूत्रेण अप्लुतवद्भावेन प्रकृतिभावाऽभावे सति 'आद्गुणः' इति गुणे 'सुश्लोकेति' इति सिद्धम्। अत्र इति शब्दः पदकारप्रक्षिप्तत्वादवैदिकः इति न विस्मर्तव्यम्।

अग्नी३इति (ई. ७१, ७३, ७५,)—'अप्लुतवदुपस्थिते' इति सूत्रस्य 'वत्' ग्रहणस्य प्रत्युदाहरणमेतत्। तथा हि—'वत्' ग्रहणाऽभावे प्लुतस्य स्थाने अप्लुत एव विधीयते। अतः प्लुत एव निवर्तेत। ततश्च 'अग्नी३इति' इत्यत्र प्रकृतसूत्रेण प्लुतोऽप्लुतविधाने सति 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' इति प्रगृह्यसंज्ञायां प्लुतप्रगृह्येति प्रकृतिभावे ईकारः त्रिमात्रो न श्रूयेत। वत्करणे तु प्लुतकार्यस्य प्रकृतिभावस्यैव निवृत्तिर्गम्यते न तु प्लुतस्यापीति नोक्तदोषः इत्यवमेयम्।

हरी एतौ (ई ६५, ६८, ७०)—'हरी एतौ' इति स्थिते 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' इति प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्ये'ति प्रकृतिभावे उक्तं रूपं सिद्धम्। अत्र प्रगृह्यसंज्ञाकाले ईकारस्य परादिवत्त्वात् द्विवचनत्वं बोध्यम्।

वाक्यस्मरणयोरङित्—अयम्भावः, 'निपात एकाजनाङ्' इति सूत्रे 'अनाङ्' इति पर्युदासात् ङित्तु आकारः प्रगृह्यो न भवति, तेन 'आ (ईषत्) उष्णम्' इति स्थिते आकारस्य ङित्त्वात् प्रगृह्यत्वाऽभावे 'आद्गुणः' इति गुणे

ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात्। अहो ईशाः। ११५ सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १।१।१६। सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे। विष्णो इति–विष्ण इति विष्णविति। 'अनार्षे' इति किम्? ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्। १०६ उञः १।१।१७। उञ इतौ वा प्रागुक्तम्। उ इति–विति। १०७ ऊँ १।१।१८। उञ इतौ दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यश्च ऊँ इत्ययमादेशो वा स्यात्। ऊँ इति। १०८ मय उञो वो वा ८।३।३३। मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि। किमु-उक्तम्-किम्वुक्तम्। वस्यासिद्धत्वान्नानुस्वारः। १०९ ईदूतौ च सप्तम्यर्थे १।१।१९। सप्तम्यर्थे पर्यवसन्नमीदूदन्तं प्रगृह्यं स्यात्। सोमो गौरी अधिश्रितः। मामकी तनू इति। 'सुपांसुलुक्–' (सू ३५५९) इति सप्तम्या लुक्। अर्थग्रहणं किम्? वृत्तावर्थान्तिरोपसंक्रान्ते मा भूत्। वाप्या-

---

'ओष्णम्' इति सिद्धं भवति। नच प्रयोगदशायां ङकारस्याऽश्रवणाविशेषात् ङिदङिद्विवेकः कथमिति वाच्यम्, 'वाक्यस्मरणयोरङित्' इति भाष्योक्तत्वात्। तथा च भाष्यम्—'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः। एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित्॥ इति।

ऊं इति-उ इति-विति (ई. ६४, ६६, ७०)—'उ इति' इति स्थिते 'ऊँ' इति सूत्रेण दीर्घानुनासिकप्रगृह्यत्वविशिष्ट 'ऊँ' इत्यादेशे प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावे च विहिते 'ऊँ इति' इति। विकल्पपक्षे 'ऊञः' इति सूत्रेण प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावे 'उ इति'। प्रगृह्यत्वस्याप्यभावे सति यणादेशे 'विति इति। ननु एकसूत्रत्वेनैवोक्तप्रयोगसिद्धे किमर्थं योगविभागः इति चेन्न, एकसूत्रत्वे सति-उञः इतौ परे ऊँ इत्ययं दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यश्चादेशः शाकल्यस्य मते स्यात्। ततश्च तदभावपक्षे 'निपात एकाजि'ति नित्ये प्रगृह्यत्वे सति 'विति' इति तृतीयरूपस्यासिद्धेः।

किम्वुक्तम् (ई. ६४, ७१, ७४)–'किमु उक्तम्' इति स्थिते 'निपात एकाजनाङ्' इति सूत्रं प्रबाध्य 'मय उञो वो वा' इति वादेशे किम्वुक्तम्' इति। वादेशे सति 'मोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारस्तु न वत्वस्यासिद्धत्वात्।

अर्थग्रहणं किमिति (ई. ६३, ७२, ७४, ७५)—अयम्भावः, 'ईदूदन्तं यत्सप्तम्यन्तं तत् प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्' इत्यर्थेनैव इष्टसिद्धेः 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' इति सूत्रे अर्थग्रहणं किमर्थमिति चेन्न, तदेव व्यर्थीभूय ज्ञापयति–'सप्त-

मश्वो वाप्यश्वः । ११० अणोऽप्रगृह्यस्याऽनुनासिकः ८।४।५७। अप्रगृह्यस्याणोऽवसानेऽनुनासिको वा स्यात् । दधिँ–दधि । 'अप्रगृह्यस्य' किम् ? अग्नी ।

इति प्रकृतिभावप्रकरणम् ।

अथ हल्सन्धिप्रकरणम्

१११ स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०। सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः । हरिश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जय । ११२ शात् ८।४।४४। शात्परस्य तवर्गस्य श्चुत्वं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः ।

म्यर्थविशेष्यताकोपस्थितिजनकस्यैव इकारान्तस्य ऊकारान्तस्य वा प्रगृह्यसंज्ञेति । तेन वाप्यामश्वः इत्यत्र समासघटकवापीशब्दस्य प्रत्ययलक्षणेन सप्तम्यन्तत्वेऽपि समासे शक्तिस्वीकारेण सप्तम्यर्थविशेष्यताकोपस्थितिजनकत्वाऽभावेन न प्रगृह्यसंज्ञेति ।

फक्किकाप्रकारस्त्वित्थम्—ननु 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' इति सूत्रेऽर्थग्रहणाऽभावेऽपि ईदूदंशे सप्तमीविशेषणत्वेन, प्रत्ययांशेन तदादिविशेषणत्वेन तदन्तविधिद्वयेन ईदूदन्तं यत् सप्तम्यन्तं तत् प्रगृह्यसंज्ञकं स्यादित्यर्थेनैवेष्टसिद्धेरर्थग्रहणं व्यर्थमेव । न च 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' इति परिभाषया तदन्तविधिनिषेधेन उक्तार्थाऽसम्भव इति वाच्यम्, 'ईदूतौ सप्तमी प्रगृह्यम्, अदसः एच्च द्विवचनम्' इत्येव सूत्रयितव्ये गुरुभूतन्यासकरणसामर्थ्यात् । ययी, पपी, इत्यादौ परादिवद्भावेन सप्तमीत्वमादाय सूत्रसाफल्येऽपि ऊकारांशेऽसम्भवाच्चेति चेन्न, अर्थग्रहणेन सप्तम्यर्थविशेष्यताकोपस्थितिजनकस्यैव ईकारान्तस्य ऊकारान्तस्य वा तत्संज्ञाबोधनात् । एवञ्च 'गौरी अधिश्रितः' 'तनू इति' इत्यत्र ईकारान्ते ऊकारान्ते च सप्तम्यर्थविशेष्यताकोपस्थितिजनकत्वस्य (सप्तम्यर्थनिरूपितशक्तिपर्याप्त्यधिकरणत्वस्य) सत्वेन प्रगृह्यसंज्ञासिद्धिः । 'वाप्यश्वः' इत्यत्र तु समासघटकवापीशब्दस्य प्रत्ययलक्षणेन सप्तम्यन्तत्वेऽपि समासे समुदाये शक्तिस्वीकारेण सप्तम्यर्थविशेष्यताकोपस्थितिजनकत्वाऽभावेन न प्रगृह्यसंज्ञेति । 'वाप्यश्वः' इत्यत्र 'वापीनिष्ठाऽधिकरणतानिरूपिताऽधेयतावानश्वः' इति शाब्दबोधः ।

इति प्रकृतिभावप्रकरणम् ।

११३ ष्टुना ष्टुः ८।४।४१। स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात्। रामष्षष्ठः। रामष्टीकते। पेष्टा। तट्टीका। चक्रिण्ढौकसे। ११४ न पदान्ताट्टोरनाम् ८।४।४२। 'अनाम्' इति लुप्तषष्ठीकं पदम्। पदान्ताट्टवर्गात्परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट् सन्तः। षट् ते। 'पदान्तात्' किम्? ईट्टे। 'टोः' किम्? सर्पिष्टमम्। २६ अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्*। षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः। ११५ तोः षि ८।४।४३। तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम्। सन्षष्ठः। 'झलां जशोऽन्ते' (सू ८४)। वागीशः। चिद्रूपम्। ११६ यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५। यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्। एतन्मुरारिः—एतद्मुरारिः। स्थानप्रयत्नाभ्यामन्तरतमे स्पर्शे चरितार्थो विधिरयं रेफे न प्रवर्तते। चतुर्मुखः। २७ प्रत्यये भाषायां नित्यम्*। तन्मात्रम्। चिन्मयम्। कथं तर्हि, 'मदोदग्राः' ककुद्मन्तः इति? यवादि (ग २६०) गणे दकारनिपातनात्।

टोः किं सर्पिष्टमम्—ननु 'तोः षि' इति निर्देशात् 'क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते' इति परिभाषया 'ष्टुना ष्टुः' इति सूत्रात् 'टु' मात्रस्यानुवृत्तौ पदान्ताट्टवर्गात् परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न स्यादित्यर्थलाभे 'न पदान्ताट्टोरनाम्' इति सूत्र टोर्ग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न, तदेव व्यर्थं सदुक्तपरिभाषाया अनित्यत्वं ज्ञापयति। तथा च टोर्ग्रहणाभावे 'सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः' इति परिभाषया 'ष्टुः' इति समुदायस्यानुवृत्तौ पदान्ताभ्यां षकारटवर्गाभ्यां परस्येत्याद्यर्थे 'सर्पिष्टमम्' इत्यत्रापि ष्टुत्वनिषेधः स्यादिति तद्वारणाय सूत्रे टोर्ग्रहणस्यावश्यकत्वात्।

न च 'सर्पिष् तमम्' इति स्थिते 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति, अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य वा षकारस्य पदान्तत्वात् जश्त्वे षकारानुवृत्तावपि पदान्ते टवर्गस्यैव लाभः इति वाच्यम्, जश्त्वे कर्तव्ये 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' इति सूत्रविहितषत्वस्यासिद्धत्वात् जश्त्वाभावात् पदान्ते न टवर्गः किन्तु षकार एवेति तत्र दोषस्य जागरूकत्वात्।

चतुर्मुखः (ई. ६२, ६३, ७१, ७२)—अयम्भावः 'चतुर्मुखः इत्यत्र रेफणकारयोः मूर्धस्थानान्तर्यात् 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इत्यनेन रेफस्य अनुनासिको णकारः कुतो नेति चेन्न, 'एतन्मुरारिः' इत्यादौ स्थानतः प्रयत्नतश्चान्तरतमे स्पर्शे चरितार्थे लब्धप्रयोजनोऽयमनुनासिकविधिः स्थानमात्रेण

११७ तोर्लि ८।४।६०। तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः स्यात् । तल्लयः । विद्वाँल्लिखति । नकारस्यानुनासिको लकारः । ११८ उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ८।१।६१। उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात् । 'आदेः परस्य' (सू ४४)। उत्थानम् । उत्तम्भनम् । अत्राघोषस्य महाप्राणस्य सस्य तादृश एव थकारः । तस्य 'झरो झरि–' (सू ७१) इति पाक्षिको लोपः । लोपाभावपक्षे तु थकारस्यैव श्रवणम् । ननु 'खरि च' (सू १२१) इति चर्त्वम्, चर्त्वं प्रति थकारस्यासिद्धत्वात् । ११९ झयो होऽन्यतरस्याम् ८।४।६२। झयः परस्य हस्य पूर्वसवर्णो वा स्यात् । घोषवतो नादवतो महा-

---

आन्तर्यमादाय रेफे न प्रवृत्तिमर्हति, 'यूनि लब्धे तु युवतिर्जरठे रमते कथम्' इति न्यायात् । फक्किकाप्रकारस्त्वित्थम्—

ननु 'चतुर्मुखः' इत्यत्र रेफणकारयोः मूर्धस्थानान्तर्यात् 'यरोऽनुनासिके-'इति सूत्रेण रेफस्यानुनासिको णकारः कुतो नेति चेदुच्यते-'स्थानेऽन्तरतम उरण् रपरः इति संहितापाठे प्रथमान्तपाठस्वीकारे स्थानिनः स्थाने अन्तरतम एव आदेशो भवतीति यथा नियमः, तथा भाष्यकृता 'स्थानेऽन्तरतमे' इति सप्तम्यन्त पाठं स्वीकृत्य आदेशोऽन्तरतमे स्थानिनि भवतीत्यर्थं व्याख्याय आदेशोऽपि अन्तर-तमस्यैव स्थानिनः स्थाने भवतीति नियमः स्वीकृतः । एवं च स्थानप्रयत्नाभ्याम् अन्तरतमे स्पर्शे चरितार्थे लब्धप्रयोजनोऽयमनुनासिकविधिः केवलं स्थानेन सदृशे रेफे न प्रवर्तते । नन्वेवं तर्हि क्वचित् प्रथमान्तपाठस्य क्वचिच्च सप्तम्यन्तपाठस्य स्वीकारे अर्धजरत्यापत्तेः दीर्घेकारादौ यणनापत्तेश्चेति चेन्न, 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति सूत्रात् सवर्णपदमाकृष्य प्रकृतसूत्रे संयोज्य पदान्तस्य यरोऽनुना-सिके परे सवर्णानुनासिकः स्यादिति 'सूत्रार्थे रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ती'ति भाष्येण रेफस्य सावर्ण्याभावात् णत्वाऽभाव इति समाधानात् ।

उत्थानम् (ई. ६८, ७०, ७३, ७५)—'उद् स्थानम्' इति स्थिते 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इति विहितः पूर्वसवर्णः यद्यपि 'अलोऽन्त्यस्ये'ति नियमादन्त्य-स्याकारस्य प्राप्नोति, तथापि 'आदेः परस्य' इति सूत्रेण सकारस्य विधीयते । सकारस्य च अघोषमहाप्राणत्वात्तत्स्थाने तादृश एव थकारे जाते तस्य 'झरो झरि सवर्णे' इति पाक्षिके लोपे दकारस्य 'खरि च' इति चर्त्वं 'उत्थानम्' इति । लोपाभावपक्षे तु 'खरि चे'ति चर्त्वं प्रति थकारस्याऽसिद्धत्वात् एकतकारकं द्विथकारकं च रूपमिति तत्त्वविदः ।

प्राणस्य संवृतकण्ठस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थ एवादेशः । वाग्घरिः वाग्हरिः । १२० शश्छोऽटि ८।४।६३। पदान्ताज्झयः परस्य शस्य छो वा स्यादटि। दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते । १२१ खरि च ८।४।५५। खरि परे झलां चरः स्युः । इति जकारस्य चकारः । तच्छिवः-तच्शिवः । २८ छत्वममीति वाच्यम्* । तच्छ्लोकेन-तच्श्लोकेन । अमि किम् ? वाक्श्च्योतति । १२२ मोऽनुस्वारः ८।३।२३। मान्तस्य पदस्यानुस्वारः स्याद्धलि । 'अलोऽन्त्यस्य' (सू ४२) । हरिं वन्दे । 'पदस्य' इति किम् ? गम्यते । १२३ नश्चापदान्तस्य झलि ८।३।२४। नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः । यशांसि । आक्रंस्यते । 'झलि' किम् ? मन्यते । १२४ अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५८। स्पष्टम् । अङ्कितः अञ्चितः । कुण्ठितः । शान्तः । गुम्फितः । 'कुर्वन्ति' इत्यत्र णत्वे प्राप्ते तस्यासिद्धत्वादनुस्वारे परसवर्णे च कृते तस्यासिद्धत्वान्न णत्वम् । १२५ वा पदान्तस्य ८।४।५९। पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यात् । त्वङ्करोषि-त्वं करोषि । सय्ँयन्ता-संयन्ता । सव्ँवत्सरः-संवत्सरः । यल्ँलोकम्-यंलोकम् । अत्रानुस्वारस्य पक्षेऽनुनासिका यवलाः । १२६ मो राजि समः क्वौ ८।३।२५। क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात् । सम्राट् । १२७ हे मपरे वा ८।३।२६। मपरे हकारे परे मस्य म एव स्याद्वा । 'ह्मल्,

---

वाग्घरिः (ई. ६४, ६८, ७०, ७२)—'वाग् हरिः' इति स्थिते 'झयो होऽन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण पूर्वसवर्णविधौ गकारस्य पूर्वनिमित्तत्वात् तत्सवर्णेषु क-ख-ग-घ-ङ-ङेषु पञ्चस्वपि प्राप्तेषु घोषवतो नादवतो महाप्राणस्य संवृतकण्ठस्य हकारस्य तादृशे घकारे जाते 'वाग्घरिः' इति । पूर्वसवर्णाभावे तु 'वाग्हरिः' इति ।

तच्छिवः (ई. ७३, ७५)—'तद् शिवः' इति स्थिते दस्य चुत्वेन जकारे कृते 'खरि च' इत्यनेन स्थानत आन्तर्यात् जकारस्य चकारे 'शश्छोऽटि' इति विभाषया छत्वे 'तच्छिवः' इति । पक्षे 'तच् शिवः' इति ।

कुर्वन्ति (ई. ७१)—कृञो लटि प्रथमपुरुषबहुवचने रूपम् । अत्र 'रषाभ्याम्—' इति णत्वे प्राप्ते तस्याऽसिद्धत्वात् 'नश्चापदान्तस्य—' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि—' इति परसवर्णः । परसवर्णे कृते सत्यपि पुनः णत्वं कुतो नेति न शंकनीयम्, 'रषाभ्याम्—' इत्यपेक्षया परसवर्णस्य परतया णत्वे कर्तव्ये अनुस्वारस्थानिकपरसवर्णस्य नकारस्यासिद्धत्वात् ।

ह्मल्, चलने'। किम् ह्मलयति–किं ह्मलयति। २६ यवलपरे यवला वेति वक्तव्यम्*। १२८ यथासंख्यमनुदेशः समानाम् १।३।१०। समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात्। किय्ँ ह्यः-किं ह्यः। किवँ ह्वलयति–किं ह्वलयति। किलँ ह्लादयति–किं ह्लादयति।

१२९ नपरे नः ८।३।२७। नपरे हकारे परे मस्य नः स्याद्वा। किन् ह्नुते–किं ह्नुते। १३० ङ्णोः कुक्टुक्शरि ८।३।२८। ङकारणकारयोः कुक्टुकावागमौ वा स्तः शरि। कुक्टुकोरसिद्धत्वाज्जश्त्वं न। ३० चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्*। प्राङ्ख्षष्ठः–प्राङ्क्षष्ठः–प्राङ् षष्ठः। सुगण्ठ्षष्ठः–सुगण्ट्षष्ठः–सुगण्षष्ठः। १३१ डः सि धुट् ८।३।२९। डात्परस्य सस्य धुड् वा स्यात्। षट्त्सन्तः–षट् सन्तः। १३२ नश्च ८।३।३०। नकारान्तात्परस्य सस्य धुड् वा स्यात्। सन्त्सः–सन्सः। १३३ शि तुक् ८।३।३१। पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्वा स्यात्। 'शश्छोऽटि' (सू १२०) इति छत्वविकल्पः। पक्षे 'झरो झरि–' (सू ७१) इति चलोपः। सञ्छम्भुः-सञ्च्छम्भुः-सञ्च्शम्भुः-सञ्शम्भुः।

> ञ्छौ ञ्चछा ञ्चशा ञशाविति चतुष्टयम्।
> रूपाणामिह तुक्छत्वचलोपानां विकल्पनात्॥

१३४ ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ८।३।३२। ह्रस्वात्परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात्परस्याचो नित्यं ङमुडागमः स्यात्। प्रत्यङ्ङात्मा। सुगण्णीशः सन्नच्युतः। १३५ समः सुटि ८।३।५। समो रुः स्यात्सुटि। 'अलोऽन्त्यस्य' (सू ४२)। १३६ अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ८।३।२। अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा स्यात्। १३७ अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ८।३।४। अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः स्यात् 'खरवसान-

---

सञ्छम्भुः (ई. ६८, ७१, ७३, ७५)—'सन् शम्भुः' इति स्थिते 'शि तुक्' इति नकारस्यान्तावयवे तुकि अनुबन्धलोपे 'शश्छोऽटि' इति शस्य छत्वे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति तकारस्य चुत्वे पुनः 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति नकारस्य चुत्वेन ञकारे 'झरो झरि सवर्णे' इति चलोपे 'सञ्छम्भुः' इति। चलोपाऽभावे सञ्च्छम्भु' इति। चलोपछत्वयोरुभयोरभावे 'सञ्च्शम्भुः' इति। छत्वतुकोरभावपक्षे 'सञ्शम्भुः' इति। तदुक्तं मूले—'ञ्छौ ञ्चछा ञ्चशा ञशाविति चतुष्टयम्' इति।

योर्विसर्जनीयः' (सू ७६)। १३८। विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४। खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात्। एतदपवादे 'वा शरि' (सू १५१) इति पाक्षिके विसर्गे प्राप्ते, ३१ **सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः***। सँस्स्कर्ता--संस्स्कर्ता। 'समो वा लोपमेके' इति भाष्यम्। लोपस्यापि रुप्रकरणस्थत्वादनुस्वारानुनासिकाभ्यामेकसकारं रूपद्वयम्। द्विसकारं तूक्तमेव। तत्र 'अनचि च' (सू ४८) इति सकारस्य द्वित्वपक्षे त्रिसकारमपि रूपद्वयम्। अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीययमानामकारोपरि शर्षु च पाठस्योपसङ्ख्यातत्वेनानुस्वारस्याप्यच्त्वात्। अनुनासिकवतां त्रयाणां ३२ **शरः खयः***। इति कद्वित्वे द्वादश। एषामष्टादशानां तकारस्य द्वित्वे वचनान्तरेण पुनर्द्वित्वे च एकतं द्वितं त्रितमिति चतुष्पञ्चाशत्। अणोऽनुनासिकत्वेऽष्टोत्तरशतम्। १३९। **पुमः खय्यम्परे** ८।३।६। अम्परे खयि पुमशब्दस्य रुः स्यात्। व्युत्पत्तिपक्षे 'अप्रत्ययस्य' (सू १५५) इति षत्वपर्युदासात् ᳲकᳲपयोः प्राप्तौ, अव्युत्पत्तिपक्षे तु षत्वप्राप्तौ 'सम्पुङ्कानाम्--' (वा ३१) इति सः। पुँस्कोकिलः--पुंस्को-

---

संस्स्कर्ता (ई. ६०, ६२, ६३, ७१, ७४)—'सम् कर्ता' इति दशायां 'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' इति सुटि अनुबन्धलोपे 'सम् स्कर्ता' इति स्थिते 'समः सुटि' इति सूत्रेण सुट्सम्बन्धिसकारे परे समो मस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'सर् स्कर्ता' इति जाते 'अत्राऽनुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इति रोः पूर्वमनुनासिके 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'वा शरि' इति विसर्गस्य विसर्गे प्राप्ते तमपि प्रबाध्य 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इति विसर्गस्य सत्वे 'सँस्स्कर्ता' इति। अनुनासिकाऽभावपक्षे 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'संस्स्कर्ता' इति।

अत्र समो वा लोपमेके इति भाष्यबलान्मलोपपक्षेऽपि अनुनासिकानुस्वाराभ्यामेकसकारकरूपद्वये पूर्वोक्तरूपद्वये च, अनचि चेति सकारस्य शरः खय इति ककारस्य अनचि चेत्यनुस्वारस्य अचो रहाभ्यां द्वे, यणो मय इति च तकारस्य द्वित्वे चतुष्पञ्चाशत्। एषु अणोऽप्रगृह्यस्ये-त्यनुनासिकविकल्पेऽष्टोत्तरशतं रूपाणीति।

पुँस्कोकिलः (ई. ७१, ७२)—'पुम् कोकिलः' इति स्थिते 'पुमः खय्यम्परे' इति सूत्रेण पुमो मकारस्य रुत्वे 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनेन विभाषया रोः पूर्वस्य अनुनासिके रेफस्य विसर्गे 'पुंः कोकिलः' इति स्थिते व्युत्पत्तिपक्षे

किलः । पुँस्पुत्रः--पुंस्पुत्रः । 'अम्परे' किम् ? पुंक्षीरम् 'खयि' किम् ? पुंदासः' ३३ ख्याञादेशे न* । पुंख्यानम् । १४० । नश्छव्यप्रशान् ८।३।७। अम्परे छवि नकारान्तस्य पदस्य रुः स्यात्, न तु प्रशान्शब्दस्य । विसर्गः । सत्वम् । श्चुत्वम् । शार्ङ्गिँश्छिन्धि--शार्ङ्गिंश्छिन्धि । चक्रिँस्त्रायस्व–चक्रिंस्त्रायस्व । 'पदस्य' किम् ? हन्ति । 'अम्परे' किम् ? सन्त्सरुः । त्सरुः । खड्गमुष्टिः । 'अप्रशान्' किम्' ? प्रशान्तनोति । १४१ । नॄन्पे ८।३।१०। 'नॄन्' इत्यस्य रुः स्याद्वा पकारे परे । १४२ । कुप्वोः ≍क≍पौ च ८।३।३७। कवर्गे पवर्गे च परे विसर्जनीयस्य क्रमाज्जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ स्तः । चाद्विसर्गः । 'येन नाप्राप्ते–' इति न्यायेन 'विसर्जनीयस्य सः' (सू १३८) इत्यस्यापवादोऽयम्, न तु 'शर्परे विसर्जनीयः' (सू १५०) इत्यस्य । तेन 'वासः क्षौमम्' इत्यादौ विसर्ग एव । नॄँ≍पाहि--नॄं≍पाहि--नॄँः पाहि--नॄंः पाहि--

---

'अप्रत्ययस्येति षत्वपर्युदासाद् 'इदुदुपधस्ये'ति षत्वाऽप्राप्तावपि 'कुप्वोः' इति ≍क≍पयोः प्राप्तौ तं प्रबाध्य, एवमव्युत्पत्तिपक्षेऽप्युक्तसूत्रेण प्राप्तं षत्वं प्रबाध्य 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इत्यनेन सत्वे 'पुँस्कोकिलः' इति । अनुनासिकाभावे 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनेन अनुस्वारे 'पुंस्कोकिलः' इति ।

पुँस्पुत्रः (ई. ७०, ७४)—'पुम् पुत्रः' इति स्थिते 'पुमः खय्यम्परे' इति पुमो मस्य रुत्वे 'अत्रानुनासिकः—' इत्यनुनासिके 'खरवसानयोः—' इति रेफस्य विसर्गे सति व्युत्पत्तिपक्षे ≍क≍पयोः प्राप्तौ अव्युत्पत्तिपक्षे तु 'इदुदुपधस्य–' इति षत्वप्राप्तौ तौ प्रबाध्य 'सम्पुङ्कानाम्—' इति सत्वे 'पुँस्पुत्रः' इति । अनुनासिकाभावपक्षे 'पुंस्पुत्रः' इति च भवति ।

पुँख्यानम् (ई. ६४, ६८, ७०, ७१, ७५)—चक्षिङ्घातोर्ल्युटि अनादेशे 'चक्षिङः, ख्याञ्' इति ख्याञादेशे 'ख्यानम्' इति । पुंसः ख्यानम्, पुम् ख्यानम् इति स्थिते 'मोऽनुस्वारः' इत्यनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति परसवर्णे उक्तं रूपं सिद्धम् । 'पुमः खय्यम्परे' इति रुत्वन्तु न, 'ख्याञादेशे न' इति वार्तिकनिषेधात् ।

वासः क्षौमम्--अत्र विसर्जनीयस्य सः, शर्परे विसर्जनीयः, कुप्वो ≍क≍पौ चेत्येतेषां प्राप्तौ, येन नाप्राप्तो यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवतीति न्यायेन जिह्वामूलीयेन सत्वस्य बाधेऽपि, परत्वात् शर्परे विसर्जनीयः 'इति विसर्ग एवेत्याशयः ।

नॄन्पाहि । १४३ । **कानाम्रेडिते** ८।३।१२। कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते परे । 'सम्पुङ्कानाम्–' (वा ३१) इति सः । यद्वा– १४४ । **कस्कादिषु च** ८।३।४८। एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्यात्, अन्यस्य तु सः । ॅकॅपयोरपवादः । इति सः । काँस्कान्–कांस्कान् । कस्कः । कौतस्कुतः । सर्पिष्कुण्डिका । धनुष्कपालम् । आकृतिगणोऽयम् ।

१४५ । **संहितायाम्** ६।१।७२। इत्यधिकृत्य । १४६ । **छे च** ६।१।७३। ह्रस्वस्य छे परे तुगागमः स्यात्संहितायाम् । श्चुत्वस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वेन दः । ततश्चर्त्वस्यासिद्धत्वात्पूर्वं श्चुत्वेन जः । तस्य चर्त्वेन चः चुत्वस्यासिद्धत्वात् 'चोः कुः' (सू ३७८) इति कुत्वं न । स्वच्छाया । शिवच्छाया ।

१४७ । **आङ्माङोश्च** ६।१।७४। एतयोश्छे परे तुक् स्यात् । 'पदान्ताद्वा' (सू १४९) इति विकल्पापवादः । आच्छादयति । माच्छिदत् । १४८। **दीर्घात्** ६।१।७५। दीर्घाच्छे परे तुक्स्यात् । दीर्घस्यायं तुक्, न तु छस्य,

---

नॄन् पाहि (ई. ७०, ७२)–'नॄन् पाहि' इत्यवस्थायां 'नॄन् पे' इति नस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनेन अनुनासिके 'खरवसानयोः–' इति रेफस्य विसर्गे 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'कुप्वोः ≍क ≍पौ च' इत्युपध्मानीये कृते नॄँ ≍पाहि' इति । अनुनासिकाभावपक्षे 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इत्यनेन अनुस्वारे कृते 'नॄं ≍पाहि' इति, उपध्मानीयाभावपक्षे रुत्वानुनासिकविसर्गेषु कृतेषु नॄँः पाहि' इति, अनुनासिकाभावपक्षे अनुस्वारे कृते 'नॄंः पाहि' इति, रुत्वाभावे 'नॄन् पाहि' इति ।

कांस्कान् (ई. ७०, ७३, ७५)—'कान् कान्' इति दशायां 'तस्य परमाम्रेडितम्' इति परस्य 'कान्' इत्यस्याम्रेडितसंज्ञायां 'कानाम्रेडिते' इति आम्रेडितसंज्ञके परे पूर्वस्य 'कान्' इत्यस्य नकारस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'अत्राऽनुनासिकः' इति नस्यानुनासिके 'खरवसानयोः' इति रेफस्य विसर्गे 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इति सत्वे 'काँस्कान्' इति । पक्षे अनुस्वारे 'कांस्कान्' इति ।

शिवच्छाया (ई, ६३) 'शिव छाया' इति स्थिते 'छे च' इति तुकि 'शिव त् छाया' इति दशायां श्चुत्वस्यासिद्धत्वात् 'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वे चर्त्वस्यासिद्धत्वात् पुनः दस्य श्चुत्वेन जकारे तस्य 'खरि च' चर्त्वे 'शिवच्छाया' इति । 'चोः कुः' इति कुत्वं तु न, चुत्वस्यासिद्धत्वात् ।

'–सेनासुराच्छाया–' (सू ८२९) इति ज्ञापकात्, चेच्छिद्यते । १४९ । पदान्ताद्वा ६।१।७६। दीर्घात्पदान्ताच्छे परे तुग्वा स्यात् । लक्ष्मीच्छाया–लक्ष्मीछाया ।

इति हल्सन्धिप्रकरणम् ।

अथ विसर्गसन्धिप्रकरणम्

'विसर्जनीयस्य सः' (सू १३८) विष्णुस्त्राता । १५० । **शर्परे विसर्जनीयः** ८।३।३५। शर्परे खरि विसर्जनीयस्य विसर्जनीयो न त्वन्यत् । कः त्सरुः । घनाघनः क्षोभणः । इह यथायथं सत्वं जिह्वामूलीयश्च न । १५१ । **वा शरि** ८।३।३६। शरि परे विसर्जनीय एव वा स्यात् । हरिः शेते–हरिश्शेते । ३४ **खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः*** । रामस्थाता । हरिस्फुरति । पक्षे विसर्गे सत्वे च त्रैरूप्यम् । 'कुप्वोः ≍क≍पौ च' (सू १४२) । क≍करोति–कः करोति । क≍खनति–कः खनति । क≍पचति–कः पचति । क≍फलति– कः फलति । १५२ । **सोऽपदादौ** ८।३।३८। विसर्जनीयस्य सः स्यादपदाद्योः कुप्वोः परयोः ३५ **पाशकल्पककाम्येष्विति वाच्यम्*** । पयस्पाशम् । यशस्कल्पम् । यशस्कम् । यशस्काम्यति । ३६ **अनव्ययस्येति वाच्यम्*** । प्रातःकल्पम् । ३७ **काम्ये रोरेवेति वाच्यम्*** । नेह–

चच्छिद्यते (ई ६९, ७०, ७८)—'चे छिद्यते' इति स्थिते 'दीर्घात्' इति सूत्रेण छकारात्प्राग्दीर्घस्योपरि तुकि जश्त्व-चुत्व-चर्त्वेषु 'चेच्छिद्यते' इति । दीर्घस्याऽयं तुक्, न तु छस्य, 'सेनासुराच्छाये'ति ज्ञापकात् । अन्यथा यदि हि छस्य तुक् स्यात्तर्हि छस्य चर्त्वे अत्रापि चद्वयस्य श्रवणापत्तिः स्यात्, किञ्च 'सन्निपात' परिभाषया चर्त्वाऽप्रवृत्तावपि छकारोपरि चकारस्तु श्रूयत एवेति ।

इति हल्सन्धिप्रकरणम्

रामस्थाता (ई. ७१, ७३)—'रामः स्थाता' इति स्थिते 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन विसर्गस्य लोपे 'राम स्थाता' इति । लोपाभावपक्षे 'वा शरि' इति विसर्गस्य विसर्गे 'रामः स्थाता' इति । विसर्गाभावपक्षे 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे 'रामस्स्थाता' इति तृतीयं रूपं सिद्ध्यति ।

गीः काम्यति। १५३। **इणः षः** ८।३।३९। इणः परस्य विसर्गस्य षकारः स्यात्पूर्वविषये। सर्पिष्पाशम्। सर्पिष्कल्पम्। सर्पिष्कम्। सर्पिष्काम्यति। १५४। **नमस्पुरसोर्गत्योः** ८।३।४०। गतिसंज्ञयोरनयोर्विसर्गस्य सः कुप्वोः परयोः। नमस्करोति। साक्षात्प्रभृतित्वात्कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञा। तदभावे–नमः करोति। 'पुरोऽव्ययम्' (सू ७६८) इति नित्यं गतिसंज्ञा। पुरस्करोति। अगतित्वान्नेह–पूः, पुरौ, पुरः, प्रवेष्टव्याः। १५५। **इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य** ८।३।४१। इकारोकारोपधस्याप्रत्ययस्य विसर्गस्य षः स्यात्कुप्वोः। निष्प्रत्यूहम्। आविष्कृतम्। दुष्कृतम्। 'अप्रत्ययस्य' किम्? अग्निः करोति। वायुः करोति। एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य न षत्वम्, कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रशब्दस्य पाठात्। तेनेह न–मातुः कृपा। ३८ **मुहुसः प्रतिषेधः*** मुहुः कामा। १५६। **तिरसोऽन्यतरस्याम्** ८।३।४२। तिरसो विसर्गस्य सो वा स्यात्कुप्वोः। तिरस्कर्ता–तिरःकर्ता। १५७। **द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे** ८।३।४३। कृत्वोऽर्थे वर्तमानानामेषां विसर्गस्य षकारो वा स्यात्कुप्वोः। द्विष्करोति–द्विः करोति। इत्यादि। 'कृत्वोऽर्थे' किम्? चतुष्कपालः। १५८।

गीः काम्यति (ई. ७०, ७४)—गॄधातोः क्विपि ईत्त्वे रुत्वे विसर्गे 'गीः' इति। ततः 'गीः काम्यति' इति स्थिते 'काम्ये रोरेवेति वाच्यम्' इति वार्तिकेन काम्यप्रत्यये परतः रुस्थानिकस्यैव विसर्गस्य 'सोऽपदादौ' इति विधिर्भवतीति नियमाद् 'पाशकल्पककाम्येष्विति वाच्यम्' इति वार्तिकेन विसर्गस्य न सत्वम्।

अग्निः करोति—ननु स्थानिवत्सूत्रं प्रति त्रिपाद्या असिद्धत्वात्तत्र कर्त्तव्ये स्थानिवद्भावाप्राप्त्या प्रकृते इदुदुपधस्येति सूत्रेऽप्रत्ययग्रहणसत्त्वेऽपि षत्वं कथन्नेति चेन्न, अनेनैव वतिघटितातिदेशानां त्रिपाद्यामपि प्रवृत्तिरिति ज्ञापनेनादोषात्। अत एव रामः इत्यादौ विसर्गसिद्धिः।

मातुः कृपा (ई. ६८, ७०, ७३, ७४)—'इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य' इति सूत्रेण 'भ्रातुष्पुत्रः' इत्यत्रापि षत्वसिद्धौ भ्रातुष्पुत्रशब्दस्य कस्कादिषु पाठो निष्फलः। तदेव व्यर्थं सत् 'एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य न षत्वम्' इति ज्ञापयति। तेन 'मातुः कृपा' इत्यत्र एकादेशशास्त्रसम्पन्नरेफस्थानिकत्वेन विसर्गस्य एकादेशशास्त्रनिमित्तकत्वात् न षत्वम्।

चतुष्कपालः (ई. ६६, ६८, ७०)—चतुर्षु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः इत्यर्थे 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यणि विवक्षिते 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे'ति समासः।

इसुसोः सामर्थ्ये ८।३।४४। इसुसोर्विसर्गस्य षः स्याद्वा कुप्वोः। सर्पिष्करोति-सर्पिः करोति। धनुष्करोति-धनुः करोति। सामर्थ्यमिह व्यपेक्षा। 'सामर्थ्ये' किम्? तिष्ठतु सर्पिः, पिब त्वमुदकम्। १५९। **नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य** ८।३।४५। इसुसोर्विसर्गस्यानुत्तरपदस्थस्य समासे नित्यं षः स्यात्कुप्वोः परयोः। सर्पिष्कुण्डिका। धनुष्कपालम्। 'अनुत्तरपदस्थस्य' इति किम्? परमसर्पिः कुण्डिका। कस्कादिषु सर्पिष्कुण्डिकाशब्दोऽसमासे व्यपेक्षाविरहेऽपि षत्वार्थो व्यपेक्षां नित्यार्थश्च। १६०। **अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य** ८।३।४६। अकारादुत्तरस्यानव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सकारादेशः स्यात्करोत्यादिषु न तूत्तरपदस्थस्य। अयस्कारः। अयस्कामः। अयस्कंसः। अयस्कुम्भः। अयस्पात्रम्। अयस्संहिता कुशा अयस्कुशा। अयस्कर्णी। 'अतः'

'द्विगोर्लुगनपत्ये' इत्यणो लुक्। अत्र चतुश्शब्दस्य कृत्वोऽर्थेऽवृत्तेर्न तद्विसर्गस्य षत्वविकल्पः, किन्तु 'इदुदुपधस्ये'ति नित्यमेव षत्वम्। [कृत्वोर्थग्रहणाऽभावे तु षत्वविकल्पो दुर्वारः।

ननु—'सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्' इति परिभाषया सुजन्ताभ्यां द्वित्रिशब्दाभ्यां साहचर्यात्सुजन्तस्यैव चतुःशब्दस्यापि ग्रहणं भविष्यतीति चतुष्कपाल इत्यत्र सुजन्तत्वाभावाद् विकल्पषत्वाप्राप्तौ कृत्वोऽर्थग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न, तदेव व्यर्थं सत् ज्ञापयति-साहचर्यं सर्वत्र नियामकं न भवतीति। तेन 'दीधीवेवीटाम्' इति सूत्रे दीधीवेवी इति धातुद्वयसाहचर्येऽपि इट गताविति धातोर्ग्रहणं न भवति किन्तु आगमस्यैवेटो ग्रहणं भवतीति फलम्।

धनुष्कपालम् (ई. ६८, ७०)—'धनुषः कपालम्' इति विग्रहे समासे सति व्यपेक्षालक्षणसामर्थ्यस्य सत्त्वात् 'इसुसोः सामर्थ्ये' इति षत्वविकल्पे प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' इति नित्ये षत्वे उक्तं रूपं सिद्धम्।

कस्कादिषु सर्पिष्कुण्डिका—ननु 'नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' इति सूत्रेण सर्पिष्कुण्डिकेत्यत्रापि षत्वसिद्धौ कस्कादिषु तस्य पाठो व्यर्थ एवेति चेन्न, असमासे व्यपेक्षाविरहेऽपि 'आनय सर्पिष्कुण्डिका तिष्ठति' इत्यादौ षत्वार्थं सर्पिष्कुण्डिकाशब्दपाठस्य सफलत्वात्। व्यपेक्षायां नित्यार्थत्वाच्च।

इति विसर्गसन्धिप्रकरणम्

किम् ? गीःकारः । 'अनव्ययस्य' किम् ? स्वः कामः । 'समासे' किम् ? यशः करोति । 'अनुत्तरपदस्थस्य' किम् । परमयशःकारः । १६१ । **अधश्शिरसी पदे** ८।३।४७। एतयोर्विसर्गस्य सादेशः स्यात्पदशब्दे परे । अधस्पदम् । शिरस्पदम् । समासे इत्येव, अधः पदम् । शिरः पदम् । अनुत्तरपदस्थस्येत्येव, परमशिरःपदम् । 'कस्कादिषु च' (सू १४४), भास्करः ।

इति विसर्गसन्धिप्रकरणम् ।

अथ स्वादिसन्धिप्रकरणम्

स्वौजसमौट्–'(सू १८३) इति सुप्रत्यये 'शिवस् अर्च्यः' इति स्थिते । १६२। **ससजुषो रुः** ८।२।६६। पदान्तस्य सस्य 'सजुष्शब्दस्य' च रुः स्यात् । जश्त्वापवादः । १६३ । **अतो रोरप्लुतादप्लुते** ६।१।११३। अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति । 'भोभगोअघो—' (सू १६७) इति प्राप्तस्य यत्वस्यापवादः उत्वं प्रति रुत्वस्यासिद्धत्वं तु न भवति, रुत्वमनूद्य उत्वविधेः सामर्थ्यात् । १६४ । **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** ६।१।१०२ । अकः प्रथमा-द्वितीययोरचि परे पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात् । इति प्राप्ते । १६५ । **नादिचि** ६।१।१०४। अवर्णादिचि परे न पूर्वसवर्णदीर्घः । 'आद्गुणः' (सू ६९) 'एङः पदान्तादति' (सू ८६) । शिवोऽर्च्यः । 'अतः' इति तपरः किम् ? देवा अत्र । 'अति' इति तपरः किम् ? श्व आगन्ता । 'अप्लुतात्' किम् ? एहि

स्वौजसमौडिति–ननु स्वौजसमौडित्यनेन रोर्विधानेऽपि पथिमथ्यृभुक्षामादित्यत्र दीर्घोच्चारणेन रोः परे दीर्घो नेति कल्पनेन, राम इत्यादौ सुपि चेत्यस्याप्राप्त्या दोषाभाव इति चेन्न; यशोऽत्र पयोऽत्रेत्यत्रोत्वं प्रति रुत्वस्यासिद्धत्वादुत्वानापत्तेः, उत्वविधानस्य तु रुविधानवादिमते शिवोऽर्च्य इत्यादौ चारितार्थ्यादित्याशयेनाह–स्वौजसमौडिति ।

शिवोऽर्च्यः (ई. ७१, ७३)—'स्वौजसमौडिति' सुप्रत्यये शिवस् अर्च्य इति स्थिते जश्त्वं बाधित्वा 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इत्युत्वे प्रथमयोरिति दीर्घस्य नादिचीति निषेधे 'आद्गुणः' इति गुणे 'एङः पदान्तादति' इति पूर्वरूपे शिवोऽर्च्य इति सिद्धम् ।

अप्लुतात् किम्—'अतो रोरप्लुतादप्लुते' इति सूत्रे अप्लुतादिति विशेषणाभावे 'एहि सुस्रोत३ अत्र स्नाहि' इत्यत्र प्लुताकारात्परस्य रुत्वस्योत्वं स्यादिति

सुस्रोत३ अत्र स्नाहि। प्लुतस्यासिद्धत्वादतः परोऽयम्। 'अप्लुतात्' इति विशेषणे तु तत्सामर्थ्यान्नासिद्धत्वम्। तपरकरणस्य तु न सामर्थ्यम्, दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वात्। 'अप्लुते' इति किम्? तिष्ठतु पय अ३ग्निदत्त। 'गुरोरनृतः'—(सू ९७) इति प्लुतः। १६६। **हशि च** ६।१।११४। अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्याद्धशि। शिवो वन्द्यः। 'रो.' इत्युकारानुबन्धग्रहणान्नेह—प्रातरत्र, भ्रातर्गच्छ। 'देवास् इह' इति स्थिते, रुत्वम्। १६७। **भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि** ८।३।१७। एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशः स्यादशि परे। असन्धिः सौत्रः। 'लोपः शाकल्यस्य' (सू ६७)। देवा इह—देवायिह। 'अशि' किम्? देवास्सन्ति। यद्यपीह यत्वस्यासिद्धत्वाद्विसर्गो लभ्यते, तथापि विसर्गस्य स्थानिवद्भावेन रुत्वाद्यत्वं स्यात्। न ह्ययमल्विधिः, 'रोः' इति समुदायरूपाश्रयणात्। भोस्, भगोस्, अघोस्, इति सान्ता निपाताः। तेषां रोर्यत्वे कृते।

१६८। **व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य** ८।३।१८। पदान्तयोर्वकारयकारयोर्लघूच्चारणौ वयौ वा स्तोऽशि परे। यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्य-

---

तन्निवारणार्थं तत्कर्त्तव्यम्। न च अप्लुतादिति विशेषणाभावेऽपि 'अत्' ग्रहणेन ह्रस्वाकार एव गृह्यते इति नात्र उत्वं स्यादिति वाच्यम् उत्वे कर्त्तव्ये प्लुतस्यासिद्धत्वेन अतः परत्वात् अप्लुतादिति कृते तु तत्सामर्थ्यात् नासिद्धत्वम्। यदि प्लुतोऽसिद्धः स्यात्तदा सर्वत्रैव अप्लुताकार एव उपलभ्येत इति अप्लुतादिति विशेषणमेव व्यर्थं स्यात्। एवञ्च तपरकरणं दीर्घाकारात्परस्य रुत्वस्य उत्ववारणाय चरितार्थमिति तपरकरणसामर्थ्यान्नात्र उत्वमिति न शङ्कनीयम्।

देवा इह (ई. ६५, ७०)—'देवास् इह' इति दशायां 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' इति रोर्यादेशे 'लोपः शाकल्यस्य' इति यलोपे 'देवा इह' इति। यलोपाभावे 'देवायिह' इति।

देवास्सन्ति (ई. ५६)—ननु 'भोभगो—' इति सूत्रे 'अशि' ग्रहणाभावेऽपि उक्तप्रयोगे 'देवार्सन्ति' इतिस्थिते प्रकृतसूत्रेण यत्वे 'खरवसानयोः—' इति विसर्गे च प्राप्ते विसर्गविधायकशास्त्रदृष्ट्या यत्वविधायकसूत्रस्य असिद्धत्वेन विसर्ग एव भविष्यतीति 'अशि' ग्रहणं किमर्थमिति चेन्न, विसर्गे कृतेऽपि स्थानिवद्भावेन विसर्गे रुत्वमानीय पुनरपि यत्वापत्तेः। अनल्विधाविति निषेधस्तु न, रुत्वधर्मस्य अल्मात्रवृत्तित्वाभावात्।

मूलानां शैथिल्यं जायते स लघूच्चारणः । १६९ । **ओतो गार्ग्यस्य** ८।३।२०। ओकारात्परस्य पदान्तस्यालघुप्रयत्नस्य यकारस्य नित्यं लोपः स्यात् । गार्ग्यग्रहणं पूजार्थम् । भो अच्युत । लघुप्रयत्नपक्षे 'भोयच्युत' । 'पदान्तस्य' किम् ? तोयम् । १७० । **उञि च पदे** ८।३।२१। अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोप उञि पदे । स उ एकाग्निः । पदे किम् ? तन्वयुतम् । वेञः सम्प्रसारणे रूपम् । यदि तु प्रतिपदोक्तो निपातः 'उञ्' इति ग्रहीष्यते, तर्हि, उत्तरार्थं पदग्रहणम् । १७१ । **हलि सर्वेषाम्** ८।३।२२। भोभगोअघोअपूर्वस्य लघ्वलघूच्चारणस्य यकारस्य लोपः स्याद्धलि सर्वेषां मतेन । भो देवाः । भो अक्ष्मि । भो विद्वद्वृन्द । भयो नमस्ते । अघो याहि । देवा नम्याः । देवा यान्ति । 'हलि' किम् ? देवायिह । १७२ । **रोऽसुपि** ८।२।६९। अह्नो रेफादेशः स्यान्न तु सुपि । रोरपवादः । अहरहः । अहर्गणः । 'असुपि' किम् ? अहोभ्याम् । अत्र 'अहन्' (सू ४४४) इति रुत्वम् । ३९ **रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्** * । अहोरूपम् । गतमहो रात्रिरेषा । एकदेशविकृतस्यानन्यत्वादहोरात्रः । अहोरथन्तरम् । ४० **अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः** * । विसर्गापवादः । अहर्पतिः । गीर्पतिः । धूर्पतिः । पक्षे विसर्गोपध्मानीयौ । १७३ । **रो रि** ८।३।१४। रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात् । १७४ । **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** ६।३।१११। ढरेफौ

भो अच्युत (ई. ६७, ६९, ७०, ७४)—भोस् इति सकारान्तनिपातसम्बोधनम् अव्ययपदम् । तत्र 'भोस् अच्युत' इति स्थिते 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे 'भोभगो—' इति तस्य यत्वे च कृते 'व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य' इत्यनेन यकारस्य विभाषया लघुच्चारणयादेशे 'भोयच्युत' इति । विकल्पपक्षे 'भो य् अच्युत' इति दशायाम् 'ओतो गार्ग्यस्य' इत्यनेन अलघुप्रयत्नस्य यस्य लोपे 'भो अच्युत' इत्युक्तं रूपं सिद्धम् ।

अहो रात्रः (ई. ७१)—अहश्च रात्रिश्चेति द्वन्द्वे समासान्ते अचि 'यस्येति चे'ति इकारलोपे 'अहन् रात्र' इति जाते 'रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्' इति नस्य रुत्वे 'हशि च' इत्युत्वे 'आद्गुणः' इति गुणे 'रात्राह्नाहाः पुंसि' इति पुंस्त्वे उक्तं रूपं सिद्धम् । अत्र नकारस्य रात्रिशब्दपरकत्वाभावात् कथं रुत्वमिति चेन्न, एकदेशविकृतन्यायेन तत्सिद्धेः ।

धूर्पतिः (ई. ६३, ६४)—धुरां पतिः धूर्पतिः । धुर् + पतिः इति स्थिते 'अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः' इत्यनेन विसर्गमपवाद्य रेफे परे 'र्वोरुपधाया दीर्घ

लोपयतीति तथा, तस्मिन् वर्णेऽर्थाद् ढकाररेफात्मके परे पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात् । मूना रमते । हरी रम्यः । शम्भू राजते । 'अणः' किम् । तृढः । वृढः । 'तृहू हिंसायाम्' । 'वृहू उद्यमने' । पूर्वग्रहणमनुत्तरपदेऽपि पूर्वमात्रस्यैव दीर्घार्थम् । लीढः । अजर्घाः । 'मनस् रथः' इत्यत्र रुत्वे कृते 'हशि च' (सू १६६) इत्युत्वे 'रो रि' (१७३) इति लोपे च प्राप्ते । १७५ । **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** १।४।२। तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात् । इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वत्रासिद्धम्' (सू १२) इति 'रो रि'(सू १७३) इत्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव । मनोरथः । १७६ । **एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि** ६।१।१३२। अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपः स्याद्धलि न तु नञ्समासे । एष विष्णुः । स शम्भुः । 'अकोः' किम् ? एषको रुद्रः । 'अनञ्समासे' किम् ? असः शिवः । 'हलि' किम् ? एषोऽत्र । १७७ । **सोऽचिलोपे चेत्पादपूरणम्** ६।१।१३४। 'सस्'

इकः' इत्यनेन दीर्घे 'धूर्पतिः' इति । रुत्वाभावपक्षे विसर्गस्य 'कुप्वोः' इत्यनेन उपध्मानीय–विसर्गौ भवतः । तथा च—'धू≍पतिः'–धूः पतिः' इत्यपि ज्ञेयम् ।

अजर्घाः (ई. ६२)—ननु 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति सूत्रे 'पूर्वस्य' इति किमर्थम् ? 'ढ्रलोपे' इति सप्तमीश्रुत्या 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' इति परिभाषाबलेन पूर्वस्य इति पदोपस्थापनादिति चेन्न, तथा सति अस्य सूत्रस्य 'अलुगुत्तरपदे' इत्यधिकारस्थतया अत्र सूत्रे 'उत्तरपदे' इत्यस्यानुवृत्तौ तेन पूर्वस्याक्षेपात् पूर्वस्याणः पूर्वपदस्थस्यैव दीर्घः स्यात्, तथा चैकपदे रेफलोपनिमित्तके रेफे परे ढ्रलोपनिमित्तकढकारे वा परे पूर्वस्याणो दीर्घो न स्यात् 'पूर्वस्य' ग्रहणे कृते तत्सामर्थ्यादत्रोत्तरपदे इति न सम्बध्यते । तेन एकपदेऽपि दीर्घः सिद्धयति । यथा 'अजर्घर्' इत्यत्र रेफे परे पूर्वस्याणो दीर्घे विसर्गे च 'अजर्घाः' इति ।

मनोरथः (ई. ७१, ७३)—'मनस् रथः' इति दशायां 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे 'हशि च' इति रोरुत्वे प्राप्ते 'रो रि' इति रेफस्य लोपे च प्राप्ते 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति तुल्यबलविरोधे सति परत्वात् 'रो रि' इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' इत्यधिकारसूत्रेण सपादसप्ताध्यायीस्थ 'हशि चे'ति सूत्रदृष्टया त्रैपादिकस्य 'रो रि' इति सूत्रस्याऽसिद्धत्वात् 'हशि चे'त्यनेन रोरुत्वे 'मन उ रथ,' इति जाते 'आद्गुणः' इति गुणे 'मनोरथः' इति ।

इत्येतस्य सोर्लोपः स्यादचि पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत। 'सेमामविड्ढिप्रभृतिं यईशिषे'। 'इह ऋक्पाद एव गृह्यते' इति वामनः। अविशेषाच्छ्लोकपादोऽपीत्यपरे'। 'सैप दाशरथी रामः'। 'लोपे चेत्' इति किम्? स इत्क्षेति। स एवमुक्त्वा। 'सत्येव' इत्यवधारणं तु 'स्यश्छन्दसि बहुलम्' (सू ३५२७) इति पूर्वसूत्राद्बहुलग्रहणानुवृत्त्या लभ्यते। तेनेह न—'सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्'।

इति स्वादिसन्धिप्रकरणम्।

अथ अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्

१७८। अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५। धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्। १७९। कृत्तद्धितसमासाश्च १।२।४६। कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञाः स्युः।

सैषः (ई. ५७)—'स स् एपः' इति स्थिते 'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' इति सुलोपाऽभावे 'सैप दाशरथी रामः' इत्यत्र पादो न पूर्यते अतोऽत्रानेन सुलोपे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'सैषः' इति भवति। अन्यत्र तु 'सस् एषः' इति स्थिते रुत्वे यत्वे यलोपे 'स एषः' इति भवति।

सोऽहमाजन्मशुद्धानाम् (ई. ६४)—'सोऽचि लोपे चेदि'ति सूत्रे 'सत्येवे'त्यवधारणं तु 'स्यश्छन्दसि बहुलम्' इति पूर्वसूत्राद् बहुलग्रहणानुवृत्त्या लभ्यते। तेन अत्र सोर्लोपो न भवति। लोपाभावेऽपि रुत्वादिके कृते पादपूर्तिदर्शनात्। लोपे पादपूर्तौ सत्यपि 'साऽहमाजन्मशुद्धानाम्' इत्यनिष्टापत्तिः स्यात्।

इति स्वादिसन्धिप्रकरणम्

अर्थवदिति—धनम्, वनम् इत्यादौ प्रतिवर्णं प्रातिपदिकसंज्ञावारणाय 'अर्थवद्' इति। 'अहन्' इत्यादौ प्रातिपदिकेन नलोपवारणाय 'अधातुः इति। 'अप्रत्ययः' इत्यत्र प्रत्ययपदम् आवर्त्यते, तेन प्रत्ययान्तं च लभ्यते। प्रत्ययस्य पर्युदासात् 'हरिषु' इत्यादौ सोर्न प्रातिपदिकत्वम्। तदन्तपर्युदासादत्रैव 'हरिषु' इति समुदायस्य च न प्रातिपदिकत्वम्।

---

१. सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः।
सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः॥ इति श्लोकः।

पूर्वसूत्रेण सिद्धे समासग्रहणं नियमार्थम्—यत्र सङ्घाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेद्भवति तर्हि समासस्यैव। तेन वाक्यस्य न। १८०। **प्रत्ययः** ३।१।१। आपञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम्। १८१। **परश्च** ३।१।२। अयमपि तथा। १८२। **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** ४।१।१। ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्चेत्या-पञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारः। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' (प. ७२) इत्येव सिद्धे ङ्याब्ग्रहणं ङ्याबन्तात्तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्यान्ङ्याब्भ्यां प्राङ् माभूदित्येवमर्थम्। १८३। **स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्य-स्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्** ४।१।२। ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः। सुङस्योरुकारेकारौ जशटङपाश्चेतः। १८४। **विभक्तिश्च** १।४।१०४। सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः। तत्र 'सु' 'औ' 'जस्' इत्यादीनां सप्तानां त्रिकाणां प्रथमादयः सप्तम्यन्ताः प्राचां संज्ञाः, ताभिरिहापि व्यवहारः। १८५। **सुपः** १।४।१०३। सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एक-

---

समासग्रहणं नियमार्थं (ई. ७०)-अयम्भावः-'प्रत्ययग्रहणे यस्मात् विहितः स तदादेस्तदन्तस्य च' इति परिभाषया 'राजन् ङस् पुरुष सु' इति समुदाय-घटकराजन् ङस् इत्यस्य पुरुष सु इत्यस्य च प्रत्ययान्ततदादित्वेऽपि राजन् ङस् पुरुष सु' इति समुदायस्य प्रत्ययान्ततदादिभिन्नत्वात् 'अर्थवत्' इति सूत्रेणैव प्रातिपदिकसंज्ञासिद्धौ समासग्रहणं व्यर्थं सत् यत्र समुदाये पूर्वो भागः पदं तस्य समुदायस्य प्रातिपदिकसंज्ञा चेत्तर्हि समासस्यैवेति नियमयति। तेन गाभानयेति वाक्यस्य प्रातिपदिकसंज्ञा न भवतीति फलम्।

ङ्याब्ग्रहणं किम (ई. ७३)—अयम्भावः-रमा गौरीत्यादौ 'प्रातिपदि-कग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति परिभाषया प्रातिपदिकत्वधर्मस्या-नयनेन प्रातिपदिकादित्यनेनैवेष्टसिद्धौ ङ्याब्ग्रहणं व्यर्थं सत् ङ्याबन्तादेव तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्यादित्यर्थं बोधयति। अन्यथा स्वार्थद्रव्यलिङ्गसंख्याकारकाणां क्रमश उपस्थितौ, आर्यशब्दात् पूर्वं कप्रत्यये ततष्टापि, आकारस्थानिकाकार-स्याभावेन 'प्रत्ययस्थात्' इति नित्यमित्वे आर्यिका, इत्येकमेव रूपं स्यात्। ङ्याब्ग्रहणे कृते तु तत्सामर्थ्यात्पूर्वं टापि ततः कप्रत्यये 'केऽणः' इति ह्रस्वे आकारस्थानिकस्याकारस्य सत्त्वेन, 'उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः' इति वैकल्पिके इत्वे, आर्यकेत्यपि सिध्यतीति फलम्बोध्यम्।

वचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञानि स्युः । १८६ । द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२। द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः । १८७ । बहुषु बहुवचनम् १।४।२१। बहुत्वे एतत्स्यात् । रुत्वविसर्गौ, रामः । १८८ । सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ १।२।६४। एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते। 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (सू० १६४), 'नादिचि' (सू० १६५), 'वृद्धिरेचि' (सू० ७२), रामौ । १८९ । चुटू १।३।७। प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः । इति जस्येत्संज्ञायाम् । १९० । न विभक्तौ तुस्माः १।३।४। विभक्तिस्थास्तवर्ग-सकारमकारा इतो न स्युः । इति सकारस्य नेत्त्वम् । १९१ अतो गुणे ६।१।९७। अपदान्तादकाराद् गुणे परतः पररूपमेकादेशः स्यात् । इति प्राप्ते । परत्वात्पूर्वसवर्णदीर्घः । 'अतो गुणे' (सू० १९१) इति हि 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्' (प. ६०) इति न्यायेन 'अकः सवर्णे' (सू० ८५) इत्यस्यैवापवादः, न तु 'प्रथमयोः–' (सू० १६४) इत्यस्यापि । रामाः । १९२ । एकवचनं सम्बुद्धिः २।३।४९ । सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात् । १९३ । एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ६।१।६९ । एङन्तादध्र-स्वान्ताच्चाङ्गाद्धल्लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत् । सम्बुद्ध्याक्षिप्तस्याङ्गस्यैङ्ह्रस्वाभ्यां

रुत्वविसर्गौ रामः—ननु 'स्थानिवत्' इति 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्यनयोः सूत्रयोः दृष्ट्या 'ससजुषो रुः' इति शास्त्रस्यासिद्धत्वेन रेफपदान्तत्वा-भावात्कथं विसर्ग इति चेन्न । 'न मुने' इति सूत्रे 'न' इति पदं पृथक् कृत्य क्वचित् त्रिपाद्या असिद्धत्वन्न भवतीति समाधानादिति ।

रामाः (ई. ६१, ६८, ७०)—रामशब्दात् जसि 'राम जस्' इति स्थिते 'चुटू' इति जकारस्येत्संज्ञालोपयोः कृतयोः 'हलन्त्यम्' इति सकारस्यापि इत्संज्ञा प्राप्तौ 'न विभक्तौ तुस्माः' इति निषेधे 'राम अस्' इति स्थिते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सूत्रमपवाद्य 'अतो गुणे' इति पररूपे प्राप्ते सति परत्वात् 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे 'रामाः' इति । अत्र 'अतो गुणे' इति हि 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान्' विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्, इति न्यायेन सवर्णदीर्घस्यैवापवादः न तु पूर्वसवर्णदीर्घस्येत्यवसेयम् ।

सम्बुद्ध्याक्षिप्तस्य (ई. ७४)—अयम्भावः, 'येन विना यदनुपपन्नन्तत्तेन नाक्षिप्यते' इति न्यायात् सम्बुद्ध्याक्षिप्तस्याङ्गस्य सम्बुद्धिपदार्थेऽन्वये सति, अङ्गात्परा या सम्बुद्धिस्तदवयवो हल्लुप्यते स च हल् एङ्ह्रस्वाभ्यां परीभूत-

विशेषणान्नेह—हे कतरत्कुलेति। हे राम। हे रामौ। हे रामाः। 'एङ्'-ग्रहणं किम्? हे हरे। हे विष्णो। अत्र हि परत्वान्नित्यत्वाच्च सम्बुद्धिगुणे कृते ह्रस्वात्परत्वं नास्ति। १९४। **अमि पूर्वः** ६।१।१०७। अकोऽम्यचि परतः पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। रामम्। रामौ। १९५। **लशक्वतद्धिते** १।३।८। तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः। इति शसः शस्येत्संज्ञा। १९६। **तस्माच्छसो नः पुंसि** ६।१।१०३। पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सकारस्तस्य नः स्यात्पुंसि। १९७। **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** ८।४।२। अट् कवर्गं पवर्गं आङ् नुम् एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात्समानपदे। 'पदव्यवायेऽपि' (सू० १०५९) इति निषेधं बाधितुमाङ्ग्रहणम्। नुम्ग्रहणमनुस्वारोपलक्षणार्थम्। तच्चाकर्तुं शक्यम्, अयोगवाहानामट्सूपदेशस्योक्तत्वात्। इति णत्वे प्राप्ते। १९८। **पदान्तस्य** ८।४।३७। पदान्तस्य नस्य णत्वं न स्यात्। रामान्। १९९। **यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्** १।४।१३। यः प्रत्ययो यस्मात्क्रियते तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्प्रत्यये परेऽङ्गसंज्ञं स्यात्। 'भवामि' 'भविष्यामि' इत्यादौ विकरणविशिष्टस्याङ्गसंज्ञार्थं तदादिग्रहणम्। 'विधिः' इति किम्? स्त्री

श्चेत्, इत्यर्थाङ्गीकारे हे कतरदित्यत्र तकारस्य लोपापत्तिस्तद्वारणाय, अङ्गात्परा या सम्बुद्धिस्तदवयवो हल्लुप्यते सा च सम्बुद्धिरेङ्ह्रस्वाभ्यां परीभूता चेदित्यर्थाङ्गीकारे हे कुल इत्यत्र एकदेशविकृतन्यायेन लान्तभागस्याङ्गत्वे, परादिवद्भावेन सम्बुद्धित्वे जाते सति ह्रस्वात्परा सम्बुद्धिर्नास्ति, इति सलोपो न स्यादिति क्वचिदन्येनाक्षिप्तस्यापि पदार्थस्यान्यत्र पदार्थेऽन्वयो भवतीति बोध्यम्।

रामान् (ई. ६६)—रामशब्दात् द्वितीयाबहुवचने शसि 'लशक्वतद्धिते' इति शस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'राम अस्' इति स्थिते 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति दीर्घे 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति सस्य नत्वे कृते 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य णत्वे प्राप्ते 'पदान्तस्य' इति तन्निषेधे 'रामान्' इति सिद्धम्।

विधिरिति किम् (ई. ७२, ७४)—ननु 'यस्मात् यः प्रत्ययः परत्वेन श्रूयते तदादिशब्दस्वरूपं तस्मिन् प्रत्यये परे अङ्गसंज्ञम्' इत्यर्थेनैव सिद्धे 'यस्मात् प्रत्ययविधिः–' इति सूत्रे विधिग्रहणं किमर्थमिति चेन्न, 'स्त्री इयती' इत्यत्र स्त्रीशब्दात् परत्वेन इयदिति प्रत्ययस्य श्रूयमाणत्वात् तस्मिन् परे 'स्त्रियाः' इत्यङ्गकार्यमियङ् स्यात्। तद्वारणार्थं सूत्रे विधिग्रहणमावश्यकमिति।

ङ्यती। 'प्रत्यये' किम्? प्रत्ययविशिष्टस्य ततोऽप्यधिकस्य वा मा भूत्। २००। अङ्गस्य ६।४।१। इत्यधिकृत्य। २०१। **टाङसिङसामिनात्स्याः** ७।१।१२। अकारान्तादङ्गाट्टादीनां क्रमादिनादय आदेशाः स्युः। णत्वम्, रामेण। २०२। **सुपि च** ७।३।१०२। यञादौ सुपि परे अतोऽङ्गस्य दीर्घः स्यात्। रामाभ्याम्। २०३। **अतो भिस ऐस्** ७।१।९। अकारान्तादङ्गाद्भिस ऐस् स्यात्। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः, रामैः। २०४। **ङेर्यः** ७।१।१३। अतोऽङ्गात्परस्य 'ङे' इत्यस्य यादेशः स्यात्। रामाय। इह स्थानिवद्भावेन यादेशस्य सुप्त्वात् 'सुपि च' (सू० २०२) इति दीर्घः। **'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य'** (प. ८६) इति परिभाषा तु नेह प्रवर्तते, कष्टाय क्रमणे' (सू० २६७२) इत्यादिनिर्देशेन तस्या अनित्यत्वज्ञापनात्। रामाभ्याम्। २०५। **बहुवचने झल्येत्** ७।३।१०३। झलादौ बहुवचने सुपि परे अतोऽङ्गस्यैकारः स्यात्। रामेभ्यः। 'बहुवचने' किम्? रामः। रामस्य। 'झलि' किम्? रामाणाम्। 'सुपि' किम्? पचध्वम्। जश्त्वम्, २०६। **वाऽवसाने** ८।४।५६। अवसाने झलां चरो वा स्युः। रामात्-रामाद्। द्वित्वे रूपचतुष्टयम्। रामाभ्याम्। रामेभ्यः। रामस्य। सस्य द्वित्वपक्षे 'खरि च' (सू० १२१)

प्रत्यये किमिति (ई. ७४)—ननु 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदाद्यङ्गसंज्ञं स्यादि'त्यर्थेनैव इष्टसिद्धौ 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' इति सूत्रे 'प्रत्यये' इति किमर्थमिति चेन्न, 'वव्रश्च' इत्यत्र प्रत्ययविशिष्टस्य अङ्गत्वेन उरदित्यदादेशस्य परनिमित्तत्वालाभात् 'अचः परस्मिन्–' इति स्थानिवत्त्वाप्रवृत्त्या न सम्प्रसारणे–' इति सम्प्रसारणनिषेधो न स्यात्। अधिकस्य अङ्गत्वे च 'देवदत्त ओदनमपाक्षीत्' इत्यादौ देवदत्तादिशब्दोत्तरं 'सुप' निमित्तीकृत्य लुङ्पर्यन्तमङ्गत्वात् तस्य लुङ्परत्वेन देवदत्तादिशब्दात् पूर्वमपि अडागमापत्तिः स्यात्। अतः 'प्रत्यये' इत्यावश्यकमिति।

रामस्य (ई. ६५)—रामशब्दात् ङसि 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इति स्यादेशे 'रामस्य' इति। नन्वत्र सकारस्य 'अनचि च' इति द्वित्वे पूर्वसकारस्य 'खरि च' इति चर्त्वेन दन्तस्थानतोऽन्तरतमे तकारे सति 'रामत्स्य' इति स्यादिति चेन्न, सकारस्थानी महाप्राणः, तकारस्तु अल्पप्राणः इति बाह्यप्रयत्नभेदात्

इति चर्त्वेंऽप्यान्तरतम्यात्सस्य स एव, न तु तकारः, अल्पप्राणतया प्रयत्नभेदात्। अत एव 'सः सि' (सू० २३४४) इति तादेश आरभ्यते। २०७। **ओसि च** ७।३।१०४। ओसि परे अतोऽङ्गस्यैकारः स्यात् रामयोः। २०८। **ह्रस्वनद्यापो नुट्** ७।१।५४। ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादाबन्ताच्चाङ्गात्परस्यामो नुडागमः स्यात्। २०९। **नामि** ६।४।३। नामि परेऽजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्यात्। रामाणाम्। 'सुपि च' (सू० २०२) इति दीर्घो यद्यपि परस्तथापीह न प्रवर्तते, 'सन्निपात' (प० ८६) परिभाषाविरोधात्। 'नामि' (सू० २०९) इत्यनेन त्वारम्भसामर्थ्या-त्परिभाषा बाध्यते। रामे। रामयोः सुपि एत्वे कृते।

२१०। **अपदान्तस्य मूर्धन्यः** ८।३।५५। आपादपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम्। २११। **इण्कोः** ८।३।५७। इत्यधिकृत्य। २१२। **आदेशप्रत्यययोः** ८।३।५९। 'सहेः साडः सः' (सू ३३५) इति सूत्रात् 'सः' इति षष्ठ्यन्तं पदमनुवर्तते। इण्कवर्गाभ्यां परस्यापदान्तस्यादेशः प्रत्ययावयवश्च यः शकार-स्तस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। विवृताघोषस्य सस्य तादृश एव षः। रामेषु। 'इण्कोः' किम्? रामस्य। 'आदेशप्रत्यययोः' किम् सुपीः। सुपिसौ। सुपिसः 'अपदान्तस्य' किम्? हरिस्तत्र। एवं कृष्णमुकुन्दादयः। २१३। **सर्वादीनि सर्वनामानि** १।१।२७। सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युः। तद-न्तस्यापीयं संज्ञा, 'द्वन्द्वे च' (सू. २२४) इति ज्ञापकात्। तेन 'परमसर्वत्र'

आभ्यन्तरप्रयत्नभेदाच्च सस्य तत्वाभावात्। अत एव 'घत्स्यति' इत्यादौ 'सः स्यार्धधातुके' इत्यनेन सकारस्य तकारविधानं चरितार्थम्।

रामणाम् (ई. ६६, ६७, ६९)—राम शब्दात् आमि 'ह्रस्वनद्यापो-नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'रामाणाम्' इति। नन्वत्र 'राम नाम्' इति स्थिते 'फलविशेषाऽभावेऽपि न्यायानुरोधेनैव शास्त्रप्रवृत्तेः' इति भाष्योक्त्या परत्वात् 'सुपि चे'ति दीर्घः कुतो नेति चेन्न, सन्निपातपरिभाषाविरोधात्। तथा हि—ह्रस्वान्तसन्निपातमुपजीव्य प्रवृत्तस्य नुटः ह्रस्वविघातकं 'सुपि च' इति दीर्घं प्रति निमित्तत्वं न स्यात्। 'नामि' इत्यनेन तु आरम्भसामर्थ्यात् परिभाषा बाध्यते इत्यवगन्तव्यम्।

तदन्तस्यापीयं संज्ञेति—'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सूत्रे सर्वादीनीति पदस्य शब्दस्वरूपमिति विशेष्यमादाय 'द्वन्द्वे च' इति सूत्रेण विशेष्यत्वबोधनेन

इति अल्, 'परमभवकान्' इत्यत्राकच्च सिद्ध्यति। २१४। जसः शी ७।१।१७। अदन्तात्सर्वनाम्नः परस्य जसः शी स्यात्। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः न च 'अर्वणस्तृ—' (सू ३६४) इत्यादाविव। 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' (प० ६) इति वाच्यम्, सर्वादेशत्वात्प्रागित्संज्ञाया एवाभावात्। सर्वे। २१५। सर्वनाम्नः स्मै ७।१।१४। अतस्सर्वनाम्नो 'ङे' इत्यस्य 'स्मै' स्यात्। सर्वस्मै। २१६। ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ७।१।१५। अतस्सर्वनाम्नो ङसि-ङ्योरेतौ स्तः। सर्वस्मात्। २१७। आमि सर्वनाम्नः सुट् ७।१।५२। अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः स्यात्। एत्वषत्वे, सर्वेषाम्।

'येन विधिस्तदन्तस्य' इति सूत्रसाहाय्येन सर्वादीनां सर्वाद्यन्तशब्दस्वरूपाणां च सर्वनामसंज्ञा भवतीति सूत्रार्थः। एवं च सर्वशब्दस्य यथा सर्वनामसंज्ञा तथा परमसर्व इत्यस्यापि। तेन परमसर्वशब्दात् अल् सिद्ध्यति। एवं सर्वादिगण-पठितवत् शब्दान्तस्य सर्वनामसंज्ञायाम् अकचि 'परमभवकान्' इति च सिद्धम्। तदन्तविध्यभावे 'वर्णाश्रमेतरा' इत्यस्य सर्वादिघटकत्वाभावेन सर्वनामसंज्ञाया अप्राप्तौ तन्निषेधकं 'द्वन्द्वे च' इति सूत्रं व्यर्थमेव स्यात्, तदेव व्यर्थं सत् तदन्त-स्यापीयं संज्ञे'ति ज्ञापयतीति दिक्।

अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः (ई. ६८, ७२)—सर्वशब्दस्य 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सर्वनामसञ्ज्ञायां तस्माज्जसि तत्स्थाने 'जसः शी' इत्यनेन विधीयमानः शी आदेशः शित्वादनेकाल्त्वाद् वा सर्वस्य स्थाने स्यादिति शङ्का-याम् अनेकाल्त्वादेव सर्वादेशो न तु शित्वादित्युच्यते। ननु यथा 'अर्वणस्त्र-सावनञः' इति सूत्रेण 'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' इति परिभाषया नकारस्यैव आदेशो भवति, तथैवात्रापि शकारस्येत्सञ्ज्ञायामुक्तपरिभाषया अनेकाल्त्वाभावेन शित्वात्सर्वादेशः स्यादिति चेन्न, सति सर्वादेशे स्थानिवद्भावेन प्रत्ययत्वमादाय इत्सञ्ज्ञायाः प्रवृत्तेः। यावत्सम्पूर्णस्य स्थाने आदेशो न भवति, तावत् प्रत्ययत्वा-भावेन इत्सञ्ज्ञैव न स्यादित्यलम्।

सर्वेषाम् (ई. ६४, ६६, ७०)—सर्वशब्दात् आमि 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुटि 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वे कृते 'यदागमास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' इति सुटोऽपि प्रत्ययावयवत्वात् 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'सर्वेषाम्' इति। नन्वत्र एत्वे कर्तव्ये सन्निपातपरिभाषाविरोधः कुतो नेति चेन्न, 'बहुवचने झल्येत्' इत्यत्र

सर्वस्मिन् । शेषं रामवत् । एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः । सर्वादयश्च पञ्चत्रिंशत् 'सर्व विश्व उभ उभय डतर डतम अन्य अन्यतर इतर त्वत् त्व नेम सम सिम । 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' (ग)। 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्' (ग)। 'अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः (ग)। त्यद् तद् यद् एतत् इदम् अदस् एक द्वि युष्मद् अस्मद् भवतु किम्-इति। उभशब्दो द्वित्वविशिष्टस्य वाचकः। अत एव नित्यं द्विवचनान्तः। तस्येह पाठस्तु 'उभकौ' इत्यकजर्थः न च कप्रत्ययेनेष्टसिद्धिः. द्विवचनपरत्वाभावेन 'उभयतः' 'उभयत्र' इत्यादाविवायच्प्रसङ्गात्। तदुक्तम्—४१ उभयोन्यत्र* इति। अन्यत्रेति द्विवचनपरत्वाभावे। उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति, इति कैयटः। अस्ति, इति हरदत्तः। तस्माज्जस्य यजादेशस्य स्थानिवद्भावेन तयप्प्रत्ययान्ततया 'प्रथमचरम—' (सू २२६) इति विकल्पे प्राप्ते विभक्ति-निरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वान्नित्यैव संज्ञा भवति। उभये। डतर-डतमौ प्रत्ययौ।

'झलि' ग्रहणाऽभावेऽपि 'रामाणाम्' इत्याद्यजादौ सन्निपातपरिभाषया एत्वाभाव-सिद्धे झलिग्रहणमेत्वे सन्निपातपरिभाषाया अप्रवृत्तिज्ञापनार्थमित्युक्तत्वात्।

सर्वादिगणे उभशब्दपाठस्तु-(ई. ६२, ६४, ७३)—ननु सर्वादिप्रयुक्त-कार्याणामेकवचनबहुवचनयोरेव विधानादत्रोभशब्दपाठो व्यर्थ इति चेन्न, उभका-वित्यत्राव्ययसर्वनाम्नामकजिति अकज्विधानार्थन्तस्याऽवश्यकत्वात्। न च स्वार्थे कप्रत्ययेनोक्तरूपसिद्धिरिति वाच्यम्, द्विवचनपरत्वाभावेनोभयत उभयत्रेत्यादा-विवात्रापि 'उभादुदात्तो नित्यमि'त्यत्र नित्यमिति योगविभागेनायच्प्रसङ्गात्, अकचि तु तन्मध्यपतितन्यायेन द्विवचनपरत्वान्न दोष इति।

उभयशब्दस्येति—उभयोऽन्यत्रेति वार्तिकस्योभयो मणिरुभये देवमनुष्या इत्युदाहरणदानपरकभाष्येण उभयशब्दस्य तद्धितश्चासर्वविभक्तिरित्यनेनाव्यय-संज्ञावाणार्थं तसिलादय इत्यादिपरिगणनेन चोभयशब्दस्य द्विवचने रूपमनभिधा-नमिति कैयटाशयः। न चोदाहरणमादरणीयमिति भाष्येण पचतिरूपं पचति-कल्पमिति परिगणनफलदानेन च द्विवचने रूपं भवत्येवेति हरदत्ताशयः।

उभये (ई. ७४, ७५)—उभौ अवयवौ येषामित्यर्थे संख्याया अवयवे तय-विति तयपः उभादुदात्तो नित्यमित्ययजादेशे ततो जसि स्थानिवत्त्वेन तयप्प्रत्य-यान्ततया प्रथमचरेति विकल्पेन प्राप्तसंज्ञाया विभक्तिनिरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात्

'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' (प २४) इति तदन्ता ग्राह्याः । यद्यपि 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहण तदन्तगहणं नास्ति' (प २८) 'सुप्तिङन्तम्' (सू २६) इति ज्ञापकात्, तथापीह तदन्तग्रहणम्, केवलयोः संज्ञायाः प्रयोजनाभावात् । अन्यतरान्यतमशब्दस्य गणे पाठाभावान्न संज्ञा । 'त्व' 'त्व' इति द्वावप्यदन्तावन्यपर्यायौ । 'एक उदात्तोऽपरोऽनुदात्तः' इत्येके । 'एकस्तान्तः' इत्यपरे । 'नेम' इत्यर्धे । समः सर्वपर्यायः । तुल्यपर्यायस्तु नेह गृह्यते, 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (सू १२८) इति ज्ञापकात् । अन्तरं बहिर्योग—(ग) इति गणसूत्रे ४२ 'अपुरि' इति वक्तव्यम् । अन्तरायां पुरि । २१८ ।

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् । १।१।३४। एतेषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणपाठात्सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात् । पूर्वे–पूर्वाः । स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था । 'व्यवस्थायां' किम् ? दक्षिणा गाथकाः । कुशला इत्यर्थः । 'असंज्ञायां' किम् ? उत्तरा कुरवः । २१९ । **स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् १।१।३५।** ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य या प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा स्यात् । स्वे—स्वाः । आत्मीया इत्यर्थः । आत्मान इति वा । ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः, ज्ञातयोऽर्था वा । २२० । अन्तरं

सर्वादीनीत्यनेन सर्वनामसंज्ञां प्रत्यसिद्धत्वादनेन नित्यसंज्ञायां जसः शीति श्यादेशे उभये इति ।

स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था—अयम्भावः, 'पूर्वपरे'ति सूत्रे स्वस्य पूर्वादिशब्दस्याभिधेयं वाच्यं तेन अपेक्षस्याऽपेक्ष्यमाणस्य अवधेर्नियमः व्यवस्थाशब्देन विवक्षितः इत्यर्थः । तेन 'दक्षिणा गाथकाः' इत्यत्र कुशलवाचिदक्षिणशब्दस्य सर्वनामसंज्ञा नेति ।

स्वे (ई. ६९)—स्वशब्दात् जस्विभक्तौ 'स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्' इत्यनेन सर्वनामत्वे 'जसः शी' इति शीभावे गुणे 'स्वे' इति । स्वशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः, तथा चामरः—'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इति । अत्र 'स्वो ज्ञातावात्मनि' इत्येकं वाक्यम् । ज्ञातावात्मनि च 'स्व' शब्दः पुंल्लिङ्गः इत्यर्थः, 'स्वं त्रिष्वात्मीये' इति द्वितीयं वाक्यम् । आत्मीये स्वशब्दको विशेष्यनिघ्न इत्यर्थः । 'स्वोऽस्त्रियां धने' इति तृतीयं वाक्यम् । धने स्वशब्दः पुन्नपुंसक इत्यर्थः । स्वः स्यात् पुंस्यात्मनि ज्ञातौ त्रिष्वात्मीयेऽस्त्रियां धने' इति मेदिनीकोशः ।

बहिर्योगोपसंव्यानयोः १।१।३६। बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य या प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा स्यात् । अन्तरे-अन्तरा वा गृहाः । बाह्या इत्यर्थः । अन्तरे-अन्तरा वा शाटकाः । परिधानीया इत्यर्थः । २२१ । **पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा** ७।१।६। एभ्यो नवभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः । पूर्वस्मात्-पूर्वात् । पूर्वस्मिन्-पूर्वे । एवं परादीनामपि । शेषं सर्ववत् । एकशब्दः संख्यायां नित्यैकवचनान्तः । २२२ । **न बहुव्रीहौ** १।१।२९। बहुव्रीहौ चिकीर्षिते सर्वनामसंज्ञा न स्यात् । त्वकं पिता यस्य स त्वत्कपितृकः । अहकं पिता यस्य स मत्कपितृकः । इह समासात् प्रागेव प्रक्रियावाक्ये सर्वनामसंज्ञा निषिध्यते अन्यथा लौकिके विग्रहवाक्य इव तत्राप्यकच्प्रवर्तेत । स च समासेऽपि श्रूयेत । 'अतिक्रान्तो भवकन्तम्, अतिभवकान्, इतिवत् । भाष्यकारस्तु 'त्वकत्पितृकः' 'मकत्पितृकः' इति रूपे इष्टापत्तिं कृत्वैतत्सूत्रं प्रत्याचख्यौ । यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् । संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः, महासंज्ञाकरणेन तदनुगुणानामेव

त्वत्कपितृकः (ई. ५७, ५९)—त्वक पिता यस्य अहकं पिता यस्येति लौकिकविग्रहे युष्मद् सु पितृ सु, अस्मद् सु पितृ सु—इत्यलौकिकविग्रहे बहुव्रीहिसमासात् प्रागेव न बहुव्रीहाविति सर्वनामसंज्ञानिषेधेऽकचोऽप्राप्त्या के, प्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति त्वमादेशे नद्यृतश्चेति कपि त्वत्कपितृको मत्कपितृक इति सिद्धम् । न बहुव्रीहावित्यस्याभावे भवकन्तमतिक्रान्तोऽतिभवकानित्यत्रेव समासेऽप्यकचः श्रवणापत्तावुक्तरूपासिद्धेरिति पाणिनिमतम् । भाष्यकारस्तु 'अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ' इत्युक्त्वा त्वकत्पितृको मकत्पितृक इति रूपे इष्टापत्तिं कृत्वा न बहुव्रीहाविति सूत्रं प्रत्याचख्यौ, एवं च यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यमिति बलाद् भाष्यकारमतस्यैव प्रामाण्यमिति बोध्यम् ।

संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः (ई. ५२)—'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सूत्रे सर्वनाम इति महासंज्ञाकरणेन तस्याश्चान्वर्थतया सर्वान्नमयन्ति सर्वेषां नामानि इति वा विग्रहेण प्राधान्येन—इतराविशेषणत्वेन, स्वीयसर्वार्थोपस्थापक इत्यर्थलाभात् तादृशसर्वादिगणपठितशब्दानामेव सर्वनामसंज्ञा । सर्वनामसंज्ञोद्देश्यसर्वादीनां शब्दानां प्राधान्येन स्वीयसर्वार्थोपस्थापकानामेव च गणे सन्निवेशेन त्यदादयः शब्दा अपि तादृशा एव पठ्यन्ते इति ।'त्यदादीनामः' इत्यत्वं 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति सत्वम्, 'अद्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' इत्यदड्डादेशश्च तादृशार्थोपस्थापकशब्दानामेवेति संज्ञायामुपसर्जनत्वे च सर्वादीनामसंज्ञा अत्वं

गणे सन्निवेशात् । अतः संज्ञाकार्यमन्तर्गणकार्यं च तेषां न भवति । सर्वो नाम कश्चित्तस्मै सर्वाय देहि । अतिक्रान्तः सर्वमतिसर्वस्तस्मै अतिसर्वाय देहि । अतिकतरं कुलम् । अतितत् । २२३ । **तृतीयासमासे** १।१।३० । अत्र सर्वनामता न स्यात् । मासपूर्वाय । तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि न । मासेन पूर्वाय । २२४ । **द्वन्द्वे च** १।१।३१ । द्वन्द्वे उक्ता न । वर्णाश्रमेतराणाम् । न चैवं तदन्तविधिना सुट्प्रसङ्गः, 'सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुट्' इति व्याख्यानत्वात् । २२५ । **विभाषा जसि** १।१।३२ । जसाधारं यत्कार्यं शीभावाख्यं तत्र कर्तव्ये द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा वा स्यात् । वर्णाश्रमेतरे-वर्णाश्रमेतराः । शीभावं

सत्त्वम् अद्ड्डादेशश्च न भवन्तीति क्रमेण सर्वो नाम कश्चित् तस्मै सर्वाय देहि अतिक्रान्तः सर्वम् अतिसर्वः तस्मै अतिसर्वाय देहि । अतिकतरं कुलम्, अतितत्, इत्युदाहरणानि ।

अतिसर्वाय—अतिक्रान्तः सर्वमतिसर्वः तस्मै 'अतिसर्वाय' इति । अत्र अन्यविशेषणत्वेन 'स्वार्थोपस्थापकत्वमुपसर्जनत्वमि'त्युपसर्जनलक्षणसत्त्वेन सर्वशब्दस्य समासे उपसर्जनीभूतत्वात् 'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः' इति निषेधात् सर्वनामसंज्ञाऽभावेन स्मायादेशाऽप्राप्त्या 'ङेर्यः' इति ङेर्यादेशे 'सुपि चे'ति दीर्घे 'अतिसर्वाय' इति सिद्धम् ।

ननु प्रतिपदोक्तपरिभाषया अतिसर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञाप्राप्तिरेव कथमिति चेन्न, एवं सति 'वर्णाश्रमेतराणाम्' इत्यादौ वर्णाश्रमेतरशब्दस्याऽपि सर्वनामत्वाऽभावादेव सुटोऽप्राप्त्या 'द्वन्द्वे चे'ति सूत्रं व्यर्थं स्यात्, तदेव व्यर्थीभूय ज्ञापयति 'तदन्तस्यापीयं संज्ञा' इति ।

वर्णाश्रमेतराणाम् (ई. ५०, ६३, ६५, ६६)—वर्णश्च आश्रमश्च इतरश्चेति वर्णाश्रमेतराः, तेषां वर्णाश्रमेतराणाम् । अत्र वर्णाश्रमेतरशब्दात् आमि नुटि 'नामी'ति दीर्घे णत्वे उक्तं रूपं सिद्धम् । नन्वत्र 'वर्णाश्रमेतर' इति समुदायस्य तदन्तविधिना 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इत्यनेन सर्वनामसंज्ञा कुतो नेति चेन्न, 'द्वन्द्वे च' इत्यनेन निषेधात् । न च प्रकृतसूत्रेण वर्णाश्रमेतर इति समुदायस्य सर्वनामसंज्ञानिषेधेऽपि 'इतर' शब्दस्य सर्वनामत्वमस्तीति ततः परस्य आम्विभक्तेः 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुट् कुतो नेति वाच्यम्, तत्र सूत्रे सर्वनाम्नः इति पञ्चम्याः विहितविशेषणत्वस्वीकारेण अवर्णान्तादङ्गात्परस्य

प्रत्येत्र विभाषेत्युक्तम्। अतो नाकच्, किन्तु कप्रत्यय एव, वर्णाश्रमेतरकाः। २२६। **प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च** १।१।३३। एते जसः कार्यं प्रत्युक्तसंज्ञा वा स्युः। प्रथमे-प्रथमाः। शेषं रामवत्। तयप् प्रत्ययः, ततस्तदन्ता ग्राह्याः। द्वितये-द्वितयाः। शेषं रामवत्। नेमे-नेमाः। शेषं सर्ववत्। ४३ **विभाषाप्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम्** *। द्वितीयस्मै-द्वितीयाय। इत्यादि। एवं तृतीयः। अर्थवद्ग्रहणान्नेह—पटुजातीयाय। निर्जरः। २२७। **जराया जरसन्यतरस्याम्** ७।२।१०१। जराशब्दस्य 'जरस्' वा स्यदजादौ विभक्तौ। 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' (प २९)। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशे प्राप्ते 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' (प १२)। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् जरशब्दस्य जरस्। निर्जरसौ। निर्जरसः। इनादीन्वा-

---

सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुट् भवतीत्यर्थेनाऽत्र इतरशब्दात् सुटो विहितत्वाभावेन तदप्रवृत्तेः।

वर्णाश्रमेतरकाः (ई. ७०, ७२)—द्वन्द्वसमासनिष्पन्नात् वर्णाश्रमेतरशब्दात् कप्रत्यये कृते 'वर्णाश्रमेतरकः' इति। तस्मात् जसि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे सकारस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम्। ननु वर्णाश्रमेतरशब्दात् अकच् कुतो नेति चेन्न, 'सर्वादीनि' इत्यनेन प्राप्तसर्वनामसंज्ञायाः 'द्वन्द्वे च' इत्यनेन निषेधात्। न च 'विभाषा जसि' इति विभाषया सर्वनामसंज्ञासत्वे अकच् स्यादिति वाच्यम्, 'विभाषा जसि' इत्यनेन शीभावे कर्तव्ये एव विभाषया सर्वनामसंज्ञाविधानात्।

निर्जरसौ (ई. ६३)—निर्जरशब्दात् औविभक्तौ 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशे 'निर्जरसौ' इति। नच जराशब्दस्य विधीयमानो जरसादेशः निर्जरशब्दे कथमिति वाच्यम्, जरसादेशस्य अङ्गाधिकारस्थत्वेन 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इति परिभाषया निर्जरशब्दस्याऽपि जरसादेशोचितत्वात्, नन्वेवमपि जराशब्दान्तस्य विधीयमानो जरसादेशः अनेकाल्त्वात् निर्जरशब्दस्य कृत्स्नस्यैव स्यादिति चेन्न, 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति परिभाषायाः जागरूकत्वात्। नन्वेवमपि निर्जरशब्दस्य जराशब्दान्तत्वं कथमिति वाच्यम्, एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषया अर्थात् 'छिन्ने पुच्छेऽपि श्वा श्वैव, नाऽश्वो नच गर्दभः' इति न्यायेन निर्जरशब्दान्तत्वस्य सुलभत्वात्। जरसादेशाभावपक्षे तु 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'निर्जरौ' इति।

धित्वा परत्वाज्जरस्। निर्जरसा। निर्जरसे। निर्जरसः २। पक्षे हलादौ च रामवत्। वृत्तिकृता तु "पूर्वविप्रतिषेधेन इनातोः कृतयोः 'सन्निपात' (प ८६) परिभाषाया अनित्यत्वमाश्रित्य जरसि कृते 'निर्जरसिन्' 'निर्जरसात्' इति रूपे, न तु 'निर्जरसा' 'निर्जरसः' इति केचित्" इत्युक्तम्। तथा भिसि 'निर्जरसैः' इति रूपान्तरमुक्तम्। तदनुसारिभिश्च षष्ठ्येकवचने 'निर्जरस्य' इत्येव रूपमिति स्वीकृतम्। एतच्च भाष्यविरुद्धम्। २२८। **पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु** ६।१।६३। पाद दन्त नासिका मास हृदय निशा असृज् यूष दोष् यकृत् शकृत् उदक आस्य एषां पदादय आदेशाः स्युः शसादौ वा। यत्तु 'आसनशब्दस्यासन्नादेशः' इति काशिकायामुक्तं,

---

निर्जरसे (ई. ५९, ६०)—निर्जरशब्दाच्चतुर्थ्येकवचने 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इत्यनेन जरसादेशे उक्तं रूपं सिद्धम्। ननु 'जरा' शब्दस्य विधीयमानो जरसादेशः निर्जरशब्दे कथमिति चेन्न, जरसादेशस्य अंगाधिकारस्थत्वेन 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इतिपरिभाषया निर्जरशब्दस्याऽपि जरसादेशोचितत्वात्। नचैवमपि जराशब्दान्तस्य विधीयमानो जरसादेशः अनेकाल्त्वात् निर्जरशब्दस्य कृत्स्नस्य स्यादिति चेन्न, 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इति परिभाषायाः जागरूकत्वात्। नचैवमपि निर्जरशब्दस्य जराशब्दान्तत्वं कथमिति वाच्यम्, 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषाया अर्थात् छिन्नेऽपि पुच्छे श्वा श्वैव, न चाऽश्वो न च गर्दभः' इति न्यायेन निर्जरशब्देऽपि जराशब्दान्तत्वस्य सुलभत्वात्।

निर्जरसिन् (ई. ५८)—जरसादेशाद्विभक्त्यादेशाः पूर्वविप्रतिषेधेन भवन्तीति स्वीकृत्य सन्निपातपरिभाषायाश्च 'अतो भिस ऐस्' इति सूत्रेऽदन्तात्परस्य भिस ऐसादेशविधानेन वृद्ध्येष्टसिद्धावैस्करणसामर्थ्येन जरसादेशविषये अनित्यत्वमाश्रित्य निर्जरशब्दात् तृतीयैकवचने टाप्रत्यये पञ्चम्येकवचने ङसि प्रत्यये वा पूर्वमिनादेशे 'आत्' आदेशे च कृते सन्निपातपरिभाषायाः अनित्यत्वेनाप्रवृत्त्या जरसादेशे 'निर्जरसिन्' 'निर्जरसात्' इति केषाञ्चिन्मतं वृत्तिकारेणोक्तम्। तन्मते च तृतीयाबहुवचने जरसादेशात् पूर्वं भिसः स्थाने ऐसादेशे सन्निपातपरिभाषायाः अनित्यत्वेन जरसादेशे 'नर्जरसैः' इति रूपं भवतीत्युक्तम्। तदनुसारिभिश्च पूर्वं ङसः स्यादेशेऽजादित्वाभावेन जरसादेशाप्रवृत्त्या 'निर्जरस्य' इत्येवं रूपं भवतीति स्वीकृतम्। परन्तु सर्वमेतद्भाष्यविरुद्धम्। भाष्यकृता हि

तत्प्रामादिकम् । पादः । पादौ । पादाः । पादम् । पादौ । पदः-पादान् । पदा-पादेन इत्यादि । २२९ । **सुडनपुंसकस्य १।१।४३** । 'सुट्' इति प्रत्याहारः । स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य । २३० । **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने १।४।१७** । कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं पदसंज्ञं स्यात् । २३१ । **यचि भम् १।४।१८** । यकारादिष्वजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं भसंज्ञं स्यात् । २३२ । **आकडारादेका संज्ञा १।४।१** । इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' (सू ७५२) इत्यतः प्रागेकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया । या परा अनवकाशा च । तेन शसादावचि भसंज्ञैव, न पदत्वम् । अतो जश्त्वं न । दतः । दता । जश्त्वं, दद्भ्याम् ।

इनादेशस्येकारस्य 'आत्' आदेशस्य च दीर्घकरणं प्रत्याख्यातम् । 'ओसि च' इत्येत्सूत्रात्परत्र 'आङि चापः' इत्यत्र 'आङि' इति योगं विभज्य आङि परेऽत भवतीत्यर्थेन रामशब्दात् टाप्रत्ययस्य स्थाने 'न' आदेशे एत्वे णत्वे च कृते 'रामेण' इति. रामशब्दात् ङस्प्रत्ययस्य 'अत्' आदेशेऽकारोच्चारणसामर्थ्येन 'अतो गुणे' इति पररूपबाधे सवर्णदीर्घेण च 'रामात्' इति च रूपसिद्धेः । तथा च तन्मते 'नर्जरसिन्' इत्यादिरूपासिद्धेः प्रत्याख्यानासंगतिः स्यादतो जरसादेशः परत्वाद् विभक्त्यादेशेभ्यः पूर्वं भवतीत्येव राद्धान्त इति ।

पदः (ई. ५७)—पादशब्दाच्छसि 'पद्दन्नोमास—' इति पादशब्दस्य विभाषया पदादेशे सस्य रुत्वे विसर्गे 'पदः' इति । पक्षे पूर्वसवर्णदीर्घे 'तस्माच्छसो नः–' इति नत्वे 'पादान्' इति ।

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (ई. ६६, ७२)—कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं पदसंज्ञं स्यादित्यर्थः । 'दद्भ्याम्' 'राजभ्याम्' इत्याद्युदाहरणानि । तत्र 'दत् भ्याम्' इति स्थिते अनेन पदत्वाज्जश्त्वसिद्धिः । एवं 'राजन् भ्याम्' इति स्थिते अनेन पदत्वान्नलोपसिद्धिः ।

दतः (ई. ५८, ६०)—दन्तशब्दात् शसि 'दन्त अस्' इति स्थिते 'पद्दन्नोमास' इति सूत्रेण ददादेशे 'दत् अस्' इति स्थिते 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इत्यनेन पदसंज्ञायां 'यचि भम्' इत्यनेन भसंज्ञायां च प्राप्तायाम् 'आ कडारादेका संज्ञा' इति नियमात् शसादावचि भसंज्ञस्यैव प्राबल्येन पदत्वाभावेन जश्त्वाऽभावे सकारस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

इत्यादि । मासः । मासा । भ्यामि रुत्वे यत्वे च यलोपः । माभ्याम् । माभिः इत्यादि । २३३ । भस्य ६।४।१२९ । अधिकारोऽयम् २३४ । अल्लोपोऽनः ६।४।१३४ । अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपः स्यात् । २३५ । रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१। एकपदस्थाभ्यां रेफषकाराभ्यां परस्य नस्य णः स्यात् । यूष्णः । यूष्णा । 'पूर्वस्मादपि विधौ स्थानिवद्भावः' इति पक्षे तु 'अड्व्यवाये' (सू १९७) इत्येवात्र णत्वम् । ४४ पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत् *। इति तु इह नास्ति, ४५ तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु *। इति निषेधात् । २३६ । न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७ । 'न' इति 'प्रातिपदिक' इति च लुप्तषष्ठीके पदे । प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नकारस्य लोपः स्यात् । नलोपस्यासिद्धत्वाद्दीर्घत्वमेत्वमैस्त्वं च न । यूषभ्याम् । यूषभिः । यूषभ्यः । इत्यादि । २३७ । विभाषा ङिश्योः ६।४।१३६ । अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपो वा स्यात् ङिश्योः परयोः । यूष्णि-यूषणि । पक्षे

माभ्याम् (ई. ५७, ६०, ७०)—मासशब्दात् भ्यामि 'पद्दन्न' इति सूत्रेण मासशब्दस्य 'मास्' इत्यादेशे 'स्वादिष्वि'ति पदत्वे 'ससजुषो रुः' इति सकारस्य रुत्वे 'भोभगो' इति यत्वे 'हलि सर्वेषाम्' इति यलोपे उक्तं रूपं जातम् ।

यूष्णः (ई ५८, ६०, ६३, ७०)—यूषशब्दाच्छसि 'पद्दन्न' इत्यादिसूत्रेण यूषशब्दस्य 'यूषन्' आदेशे 'यूषन् अस्' इति स्थिते भसंज्ञायाम् 'अल्लोपोऽनः' इत्यनेनाल्लोपे 'यूष्न् अस्' इति स्थिते 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इत्यत्र 'पूर्वस्माद्विधिः पूर्वविधिः' इति पञ्चमीसमासाश्रयणेन षकारात् परस्य नकारस्य णत्वे कर्तव्ये अल्लोपस्य स्थानिवद्भावेन अकारव्यवधानात् 'रषाभ्याम्' इत्यस्य प्रवृत्त्यभावेऽपि 'अटकुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि' इत्यनेन अड्व्यवायेऽपि णत्वे सकारस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

यूषभिः (ई. ७४)—यूषशब्दात् भिसि 'पद्दन्नोमास' इत्यादिसूत्रेण यूषशब्दस्य यूषन्नादेशे 'स्वादिष्वि'ति पदत्वे 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे ततो नलोपस्याऽसिद्धत्वात् 'अतो भिस ऐस्' इत्यस्याप्रवृत्तौ सकारस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

यूष्णि (ई. ५८, ६६)—यूषशब्दात् ङिविभक्तौ पद्दन्निति यूषन्नादेशे 'विभाषा ङिश्योः' इति 'अन्' इत्यस्य लोपे 'रषाभ्या'मिति णत्वे 'यूष्णि' इति, लोपाभावपक्षे 'यूषणि' इत्यपि भवति ।

रामवत् । 'पद्दन्न—' (सू २२८) इति सूत्रे प्रभृतिग्रहणं प्रकारार्थम् । तथा च औङः श्यामपि दोषन्नादेशो भाष्ये ककुद्दोषणी, इत्युदाहृतः । तेन 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इति चामरः सङ्गच्छते । 'आसन्यं प्राणमूचुः' इति च । आस्ये भवः आसन्यः । 'दोष्' शब्दस्य नपुंसकत्वमप्यत एव भाष्यात् । तेन 'दक्षिणं दोर्निशाचरः' इति सङ्गच्छते । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः इति साहचर्यात्पुंस्त्वमपि । 'दोषं तस्य तथाविधस्य भजतः' इति । द्वयोरह्नोर्भवो द्व्यह्नः । २३८ । सङ्ख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याहन्नन्यतरस्यां ङौ ६।३।११० । सङ्ख्यादिपूर्वस्याह्नस्याहन्नादेशो वा स्यात् ङौ । द्व्यह्नि-द्व्यहनि-द्व्यह्ने । विगतमहर्व्यह्नः । व्यह्नि-व्यहनि-व्यह्ने । अह्नः सायः सायाह्नः । सायाह्नि-सायाहनि-सायाह्ने । इत्यदन्ताः । विश्वपाः । २३९ । दीर्घाज्जसि च ६।१।१०५ । दीर्घाज्जसि इचि च परे प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घो न स्यात् । वृद्धिः, विश्वपौ । सवर्णदीर्घः, विश्वपाः । यद्यपीह औङि 'नादिचि' (सू १६५) इत्येव सिद्धम्, जसि तु सत्यपि पूर्वसवर्णदीर्घे क्षतिर्नास्ति तथापि 'गौर्यौ' 'गौर्यः' इत्याद्यर्थं सूत्रमिहापि न्याय्यत्वादुपन्यस्तम् । २४० । आतो धातोः ६।४।१४० । आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः स्यात् ।

प्रभृतिग्रहणं प्रकारार्थम (ई. ५८)—अयमाशयः, 'पद्दन्नि'ति सूत्रे प्रभृतिपदस्य प्रकारोऽर्थः । प्रकारो भेदसादृश्यम् । सादृश्यं चात्र सुप्त्वधर्मेण गृह्यते । तथा च यत्र सुप्त्वं स्यात्तत्रादेशा भवन्ति । एवं च दोषशब्दस्य नपुंसकलिङ्गे औङः श्यादेशे दोषन्नादेशो भवति । ततश्च 'ककुद्दोषणी' इति भाष्योदाहरणं सङ्गतम्भवति एवमेव 'पदङ्घ्रिश्चरणः' इत्यादौ सुविभक्तौ पादशब्दस्य पदादेशश्च सिद्धः ।

द्व्यह्नि (ई. ६०, ६१)—द्वयोरह्नोर्भवः इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति समासे 'कालाट्ठञ्' इति ठञि तस्य 'द्विगोर्लुगनपत्ये' इति लुकि 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टचि 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' इति अह्नादेशे यणि 'द्व्यह्न' इति; तस्मात् द्व्यह्नशब्दात् ङौ 'संख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याऽहन्नन्यतरस्यां ङौ' इति सूत्रेण अहन्नादेशे निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपाये 'द्वि अहन् इ' इति जाते 'विभाषा ङिश्योः' इत्यनेन अल्लोपे इकारस्य यणि 'द्व्यह्नि' इति । अल्लोपाभावे 'द्व्यहनि' इति । अहन्नादेशाभावे गुणे 'द्व्यह्ने' इति च भवति ।

'अलोऽन्त्यस्य' (सू ४२) विश्वपः। विश्वपा। विश्वपाभ्याम्। इत्यादि। एवं शङ्खध्मादयः। 'धातोः' किम्? हाहान्। टा, सवर्णदीर्घः हाहा। ङे, वृद्धिः हाहै। ङसिङसोर्दीर्घः, हाहाः। ओसि वृद्धिः, हाहौः। ङौ आद्गुणः, हाहे। शेषं विश्वपावत्। 'आतः' इति योगविभागादधातोरप्याकारलोपः क्वचित्। क्त्वः। श्नः। इत्यादन्ताः।

हरिः। प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (सू १६४)। हरी। २४१। जसि च ७।३।१०९। ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः स्याज्जसि परे। हरयः। २४२। ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८। ह्रस्वस्य गुणः स्यात्सम्बुद्धौ। 'एङ्ह्रस्वात्—' (सू १९३) इति। सम्बुद्धिलोपः। हे हरे। हरिम्। हरी। हरीन्। २४३। शेषो घ्यसखि १।४।७। अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविवर्णोवर्णौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञं स्यात्। 'शेषः' किम्? मत्यै। एकसंज्ञाधिकारात्सिद्धे शेषग्रहणं स्पष्टार्थम्। 'ह्रस्वौ' किम्? वातप्रम्ये। 'यू' किम्? मात्रे। २४४। आङो नाऽस्त्रियाम् ७।३।१२०। घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम्। 'आङ' इति टासंज्ञा प्राचाम्। हरिणा। 'अस्त्रियाम् किम्' मत्या। २४५। घेर्ङिति ७।३।१११। घिसंज्ञस्य ङिति सुपि गुणः स्यात्। हरये। 'घेः' किम्। सख्ये। 'ङिति' किम्? हरिभ्याम्। 'सुपि' किम्? पट्वी। 'घेर्ङिति' (सू २४५)

विश्वपः (ई. ६३)—विश्वपाशब्दात् द्वितीयाबहुवचने 'विश्वपा अस्' इति स्थिते 'स्वादिष्वि'ति सर्वनामस्थानभिन्नस्वादिषु शसादिषु परेषु पूर्वस्य विश्वपाशब्दस्य पदसंज्ञायां 'यचि भम्' इत्यने सर्वनामस्थानभिन्नयजादिषु स्वादिषु परेषु भसंज्ञायां च प्राप्तायां किमत्र विधेयम् इति शङ्कायाम् 'आकडारादेका संज्ञा' इत्यनेन एकैव संज्ञा भवतीति नियमात् परत्वादनवकाशत्वाच्च भसंज्ञायां सत्याम् 'आतो धातोः' इत्यनेन पूर्वसवर्णदीर्घं प्रबाध्य 'अलोन्त्य'परिभाषया पकारोत्तरवर्त्याकारस्य लोपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'विश्वपः' इति।

यू किं मात्रे—यूग्रहणाभावे अदन्तशब्दे इनादेशादिना बाधात् घिसञ्ज्ञाफलस्य नाभावादेर्न प्रवृत्तिः। ऋदन्तशब्दे च 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति सूत्रे, ङिग्रहणेन ङित्सु ऋदन्तस्य गुणश्चेत्तर्हि ङावेवेति नियमेन गुणादिर्न अभविष्यदिति पद्दन्निति सूत्रे यूग्रहणफलं परिच्छेतृवाचकमातृशब्दात् टाविभक्तौ परे नाभावाभाव इत्यलम्।

इति गुणे कृते । २४६ । ङसिङसोश्च ६।१।११० । एङो ङसिङसोरति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेः २ । हर्योः । हरीणाम् । २४७ । अच्च घेः ७।३।११९ । इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत्स्यात्, घेरन्तादेशश्चाकारः । वृद्धिः, हरौ । हर्योः । हरिषु । एवं श्रीपत्यग्निरविकव्यादयः । २४८ । अनङ् सौ ७।१।९३ । सख्युरङ्गस्यानङादेशः स्यादसम्बुद्धौ सौ परे । 'ङिच्च' (सू ४३) इत्यन्तादेशः । २४९ । अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा १।१।६५ । अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः स्यात् । २५० । सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ६।४।८ । नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे । २५१ । अपृक्त एकाल्प्रत्ययः १।२।४१ एकाल्प्रत्ययो यः सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात् । २५२ । हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ६।१।६८ । हलन्तात्परं दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परं सु ति सि इत्येतदपृक्तं हल् लुप्यते । 'हल्ङ्याब्भ्यः' किम् ? ग्रामणीः । 'दीर्घात्' किम् ? निष्कौशाम्बिः । अतिखट्वः । 'सुतिसि' इति किम् ? अभैत्सीत् । तिपा सहचरितस्य तिपो ग्रहणात्सिचो ग्रहणं नास्ति । 'अपृक्तम्' इति किम् विभर्ति । 'हल्' किम् ? बिभेद । 'प्रथमहल्' किम् ? राजा । नलोपो न स्यात्, संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात् । सखा । हे सखे ।

हरौ (ई. ६७)—हरिशब्दात् सप्तम्येकवचने 'हरि इ' इति स्थिते 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'अच्च घेः' इति ङेरौत्वे घिसंज्ञकस्याकारान्तादेशे च कृते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'हरौ' इति ।

दीर्घात्किं–(ई. ६६) हल्ङ्याबितिसूत्रे दीर्घग्रहणाभावे निष्कौशाम्बिरति-खट्वः इत्यत्र गोस्त्रियोरिति ह्रस्वे स्थानिवत्त्वेन ङीप्त्वाप्त्वे आदाय सुलोपापत्तेः, दीर्घग्रहणे कृते तु दीर्घत्वधर्मस्यालमात्रवृत्तित्वेनानल्विधाविति निषेधान्न दोषः ।

हल् किम् (ई. ६८)—ननु अनङ्सावित्यत्र सोर्ङेति न्यासेन सखेति सिद्धो हल्ङ्याबिति सूत्रे हल्ग्रहणं व्यर्थम्, राजेत्यादौ संयोगान्तलोपेनैव सिद्धेरिति चेन्न, संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपानापत्तेरिति ।

सखा (ई. ७२)—सखिशब्दात् प्रथमैकवचने सौ 'यस्मात्प्रत्यय—' इत्यङ्गसंज्ञायाम् 'अनङ्सौ' इति 'ङिच्चे'ति सूत्रबलात् सखिशब्दान्तस्य अनङि अनुबन्धलोपे 'सखन् स्' इति जाते 'अलोन्त्यात् पूर्व उपधा' इत्युपधासंज्ञायां 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इत्युपधायाः दीर्घे 'सखान् स्' इति स्थिते 'अपृक्त

२५३। सख्युरसम्बुद्धौ ७।१।९२। सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णित्कार्यकृत्स्यात्। २५४। अचो ञ्णिति ७।२।११५। ञिति णिति च परेऽजन्ताङ्गस्य वृद्धिः स्यात्। सखायौ। सखायः। सखायम्। सखायौ। घिसंज्ञाभावान्न तत् कार्यम्। सख्या। सख्ये। २५५। ख्यत्यात् परस्य खितिशब्दाभ्यां खीतीशब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उत्स्यात्। सख्युः। २५६। औत् ७।३।११८। इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत्स्यात्। उकारानुवृत्तिरुत्तरार्था। सख्यौ। शेषं हरिवत्। शोभनः सखा सुसखा। सुसखायौ। सुसखायः। अनङ्णिद्वद्भावयोराङ्गत्वात्तदन्तेऽपि प्रवृत्तिः। समुदायस्य सखिरूपत्वाभावात्, '–असखि' (सू २४३) इति निषेधाप्रवृत्तेर्घिसंज्ञा। सुसखिना। सुसखये। ङसिङसोर्गुणे कृते कृतयणादेशत्वाभावात् 'ख्यत्यात्—' (सू २५५) इत्युत्वं न। सुसखेः। सुसखौ। इत्यादि। एवमतिशयितः सखा अतिसखा। 'परमः सखा यस्य' इति विग्रहे परमसखा। परमसखायौ। इत्यादि। गौणत्वेऽप्य

एकाल प्रत्ययः इति सस्य अपृक्तसंज्ञायां 'हल्ङ्याभ्यः–' इति सलोपे 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'सखा' इति।

सुसखा (ई. ७०)—शोभनः सखेत्यर्थे समासात्सौ 'अनङ् सौ' 'सख्युरसम्बुद्धौ' इति सूत्रयोराङ्गत्वात्तदन्तेऽपि प्रवृत्त्या सुसखा इति। एवं शोभनः सखा यस्येति बहुव्रीहावपि सुसखेति। न चान्यपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वमुपसर्जनत्व चेति प्राचीनमते गौणत्वाद् गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्यय इति परिभाषया कथमत्रानयोः प्रवृत्तिरिति वाच्यम्, स्त्रीत्वानिमित्तत्वे सति सुब्विभक्तचनिमित्तकत्वं पदकार्यत्वं यत्र तत्रैवोक्तपरिभाषा प्रवर्तते न तु प्रातिपदिककार्ये इत्यदोषात्।

सुसखिना (ई. ६४, ६८, ६९, ७०)—'शेषो घ्यसखि' इति सूत्रे 'असखि' इति पदस्य वर्णसञ्ज्ञापक्षे सखिभिन्नावयवौ याविदुतौ तयोर्घिसञ्ज्ञेत्यर्थः। तथा-चात्र सुसखिशब्दस्य सखिभिन्नत्वेन तदवयवस्य इकारस्य घिसञ्ज्ञायां नादेशे च 'सुसखिना' इति सिद्धम्। सखिभिन्नं यद् इकारान्तमुकारान्तं तस्य घिसञ्ज्ञेति तदन्तपक्षेऽपि सुसखिशब्दे समुदायस्य 'सुसखि' इत्यस्य सखिभिन्नत्वात् सुलभैव घिसञ्ज्ञा। भाष्यकृन्मते तु प्रकृते घिसञ्ज्ञा नैव लभ्यते। सखिशब्दस्य तदवयवे लक्षणया सख्यवयवभिन्नयोरिदुतोः तयोर्वा घित्वम् इत्यर्थे सुसखिघटकेकारस्य सख्यवयवत्वेन तद्भिन्नत्वाभावात् सूत्राप्रवृत्तेरिति दिक्।

नङ्णित्त्वे प्रवर्तेते। सखीमतिक्रान्तोऽतिसखिः। '-लिङ्गविशिष्ट' (प० ७३) परिभाषाया अनित्यत्वान्न टच्। हरिवत्। इहानङ्णित्त्वे न भवतः, 'गोस्त्रियोः—' (सू ६५७) इति ह्रस्वत्वेन सखिशब्दस्य लाक्षणिकत्वात्। 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणात्' (प ११४) २५७। **पतिः समास एव १।४।८।** पतिशब्दः समास एव घिसंज्ञः स्यात्। पत्या। पत्ये। पत्युः २। पत्यौ। शेषं हरिवत्। समासे तु भूपतिना। भूपतये। कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। २५८। **बहुगणवतुडतिसङ्ख्या १।१।२८।** एते सङ्ख्यासंज्ञाः स्युः। २५९। **डति च १।१।२५।** डत्यन्ता सङ्ख्या षट्संज्ञा स्यात्। २६०। **प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः १।१।६१।** लुक्श्लुलुपशब्दैः कृतं प्रत्ययादर्शनं क्रमात्तत्तत्संज्ञं स्यात्। २६१। **षड्भ्यो लुक् ७।१।२२।** षड्भ्यः परयोर्जश्शसोर्लुक् स्यात्। २६२। **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् १।१।६२।** प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्यं स्यात्। इति 'जसि च' (सू २४१) इति गुणे प्राप्ते। २६३। **न लुमताऽङ्गस्य १।१।६३।** लुक् श्लु लुप् एते लुमन्तः। लुमता शब्देन लुप्तं तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात्। कति। कति। कतिभिः।

अतिसखिः (ई. ६८)—सखीमतिक्रान्त इत्यर्थे समासे घटघटीग्रहणेन लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वाद्राजाहः सखिभ्यष्टजिति टचोऽप्राप्त्या गोस्त्रियोरिति ह्रस्वे समासात्स्वादौ लाक्षणिकत्वेन अनङ् सावित्यादेरप्राप्तौ अतिसखिः इति।

बहुगणेति (ई. ७३)—बहुश्च, गणश्च, वतुश्च डतिश्चेति समाहारद्वन्द्वः। एतत् संख्यासंज्ञं स्यादित्यर्थः। उदाहरणं यथा—बहुकः, गणकः, यावान्, कति, इत्यादि। बहुगणशब्दाविह त्रित्वादिपरार्धान्तसंख्याव्यापकधर्मविशेषवाचिनौ गृह्येते, न तु वैपुल्यसंघवाचिनौ, संख्यायतेऽनयेन्वर्थसंज्ञाविधानात्। वतुडती प्रत्ययौ संज्ञाविधावपि इह तदन्तग्रहणं, केवलयोः प्रयोगार्हत्वात्।

कति (ई. ६१)—का संख्या परिमाणमस्येति विग्रहे डतिः। बहुत्वविशिष्टवाचकात् डत्यन्तात् कतिशब्दात् जसि शसि च विभक्तौ 'बहुगणवतुडतिसंख्या' इति संख्यासंज्ञायां 'डति च' इति षट्संज्ञायां 'षड्भ्यो लुक्' इति जश्शसोर्लुकि 'कति' इति। नच जसि विभक्तौ 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इति परिभाषया प्रत्ययलक्षणेन 'जसि च' इत्यनेन इकारस्य गुणः कुतो नेति वाच्यम् 'न लुमताङ्गस्य' इति प्रत्ययलक्षणनिषेधात्।

कतिभ्यः । कतिभ्यः । कतीनाम् । कतिषु । अस्मद्युष्मद्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः । त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । त्रयः । त्रीन् । त्रिभिः । त्रिभ्यः २ । २६४ । त्रेस्त्रयः ७।१।५३ । त्रिशब्दस्य त्रयादेशः स्यादामि । त्रयाणाम् । परमत्रयाणाम् । गौणत्वे तु नेति केचित् । प्रियत्रीणाम् । वस्तुतस्तु प्रियत्रयाणाम् । त्रिषु । द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । २६५ । त्यदादीनामः ७।२।१०२ । एषामकारोऽन्तादेशः स्याद्विभक्तौ । ४६ द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः * । द्वौ २ । द्वाभ्याम् ३ । द्वयोः २ । 'द्विपर्यन्तानाम्' किम् ? भवान् । भवन्तौ । भवन्तः । संज्ञायामुपसर्जनत्वे च नात्वम्, सर्वाद्यन्तर्गणकार्यत्वात् । द्विर्नाम कश्चित् । द्विः । द्वी । द्वावतिक्रान्तोऽतिद्विः । हरिवत् । प्राधान्ये तु 'परमद्वौ' इत्यादि । औडुलोमिः । औडुलोमी । बहुवचने तु । उडुलोमाः । लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः'* (वा ३००) । बाह्वादीञोऽपवादः औडुलोमिम् । औडुलोमी । उडुलोमान् । इति इदन्ता ।

प्रियत्रयाणाम् (ई. ६२)—प्रियत्रिशब्दादामि 'त्रेस्त्रयः' इति 'पदाङ्गाधिकारे'ति परिभाषया त्रिशब्दान्तस्यापि त्रयादेशे 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्–' इति णत्वे उक्तं रूपं सिद्धम् । नच 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायस्य जगरूकत्वेन त्रिशब्दस्यात्र अन्यपदार्थे विशेषणात् गौणत्वेन त्रयादेशः कथमिति वाच्यम्, गौणमुख्यन्यायस्य पदकार्यविषयत्वात् ।

द्विपर्यन्तानां–'त्यदादीनामः' इति सूत्रे त्यच्छब्दादारभ्य सर्वेषाम् शब्दानां ग्रहणे भवच्छब्देऽपि 'त्यदानीनामः' इति सूत्रेण तकारस्याकारे नलोपादिकार्ये च कृते 'भवा' इति रूपमनिष्टं स्यान्नतु भवानिति, भवच्छब्दस्य त्यच्छब्दात्प्राक् पाठे कृते भवानिति रूपसिद्धेऽपि 'त्यादादीनां मिथः सहोक्तौ' इति वार्तिके भवदादीनां मिथः इति पाठेनोक्तवार्तिकेन स च भवांश्चेति विग्रहे तच्छब्दस्यैव, एकशेषे भवन्ताविति रूपासिद्धिरिति द्विशब्दपर्यन्तमेव त्यदादिग्राह्यमिति ।

उडुलोमाः—(ई. ६४, ७०)—उडुलोमस्यापत्यम् 'औडुलोमिः', तस्य बहुवचने तु 'लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन 'बह्वादिभ्यश्च' इति सूत्रं प्रबाध्य अकारप्रत्यये 'उडुलोमन् अ' इति स्थिते 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे ञिगत्वाऽभावात् कित्वाभावाच्च आदिवृद्ध्यभावे आकारान्तात् उडुलोमशब्दाज्जसि पूर्वसवर्णदीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

'वातप्रमीः' (उ ४४१) इत्युणादिसूत्रेण माङ ईप्रत्ययः। स च कित्, वातं प्रमिमीते वातप्रमीः। 'दीर्घाज्जसि च' (सू २३६) वातप्रम्यौ। वातप्रम्यः। हे वातप्रमीः। 'अमि पूर्वः' (सू १६४) वातप्रमीम्। वातप्रम्यौ। वातप्रमीन्। वातप्रम्या। वातप्रमीभ्याम् ३। वातप्रम्ये। वातप्रम्यः २। वातप्रम्योः २। वातप्रम्याम्। दीर्घत्वान्न नुट्। ङौ तु सवर्णदीर्घः, वातप्रमी। वातप्रमीषु। एवं ययीपप्यादयः। यान्त्यनेनेति ययीर्मार्गः। पाति लोकमिति पपीः सूर्यः। 'यापोः किद् द्वे च' (४३९) इति ईप्रत्ययः। क्विबन्तवातप्रमीशब्दस्य तु अमि शसि ङौ च विशेषः। वातप्रम्यि। 'एरनेकाचः' (सू२७२) इति वक्ष्यमाणो यण्। प्रधीवत्। बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी। दीर्घङ्यन्तत्वात् 'हल्ङ्याप्' (सू २५२) इति सुलोपः। २६६। यू स्त्र्याख्यौ नदी १।४।३। ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः। ४७ प्रथमलिङ्गग्रहणं च* पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। २६७। अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ७।३।१०७। अम्बार्थानां नद्यन्तानां च ह्रस्वः स्यात्सम्बुद्धौ। हे बहुश्रेयसि। शसि बहुश्रेयसीन्। २६८। आण्नद्याः ७।३।११२। नद्यन्तात्परेषां ङितामाडागमः स्यात्। २६९। आटश्च ६।१।९०। आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः। नद्यन्तात्परत्वान्नुट्, बहुश्रेयसीनाम्। २७०। ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६। नद्यन्तादाबन्तान्नीशब्दाच्च ङेराम् स्यात्। इह परत्वादाटा नुट् बाध्यते। बहुश्रेयस्याम्। शेषमीप्रत्ययान्तवात-

---

वातप्रमीः (ई. ६४)—वातं प्रमीयीते इति 'वातप्रमीः'। वातमित्युपपदे 'माङ् माने' इति धातोः 'वातप्रमीः' इत्युणादिसूत्रेण ईप्रत्यये निपातनात् कित्त्वे च जाते 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपे 'उपपदमतिङ्' इति समासे समासात् सुबुत्पत्तौ विभक्तिकार्ये 'वातप्रमीः' इति। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः।

हे बहुश्रेयसि (ई. ६६)—बहुश्रेयसीशब्दात् सम्बोधनविवक्षायां सौ 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति नदीसंज्ञायाम् 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वे सम्बुद्धिलोपे 'हे बहुश्रेयसि' इति। ह्रस्वविधिसामर्थ्यादत्र गुणो नेति भाष्ये स्पष्टम्।

बहुश्रेयस्याम (ई. ७२)—बहुश्रेयसीशब्दात् सप्तम्येकवचने ङिविभक्तौ 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति नदीसंज्ञायां 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति ङेरामि 'बहुश्रेयसी आम्' इति स्थिते स्थानिवद्भावेन ङित्त्वमादाय 'आण्नद्याः' इत्यादि

प्रमीवत् । अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः, अतिलक्ष्मीः । शेषं बहुश्रेयसीवत् । कुमारी-मिच्छन्कुमारीवाऽऽचरन्वा ब्राह्मणः कुमारी। क्यजन्ताचारक्विबन्ताद्वा कर्तरि क्विप् । 'हल्ङ्याप्-' (सू २५२) इति सुलोपः । २७१ । **अचि श्नुधातु-भ्रुवां य्वोरियङुवङौ** ६।४।७७। श्नुप्रत्ययान्तस्य इवर्णोवर्णान्तधातोः 'भ्रू' इत्यस्य चाङ्गस्येयङुवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। 'ङिच्च' (सू ४३) इत्य-न्तादेशः । आन्तरतम्यादेरियङ्, ओरुवङ् । इतीयङि प्राप्ते । २७२ । **एरनेका-चोऽसंयोगपूर्वस्य** ६।४।८२। धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ प्रत्यये परे। इति यण्, कुमार्यौ । कुमार्यः । हे कुमारि । अमि शसि च कुमार्यम्, कुमार्यः । कुमार्यै । कुमार्याः २ । कुमारीणाम् । प्रधीः । प्रध्यौ । प्रध्यः । उन्नयतीत्युन्नीः । धातुना संयोगस्य विशेषणादिह स्यादेव यण्, उन्न्यौ । उन्न्यः । हे उन्नीः । उन्न्यम् । ङेराम्, उन्न्याम् । एवं ग्रामणीः । 'अनेकाचः' किम् ? नीः । नियौ । नियः । अमि शसि च परत्वादियङ्, नियम् । नियः । ङेराम्, नियाम् । 'असंयोग-पूर्वस्य' किम् ? सुश्रियौ । यवक्रियौ । ४८ गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण्ने-

---

'आटश्च' इति वृद्धौ यणि उक्तं रूपं सिद्धम् । न च ङेरामि कृते 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि ततः 'यदागमाः' इति न्यायेन नामोऽप्याम्ग्रहणेन ग्रहणात् आट् कुतो नेति वाच्यम्, परत्वादाटा नुटो बाधसम्भवात् । ननु परत्वात् नुटं प्रबा-ध्य कृतेप्याडागमे नुट् कुतो नेति चेन्न, 'विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेवे'ति न्यायस्य जागरूकत्वात् ।

कुमार्यौ (ई. ७३, ७४)—कुमारीमिच्छन्, कुमारीवाचरन् वेति विग्रहे क्यचि क्यजन्तस्य धातुत्वात् सुपो लुकि ततः कर्तरि क्विपि क्विपो लोपे 'अतो लोपः' इत्यलोपे यलोपे 'कुमारी' इति । तस्मात् औविभक्तौ 'कुमारी औ' इति स्थिते 'अचि श्नुधातु' इत्यादिना प्राप्तमियङं बाधित्वा 'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्व-स्य' इत्यनेन यणि 'कुमार्यौ' इति ।

नियाम् (ई. ७०, ७२)—'एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति सूत्रे 'अने-काचः' इत्यस्य प्रत्युदाहरणमेतत् । तत्रहि 'अनेकाचः' इत्यस्याऽभावे नीशब्दात् ङीविभक्तौ नदीत्वाऽभावेऽपि 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इति सूत्रे नीशब्दस्य पृथग्ग्रह-णाद् आमि 'नी आम्' इति स्थिते 'अचिश्नुधात्वि'ति इयङं बाधित्वा यणि 'न्याम्' इति स्यात् ।

ष्यते*। शुद्धधियौ। परमधियौ। कथं तर्हि 'दुर्धियः' 'वृश्चिकभियः' इत्यादि? उच्यते, 'दुःस्थिता धीर्येषाम्' इति विग्रहे 'दुर्' इत्यस्य धीशब्दं प्रति गतित्वमेव नास्ति। यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रत्येव गत्युपसर्गसंज्ञाः। वृश्चिकशब्दस्य बुद्धिकृतमपादानत्वं नेह विवक्षितम्। वृश्चिकसम्बन्धिनी भीर्वृश्चिकभीरित्युत्तरपदलोपो वा। २७३। न भूसुधियोः ६।४।८५। एतयोर्यण् न स्यादचि सुपि। सुधियौ। सुधियः। इत्यादि। सखायमिच्छति सखीयति। ततः क्विप्। अल्लो-

---

शुद्धधियौ (ई. ५९)—शुद्धा धीर्यस्येति विग्रहे निष्पन्नात् शुद्धधीशब्दात् औविभक्तौ 'शुद्धधी औ' इति स्थिते 'गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते' इति शुद्धशब्दस्य गतिकारकेतरत्वात् तत्पूर्वकस्य धीशब्दस्येकारस्य 'एरनेकाचः-' इति प्राप्तयणो निषेधे 'अचिश्नुधातु-' इति इयङि 'शुद्धधियौ' इति। (शुद्धं ब्रह्म तं ध्यायतीति विग्रहे तु कारकपूर्वकत्वात् स्यादेव यण्-'शुद्धध्यौ' इति)

कथं तर्हि (६९, ७२)—दुःस्थिता धीर्येषामिति विग्रहे 'प्रादयो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति बहुव्रीहौ पूर्वपदे उत्तरखण्डस्य लोपे च कृते 'दुर्धी' इति। तस्माज्जसि 'अचि श्नुधातु' इति इयङि सस्य रुत्वे विसर्गे 'दुर्धियः' इति। नच 'गतिकारके'ति वार्तिकेन यदा गतिकारकेतरपूर्वपदस्यैव यण् पर्युदस्यते तदा प्रकृते दुरित्यस्य ध्याधातुयोगे 'गतिश्च' इति गतित्वाद् 'एरनेकाचः' इति यण् कुतो नेति वाच्यम्। 'उपसर्गाः क्रियायोगे' इति सूत्रे योगग्रहणेन 'यत्क्रियायुक्ताः प्रादयः तं प्रत्येव गत्युपसर्गसंज्ञा' इति नियमात् 'दुःस्थिता धीर्येषाम्' इत्यर्थे दुःशब्दार्थस्य दुष्टत्वस्य स्थाधात्वर्थेऽन्वयेन ध्याधात्वर्थेऽन्वयाभावेन गतित्वाभावात्।

नन्वेवं 'वृश्चिकभियः' इत्यत्र 'भी' इत्यस्य कारकपूर्वकत्वात् 'गतिकारके'ति निषेधाभावेन 'एरनेकाचः' इति यण् कुतो नेति चेन्न, वृश्चिकाद् भीः वृश्चिकभीः' इति बुद्धिकृतापादनकारकत्वाविवक्षणेनात्र कारकत्वाऽभावेन 'गतिकारके'ति यण्निषेधात्। 'वृश्चिकभियः' इत्यत्र तु वृश्चिकस्य भीः वृश्चिकभीः अथवा वृश्चिकसम्बन्धिनी भीः वृश्चिकभीः, इति विग्रहे 'शाकपार्थिवादीनामि'त्युत्तरपदलोपिसमासे (षष्ठ्याः कारकत्वाऽभावात्) 'गतिकारके'ति यण् निषेधो बोध्यः।

सखायमिच्छति (ई. ५८)—सखायमिच्छतीति विग्रहे 'सुप आत्मनः-' इति क्यचि 'अकृत्सार्वधातुकयोः-' इति दीर्घे 'सखीयति' इति। तस्मात् सखीय-

पस्य स्थानिवत्त्वाद्यणि प्राप्ते ४९ क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्*। एकदेशविकृत-स्यानन्यतयाऽनङ्णित्वे, सखा। सखायौ। सखायः। हे सखीः। अमि पूर्वरूपा-त्परत्वाद्यणि प्राप्ते ततोऽपि परत्वात् 'सख्युरसंबुद्धौ' (सू १५३) इति प्रवर्तते सखायम्। सखायौ। शसि यण्, सख्यः। सह खेन वर्तत इति सखः। तमि-च्छतीति सखीः। सुखमिच्छतीति सुखीः। सुतमिच्छतीति सुतीः। सख्यौ। सुख्यौ। सुत्यौ। 'ख्यत्यात्' (सू २५५) इति दीर्घस्यापि ग्रहणादुकारः, सख्युः। सुख्युः। सुत्युः। लूनमिच्छतीति लूनीः। क्षाममिच्छतीति क्षामीः। प्रस्तीममिच्छतीति प्रस्तीमीः। एषां ङसिङसोर्यण्। नत्वमत्वयोरसिद्धत्वात् 'ख्यत्यात्—' (सू २५५) इत्युत्त्वम्, लून्युः। क्षाम्युः। प्रस्तीम्युः। शुष्की-यतेः क्विप्, शुष्कीः। इयङ्, शुष्कियौ। शुष्कियः। ङसिङसोः शुष्कियः। इत्यादि। इति ईदन्ताः।

शम्भुर्हरिवत्। एवं विष्णुवायुभान्वादयः। २७४। तृज्वत्क्रोष्टुः ७।१।९५। क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तेन तुल्यं वर्तते असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे। क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने क्रोष्टृशब्दः प्रोक्तव्य इत्यर्थः। २७५। ऋतो ङिसर्वना-मस्थानयोः ७।३।११०। ङौ सर्वनामस्थाने च परे ऋदन्ताङ्गस्य गुणः स्यात्। इति प्राप्ते। २७६। ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ७।१।९४। ऋदन्तानामु-शनसादीनां चानङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ परे। २७७। अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृ-

---

शब्दात् 'सनाद्यन्ताः—' इति धातुसंज्ञकात् क्विपि क्विपः सर्वापहारे 'अतो लोपः' इत्यलोपे, 'लोपो व्योर्वलि' इति यलोपे 'सखी' इति ईदन्तं प्रातिपदिकं सिद्धम्। यलोपे कर्तव्ये अल्लोपस्तु न स्थानिवत् 'न पदान्त—' इति यलोपे स्था-निवत्त्वनिषेधात्। 'अचः परस्मिन्—' इति अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वे 'इको यणचि' इति यणादेशोऽपि न 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्' इति निषेधात्।

लून्युः। (ई. ६६, ६९)—'लूञ् छेदने' इत्यस्माद्धातोः क्तप्रत्यये 'ल्वा-दिभ्यः' इति नत्वे 'क्यचि च' इति ईत्वे 'लूनी' इति। तस्मात् ङसि 'एरने-काचः' इति यणि नत्वस्यासिद्धत्वात् 'ख्यत्यात्परस्य' इति उत्वे सकारस्य रुत्वे विसर्गे च 'लून्युः' इति।

अप्तृन्तृजिति (ई. ७२)—अप्तृन्निति सूत्रे 'तुरिष्ठेमेयस्सु' इतिवत् 'तृ' इत्येव सिद्धे तृन्तृचोर्भेदेन उपादानं 'क्वचित् सामान्योक्तावपि विशेष एव गृह्यते' इति ज्ञापनार्थम्। अत एव 'न कोपधायाः' इत्यत्र सामान्योक्तावपि वुत-

नेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तृणाम् ६।४।११। अबादीनामुपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे। नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्—उणादिनिष्पन्नानां तृन्तृजन्तानां चेद्भवति तर्हि नप्त्रादीनामेव। तेन पितृभ्रातृप्रभृतीनां न। उद्गातृशब्दस्य तु भवत्येव, 'समर्थ'–(सू ६४८) सूत्रे 'उद्गातारः' इति भाष्यप्रयोगात्। क्रोष्टा। क्रोष्टारौ। क्रोष्टारः। क्रोष्टारम्। क्रोष्टारौ। क्रोष्टून्। २७८। विभाषा तृतीयादिष्वचि ७।१।९७। अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत्। क्रोष्ट्रा। क्रोष्ट्रे। २७९। ऋत उत् ६।१।१११। ऋदन्ताद्ङसिङसोरति परे उकार एकादेशः स्यात्। रपरत्वम्। २८०। रात्सस्य ८।२।२४। रेफात्संयोगान्तस्य सस्यैव लोपः, नान्यस्य। रेफस्य विसर्गः, क्रोष्टुः। आमि परत्वात्तृज्वद्भावे प्राप्ते ५० नुमचिरतृज्व-

---

द्भितयोरेव को गृह्यते यद्वा 'अप्तृ' इत्येव वक्तव्ये तृन्तृजिति भेदेनोपादानम् 'अवर्णस्तृ–' व्यावृत्तये इत्यवसेयम्।

नप्त्रादिग्रहणं (ई० ५८, ६०, ७०, ७३)—अयम्भावः 'अप्तृन्नि'ति सूत्रे 'उणादयो व्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानी'ति पक्षे नप्त्रादीनां सप्तानां तृन्नन्तत्वात्तृजन्तत्वाच्च तृन्-तृच्ग्रहणेनैव दीर्घे सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं, 'सिद्धे सत्यारभ्यमाणो विधिर्नियमार्थो भवती'ति सिद्धान्तात्, नियमयति—'तृन्तृजन्तानां चेत्तर्हि नप्त्रादीनामेवे'ति नियमेन च स्वेतरस्वजातीयव्यावृत्तिः क्रियते, इति नप्त्रादीतरोणादिनिष्पन्नतृन्नन्ततृजन्तशब्दानां पितृ-मातृ-प्रभृतीनां न दीर्घः इति।

क्रोष्टा (ई. ५८)—क्रोष्टुशब्दात् सौ अनुबन्धलोपे 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति तृज्वद्भावे कृते 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति गुणे प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसां च' इत्यनङि अनुबन्धलोपे 'अप्तृन्तृच्–' इति दीर्घे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सुलोपे 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति न लोपे 'क्रोष्टा' इति।

क्रोष्टुः (ई. ५७, ७२)—क्रोष्टुशब्दात् ङसि अनुबन्धलोपे 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति तृज्वद्भावे 'ऋत उत्' इति उत्वे रपरत्वे 'रात्सस्य' इति सलोपे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गे 'क्रोष्टुः' इति। तृज्वद्भावाभावे 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे 'ङसिङसोश्च' इति पूर्वरूपे सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'क्रोष्टोः' इति भवति।

नुमचिरेति (ई. ६७)—'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमः पूर्वम्, 'अचि र ऋतः' इति रेफात् पूर्वं, 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति तृज्वद्भावाच्च

द्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन*। क्रोष्टूनाम्। क्रोष्टरि। क्रोष्ट्रोः। पक्षे हला ौ च शम्भुवत्। इत्युदन्ताः।

हूहूः। हूह्वौ। हूह्वः। हूहूम्। हूह्वौ। हूहून्। इत्यादि। अतिचमूशब्दे तु नदीकार्यं विशेषः। हे अतिचमु। अतिचम्वै। अतिचम्वाः २। अतिचमूनाम्। अतिचम्वाम्। खलपूः। २८१। ओः सुपि ६।४।८३। धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ सुपि। 'गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते' (वा ४८) खलप्वौ। खलप्वः। इत्यादि एवं सुल्वादयः। 'अनेकाचः' किम्? लूः। लुवौ लुवः। 'धात्ववयव—' इति किम्? उल्लूः। उल्लुवौ। उल्लुवः। 'असंयोगपूर्वस्य' किम्? कटप्रुवौ। कटप्रुवः। 'गति' इत्यादि किम्? परमलुवौ। 'सुपि' किम्? लुलुवतुः। स्वभूः। 'न भूसुधियोः' (सू. १७३) स्वभुवौ। स्वभुवः। २८२। वर्षाभ्वश्च ६।४।८४। अस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सुपि। वर्षाभ्वौ। वर्षाभ्वः। दृम्भतीति दृम्भूः। 'अन्दूदृम्भूजम्बूकफेलूकर्कन्धूदिधिषूः' (उ ९३) इत्युणादिसूत्रेण व्युत्पादितः। दृम्भ्वौ। दृम्भ्वः। दृम्भूम्। दृम्भ्वौ। दृम्भून्। शेषं हूहूवत्। 'दृन्' इति नान्ते हिंसार्थेऽव्यये भुवः क्विप्। दृन्भूः। ५१ दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः*। दृन्भ्वौ। दृन्भ्वः। इत्यादि खलपूवत्। करभ्वौ। करभ्वः। दीर्घपाठे तु 'करः' एव 'कारः' स्वार्थिकः प्रज्ञाद्यण्। कारभ्वौ। कारभ्वः। पुनर्भूः यौगिकः पुंसि। पुनर्भ्वौ। इत्यादि। 'दृन्भू' 'काराभू' शब्दौ स्वयम्भूवत्। इत्यूदन्ताः।

धाता। हे धातः। धातारौ। धातारः। ५२ ऋवर्णान्नस्य णत्वं

पूर्वविप्रतिषेधेन नुमेवेति वार्तिकार्थः। वारीणाम्, क्रोष्टूनाम्, इति क्रमेणोदाहरणानि।

क्रोष्टूनाम् (ई. ५८, ५९, ७१, ७०)—क्रोष्टुशब्दात् आमि 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति वार्तिकेन परत्वात् प्राप्तं तृजत्वं बाधित्वा नुटि 'नामि' इति दीर्घे उक्तं रूपं सिद्धम्।

स्वभुवौ (ई. ७२)—स्वस्मात् भवतीति विग्रहे स्वभूशब्दात् क्विपि सर्वापहारे 'स्वभू' इति, तस्मात् औ 'स्वभ औ' इति स्थिते कारकपूर्वकत्वात् 'ओः सुपि' इति यणि प्राप्ते 'न भूसुधियोः' इति निषेधे उवङि उक्तं रूपं सिद्धम्।

वाच्यम् ॥ । धातॄणाम् । इत्यादि । एवं नप्त्रादयः । उद्गातारौ । पिता । व्युत्पत्तिपक्षे नप्त्रादिग्रहणस्य नियमार्थत्वान्न दीर्घः, पितरौ । पितरः । पितरम् । पितरौ । शेषं धातृवत् । एवं जामातृभ्रात्रादयः । ना । नरौ । नरः । हे नः । २८३ । नृ च ६।४।६। 'नृ' इत्येतस्य नामि वा दीर्घः स्यात् । नॄणाम्—नृणाम् । इत्यृदन्ताः ।

'कॄ' 'तॄ' अनयोरनुकरणे 'प्रकृतिवदनुकरणम्–' (प ३७) इति वैकल्पिकातिदेशादित्वे रपरत्वम्, कीः । किरौ । किरः । तीः । तिरौ । तिरः । इत्यादि गीर्वत् । इत्वाभावपक्षे तु 'ऋदुशन–' (सू० २७६) इति 'ऋतो ङि–' (सू० २७५) इति च तपरकरणादनङ्गुणौ न । कॄः । क्रौ । क्रः । कॄम् । क्रौ । कॄन् । क्रा । क्रे । इत्यादि । इत्यॄदन्ताः ।

'गम्लृ' 'शक्लृ' अनयोरनुकरणे अनङ्, गमा । शका । गुणविषये तु लपरत्वम्, गमलौ । गमलः । गमलम् । गमलौ । गमॄन् । गम्ला । गम्ले । ङसिङसोस्तु 'ऋत उत्' (सू २७९) इत्युत्वे लपरत्वे 'संयोगान्तस्य लोपः' (सू ५४) । गमुल् । शकुल् । इत्यादि । इति लृदन्ताः ।

पितरौ (ई. ६०, ७२)—पितृशब्दादौ विभक्तौ 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति गुणे रपरत्वे च कृते 'पितरौ' इति । अत्र व्युत्पत्तिपक्षे नप्त्रादिग्रहणस्य नियमार्थत्वात् 'अप्तृन्निति दीर्घो न । अव्युत्पत्तिपक्षे तु—तृन्तृजादिष्वनन्तर्भावात् दीर्घशङ्कैव नोदेतीति ।(प्र० पृ० ६८)

नृणाम् (ई. ६४)—नृशब्दादामि 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'नृ नाम्' इति स्थिते 'नामि' इति सूत्रं प्रबाध्य 'नृ च' इति विभाषया दीर्घे 'ऋवर्णान्नस्ये'ति णत्वे 'नॄणाम् इति । अत्र 'नामी'ति दीर्घस्तु न 'सकृद्गतौ यद्बाधितं तद्बाधितमेवे'ति न्यायस्य जागरूकत्वात् ।

कीः (ई. ६१)—'कॄ विक्षेपे' इति धातुः । तस्यानुकरणे 'अनुकणं प्रकृतिवद्भवति' इति पक्षे 'कॄ' इत्यस्यार्थवत्वेन प्रातिपदिकात् सौ ऋकारस्य ईत्वे रपरत्वे 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति दीर्घे सोर्हल्ङ्यादिलोपे रेफस्य विसर्गे उक्त रूपं सिद्धम् ।

गमुल् (ई. ६८)—गम्लृ शब्दात् ङसि 'ऋत उत्' इत्युत्वे लपरत्वे 'संयोगान्तस्य' इति सलोपे 'गमुल्' इति ।

सः । सयौ । सयः । स्मृतेः स्मृतयौ । स्मृतयः । इत्येदन्ताः ।

२८४ । गोतो णित् ७।१।९० । गोशब्दात्परं सर्वनामस्थानं णिद्वत्स्यात् । गौः । गावौ । गावः । २८५ । औतोऽम्शसोः ६।१।९३। 'आ ओतः' इति च्छेदः । ओकारादम्शसोरचि परे आकार एकादेशः स्यात् । शसा साहचर्यात्सुपेव अम् गृह्यते । नेह—अचिनवम् । असुनवम् । गाम् । गावौ । गाः । गवा । गवे । गोः इत्यादि । ५३ ओतो णिदिति वाच्यं, विहितविशेषणं च * । तेन—सुद्यौः । सुद्यावौ । सुद्यावः । 'ओकारान्ताद्विहितं सर्वनामस्थानम्' इति व्याख्यानान्नेह—हे भानो । हे भानवः । उः शम्भुः स्मृतो येन स स्मृतोः । स्मृतावौ । स्मृतावः । स्मृताम् । स्मृतावौ । स्मृताः । इत्यादि । इत्योदन्ताः ।

२८६ । रायो हलि ७।२।८५। रैशब्दस्य आकारोऽन्तादेशः स्याद्धलि विभक्तौ । राः । अच्यायादेशः, रायौ । रायः । रायम् । रायौ । रायः । राया । राभ्याम् । इत्यादि । इत्यैदन्ताः ।

गौः (ई. ६५)—गोशब्दात् सौ 'गोतो णित्' इति ओकारात्परस्य सर्वनामस्थानस्य 'सु' इत्यस्य णिद्वद्भावे 'अचोऽञ्णिति' इति वृद्धौ सस्य रुत्वे विसर्गे 'गौः' इति सिद्धम् । (अयं गौः, इत्यस्य अयं वृषभः इत्यर्थः) ।

गाम् (ई. ६८)—गोशब्दात् अमि 'गो अम्' इति स्थिते 'औतोऽम्शसोः' इत्यनेन ओकाराकारयोराकारादेशे उक्तं रूपं सिद्धम् । न चेह आरादेशो न स्यात्, परत्वात् णिद्वद्भावप्रवृत्तौ वृद्धिप्रसङ्गादिति वाच्यम् ? निरवकाशतया आत्वविधेः णिद्वद्भाववाधकत्वात् । नहि वृद्धिविषयादन्यत्र आत्वविधेः प्रसक्तिरस्तीति भावः ।

ओकारान्तादिति अयम्भावः—यदि सम्बुद्धिविषये ओकारस्यौत्वं स्यात्तर्हि सम्बुद्धिविषये सर्वत्र ओकाराभावेन 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' इति सूत्रमेव व्यर्थं स्यात् । तदेव व्यर्थं सत् सम्बुद्धौ ओकारस्यौत्वन्न भवतीति ज्ञापयति, तेन हे भानो इत्यत्र दोषाऽभावेऽपि जस्विभक्तौ गुणे कृते, भानो अस् इति स्थिते ओतः परत्वाण्णिद्वत्त्वे वृद्धौ आवादेशे भानावः इति स्यादित्यभिप्रेत्याह—हे भानव इति ।

राः (ई. ५६)—रैशब्दात् सौ विभक्तौ 'रायो हलि' इति रैशब्दस्य ऐकारस्य आकारादेशे सस्य रुत्वे विसर्गे 'राः' इति ।

(रै + ईशः = रायीशः, 'रयीश' इति भाषायाम्) ।

ग्लौः। ग्लावौ। ग्लावः। ग्लावम्। ग्लावौ। ग्लावः। इत्यादि। 'औतोऽम्शसोः' (सू २८५) इतीह न प्रवर्तते 'ऐऔच्' (म सू ४) इति सूत्रेण ओदौतोः सावर्ण्याभावज्ञापनात्। इत्यौदन्ताः।

इत्यजन्तपुंल्लिङ्गप्रकरम्।

अथ अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

रमा। २८७। **औङ आपः** ७।१।१८। आबन्तादङ्गात्परस्यौङः शी स्यात्। औङ् इत्यौकारविभक्तेः संज्ञा। रमे। रमाः। २८८। **सम्बुद्धौ च** ७।३।१०६। आप एकारः स्यात्सम्बुद्धौ। 'एङ्ह्रस्वात्—' (सू १९३) इति सम्बुद्धिलोपः। हे रमे। हे रमे। हे रमाः। रमाम्। रमे। रमाः, स्त्रीत्वान्नत्वाभावः। २८९। **आङि चापः** ७।३।१०५। आङि ओसि च परे आबन्तस्याङ्गस्यैकारः स्यात्। रमया। रमाभ्याम्। रमाभिः। २९०। **याडापः** ७।३।११३। आपः परस्य ङिद्वचनस्य याडागमः स्यात्। 'वृद्धिरेचि' (सू ७७)। रमायै। सवर्णदीर्घः, रमायाः २। रमयोः। रमाणाम्। रमायाम्। रमयोः। रमासु। एवं दुर्गादयः। २९१। **सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च** ७।३।११४। आबन्तात्सर्वनाम्नः परस्य ङितः स्याट् स्यादापश्च ह्रस्वः। याटोऽपवादः। सर्वस्यै। सर्वस्याः २। एकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणात् 'आमि सर्वनाम्नः—' (सू २१७) इति सुट्, सर्वासाम्। सर्वस्याम्। सर्वयोः। सर्वासु। एवं विश्वादय आबन्ताः। २९२। **विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ** १।१।२८। अत्र सर्व-

---

रमायाम् (ई. ६७)—रमाशब्दात् ङीविभक्तौ 'रमा इ' इति स्थिते 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' इत्यामादेशे 'याडापः' इत्याडागमे सवर्णदीर्घे उक्तं रूपं सिद्धम्।

सर्वासाम् (ई. ६४)—सर्वाशब्दात् आमि 'सर्वा आम्' इति स्थिते 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुटि 'सर्वासाम्' इति। नचात्र आमः अवर्णान्तसर्वनामाविहितत्वाभावे कथं सुडिति वाच्यम्, सवर्णदीर्घैकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणात्। किंच परादिवद्भावेन आबन्तत्वमादाय तस्य लिङ्गविशिष्टपरिभाषया सर्वनामत्वमिति न दोषः।

नामता वा स्यात्। उत्तरपूर्वस्यै उत्तरपूर्वायै। 'दिङ्नामान्यन्तराले' (सू ८४६) इति प्रतिपदोक्तस्य दिक्समासस्य ग्रहणान्नेह—योत्तरा सा पूर्वा यस्या उन्मुग्धायास्तस्यै उत्तरपूर्वायै। बहुव्रीहिग्रहणं स्पष्टार्थम्। अन्तरस्यै शालायै। बाह्यायै इत्यर्थः।—'अपुरि—' (वा ४२) इत्युक्तेर्नेह-अन्तरायै नगर्यै। २९३। **विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम्** ७।३।११५। आभ्यां ङितः स्याट् वा स्यादापश्च ह्रस्वः। इदं सूत्रं त्यक्तुं शक्यम् तीयस्य ङित्सूपसङ्ख्यानात्। द्वितीयस्यै—द्वितीयायै। द्वितीयस्याः—द्वितीयायाः २। द्वितीयस्याम्—द्वितीयायाम्। शेषं रमावत्। एवं तृतीया। 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (सू २६७) हे अम्ब। हे अक्क। हे अल्ल। **५४ असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न** *। हे अम्बाडे। हे अम्बाले। हे अम्बिके। जरा। जरसौ। शीभावात्परत्वाज्जरस्। आमि

उत्तरपूर्वस्यै (ई. ६५)—उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालमिति विग्रहे 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति समासनिष्पन्नात् उत्तरपूर्वाशब्दात् ङेविभक्तौ 'विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ' इति विभाषया सर्वनामसञ्ज्ञायां 'सर्वनाम्नः स्याड्—' इति स्याडागमे ह्रस्वे च कृते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'उत्तरपूर्वस्यै' इति। पक्षे सर्वनामसंज्ञाऽभावे 'याडापः' इति याटि वृद्धौ 'उत्तरपूर्वायै' इति।

उत्तरपूर्वायै (ई. ५८)—'विभाषा दिक्मासे बहुव्रीहौ' इति सूत्रेण लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति दिक्छब्दमुच्चार्य निष्पन्नप्रतिपदोक्तदिक्समास एव सर्वनामसंज्ञाविधानात् 'योत्तरा सा पूर्वा यस्याः उन्मुग्धायाः' इति विग्रहे 'अनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहिसमासनिष्पन्न 'उत्तरपूर्वाशब्दात् ङे विभक्तौ' 'याडापः' इति याटि 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'उत्तरपूर्वायै' इति।

हे अम्बिके (ई. ६३)—अम्बिकाशब्दस्य सम्बोधने 'हे अम्बिके' इति। अत्र 'सम्बुद्धौ च' इत्यनेन आकारस्य एकारे कृते 'एङ्ह्रस्वादि'ति सुलोपो भवति। 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' इत्यनेन ह्रस्वत्वन्तु न भवति, 'असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न' इति वार्तिकेन निषेधात्।

जरसौ (ई. ६७)—जराशब्दात् औविभक्तौ शीभावात् परत्वाज्जरसादेशे 'जरसौ' इति। अत्र जरसादेशस्य स्थानित्वेन आबन्तत्वमादाय श्यादेशस्तु न, आ आविति प्रश्लिष्य आकाररूपस्यैवापः सर्वत्र ग्रहणेन अल्विध्यात् स्थानिवत्वाऽप्राप्तेः।

नुटः परत्वात् जरस्, जरसाम् । इत्यादि । पक्षे हलादौ च रमावत् । इह पूर्वविप्रतिषेधेन शीभावं कृत्वा सन्निपातपरिभाषाया अनित्यतां चाश्रित्य 'जरसी' इति केचिदाहुः । तन्निर्मूलम् । यद्यपि जरसादेशस्य स्थानिवद्भावेनाबन्ततामाश्रित्य 'औङ आपः' (सू २८७) 'आङि चापः' (सू २८९) 'याडापः' (सू २९० 'ह्रस्वनद्यापः—' (सू २०८) 'ङेराम्—' (सू २७०) इति पञ्चापि विधयः प्राप्ताः । एवं नस्निश्पृत्सु । तथाप्यनल्विधावित्युक्तेर्न भवन्ति, 'आ आप्' इति प्रश्लिष्याऽऽकाररूपस्यैवापः सर्वत्र ग्रहणात् । एवं 'हल्ङ्याब्भ्यो दि—' (सू २५२) सूत्रेऽपि 'आ आप्' 'ङी ई' इति प्रश्लेषात् 'अतिखट्वः' 'निष्कौशाम्बिः'

जरसाम् (ई. ६४, ६८)—जराशब्दादामि 'जरा आम्' इति स्थिते 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति प्राप्तं नुटं बाधित्वा 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति परत्वाज्जरसादेशे उक्तं रूपं सिद्धम् । न च परत्वाज्जरसादेशेऽपि तस्य स्थानिवत्वेन आबन्ततया 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुट् स्यादिति वाच्यम्, 'अनल्विधौ' इत्यनेन स्थानिवद्भावनिषेधात् । नन्वाप्त्वस्याल्मात्रवृत्तित्वाऽभावात् कथं स्थानिवद्भावनिषेध इति चेन्न, 'ह्रस्वनद्यापः' इत्यत्र आप्पदे आकारात्पूर्वं सवर्णदीर्घेणाकारं प्रश्लिष्य—आकाररूपो य आप् तदन्तादङ्गादित्यर्थस्वीकारेण आप्त्वे 'अनल्विधौ' इत्यस्याऽप्रवृत्तावपि आप्त्वस्य आमात्रवृत्तिधर्मत्वेन 'अनल्विधा' विति निषेधात् ।

यद्यपि जरसादेशस्येति । अयम्भावः— जरसावित्यादौ जरसादेशस्य स्थानिद्भावेनाबन्तत्वमाश्रित्य 'औङ आपः' 'आङि चापः' 'याडापः' 'ह्रस्वनद्यापः' 'ङेराम्' इति पञ्चापि कार्याणि पाप्नुवन्ति, परञ्च 'अनल्विधौ' इति निषेधेन स्थानिवद्भावाभावेनाबन्तत्वाभावान्न भवन्ति । नचाबन्तत्वधर्मस्याल्मात्रवृत्तित्वाभावेन 'अनल्विधौ' इति निषेधो न स्यादिति वाच्यम् । 'औङ आपः' इत्यादिसूत्रे आकारस्य प्रश्लेषेण आकाररूपो य आप् तदन्तात्परस्य औङः शी स्यादित्याद्यर्थात् । तथाच—आकाररूपत्वधर्मः स्थानिवद्भावेन नह्यायास्यतीति पञ्चापि कार्याणि न भवन्ति इत्थञ्च 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति सूत्रे ङी ई आ आप् इति प्रश्लेषेण निष्कौशाम्बिरतिखट्व इत्यादि आकाररूपत्वधर्मस्यानयनं न स्यादिति सुलोपस्य प्रसङ्ग एव नास्तीति तदर्थं सूत्रे दीर्घग्रहणं कर्त्तव्यमिति ।

नचाकाररूपो य आप् तदन्तमित्याद्यर्थेऽपि अतिखट्वायेत्यत्र श्रूयमाणाऽकारः स्थानिवद्भावेनाप्त्वञ्चाश्रित्य याट् स्यादिति वाच्यम् । आबन्ततदाद्यभिन्नं यदङ्ग

इत्यादिसिद्धेर्दीर्घग्रहणं प्रत्याख्येयम् । न चैवमपि 'अतिखट्वाय' इत्यत्र स्वाश्रयमाकारत्वं स्थानिवद्भावेनाप्त्वं चाश्रित्य याट् स्यादिति वाच्यम्, आबन्तं यदङ्गं ततः परस्य याड्विधानात्, उपसर्जनस्त्रीप्रत्यये तदादिनियमात् । 'पद्दन्–' (सू २२८) इति नासिकाया नस् । नसः । नसा । नोभ्याम् । इत्यादि । पक्षे सुटि च रमावत् । निशाया निश् । निशः । निशा ।

२६४ । व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ८।२।३६। व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्याज्झलि पदान्ते च । षस्य जश्त्वेन डकारः । निड्भ्याम् । निड्भिः । सुपि 'डः सि' (सू १३१) इति पक्षे धुट् । चर्त्वम् । तस्यासिद्धत्वात् 'चयो द्वितीयाः–' (वा ३०) इति टतयोष्ठथौ न । 'न पदान्ताट्टोः–' (सू ११४) इति ष्टुत्वं न । निट्त्सु-निट्सु ।
२६५ । षढोः कः सि ८।२।४१। षस्य ढस्य च कः स्यात्सकारे परे । इति तु न भवति, जश्त्वं प्रत्यसिद्धत्वात् । केचित्तु व्रश्चादिसूत्रे 'दादेर्धातोः–'

ततः परस्य याट् स्यादित्यर्थात् । एवञ्चात्र यत् खट्वा इति आबन्ततदादि न च तदङ्गमस्ति, यच्चाङ्गं वर्तते अतिखट्वेति न च तत् आबन्ततदादीति याडप्रवृत्तिः ।

अतिखट्वाय (ई. ६६)—ननु याडाप इति सूत्रे आकारप्रश्लेषेऽपि अत्र दीर्घोत्तरमाकाररूपत्वस्य विद्यमानत्वेन स्थानिवत्त्वेनाप्त्वमाश्रित्य याट् कुतो नेति चेन्न, स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेनेति बलात् आबन्तं यत्तदादि तद्रूपादङ्गात् परस्य याडित्यर्थेनादोषात् ।

निटत्सु (ई. ६६, ७१)—निशाशब्दस्य सप्तमीबहुवचने 'पद्दन्–' इति सूत्रेण 'नश्' आदेशे 'निश् सु' इति स्थिते 'व्रश्चे'ति सूत्रेण शस्य षत्वे तस्य जश्त्वेन डकारे 'डः सि धुट्' इति धुटि डस्य धस्य च यथासंख्येन चर्त्वे उक्तं रूपं सिद्धम् । धुडभावपक्षे 'निट्सु' इति । ननु 'निट् त् सु' इति स्थिते तकारस्य ष्टुत्वं कुतो नेति चेन्न, 'स्वादिष्वि'ति पदत्वेन 'न पदान्ताट्टोरनाम्' इति निषेधात् । नच 'चयोः द्वितीया' इत्यनेन धुट्पक्षे तस्य थः, कुतो नेति वाच्यम्, 'नादिन्याक्रोशे' इति सूत्रभाष्ये 'चयो द्वितीया' इत्यस्य पाठदर्शनेन तत्तं त्र्ये चर्त्वस्य परत्वेन असिद्धत्वात् । नच जश्त्वात् प्राक् 'षढोः कः सि' इति षकारस्य ककारः शङ्क्यः, जश्त्वं प्रत्यसिद्धत्वात् ।

(सू ३२५) इति सूत्रात् 'धातोः' इत्यनुवर्तयन्ति । तन्मते जश्त्वेन जकारे निज्भ्याम् । निज्भिः । जश्त्वम् । श्चुत्वम् । चर्त्वम्, निच्शु । छत्वम्, निच्छु । 'चोः कुः' (सू ३७८) इति कुत्वं तु न भवति, जश्त्वस्यासिद्धत्वात् । ५५ मांसपृतनासानूनां मांस्पृत्स्नवो वाच्याः शसादौ वा* । पृतः । पृता । पृद्भ्याम् । पक्षे सुटि च रमावत् । गोपा विश्वपावत् । इत्यादन्ताः ।

मतिः । प्रायेण हरिवत् । स्त्रीत्वान्नत्वाभावः, मतीः । नात्वं न । मत्या । २९६ । ङिति ह्रस्वश्च १।४।६। इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ ह्रस्वौ चेवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति परे । 'आण्-

---

निज्भ्याम् (ई. ६८)—केचित्तु 'एकाचो वशः' इत्युत्तरसूत्रे धातोरित्यस्यानुवृत्त्या मध्ये व्रश्चादिसूत्रेपि 'दादेर्धातोर्घः' इति सूत्राद्धातोरित्यनुवर्तयन्ति तन्मते निशाशब्दस्य भ्यामि 'पद्दन्' इति सूत्रेण निशादेशे 'नश्भ्याम्' इति स्थिते निशित्यस्य धातुत्वाऽभावात् षत्वाऽभावे 'झलाञ्जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन शकारस्य स्थानसाम्याज्जकारे उक्तं रूपं सिद्धम् । कुत्वं तु न, जश्त्वस्याऽसिद्धत्वात् ।

निच्शु (७१, ७५)—मतान्तरे इदम् । सिद्धान्तिनस्तु—'निट्त्सु'—'निट्सु' इति वदन्ति । वस्तुतस्तु-तन्मन्दम् । 'एकाचो वशो भषझषन्तस्य स्ध्वोः' इत्युत्तरसूत्रे 'धातोः' इत्यस्यानुवृत्त्या तन्मध्यपतित 'व्रश्चा'दि सूत्रेऽपि तदनुवृत्तेरौचित्यात् । एवञ्च 'निश् सु' इति स्थिते शान्तस्य धातुत्वाभावेन 'व्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज-यज-राज-भ्राज-च्छशां षः' इत्यस्याऽप्रवृत्त्या 'झलां जशोन्ते' इति जश्त्वेन शकारस्य स्थानसाम्यात् तकारे कृते 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वेन शकारे कृते 'खरि च' इत्यनेन चर्त्वे 'निच्शु' इति । 'शश्छोटि' इति छत्वपक्षे निच्छु' इत्यपि ज्ञेयम् ।

ङिति ह्रस्वश्च—अत्र सूत्रे 'ङिति' इत्येकं वाक्यम् । इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दाभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ ङिति नदीसंज्ञौ वा स्तः इति तस्यार्थः । 'ह्रस्वश्च' इत्यपरं वाक्यम् । 'ह्रस्वौ इवर्णोवर्णौ ङिति स्त्रियां नदीसंज्ञौ वा स्तः' इति तस्यार्थः । अत्र 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इत्यतो अनुवृत्तम् अस्त्रीति तु इयङुवङ्स्थानावित्यादिप्रथमवाक्यविहितनदीत्वस्यैव पर्युदासः, न तु ह्रस्वावित्यादिद्वितीयवाक्यविहितनदीत्वस्याऽपि, तत्सम्बद्धस्यैवानुवृत्तेः ।

नद्याः' (सू २६८) मत्यै-मतये । मत्याः-मतेः २ । नदीत्वपक्षे 'औत्' (सू २५६) इति ङेरौत्त्वे प्राप्ते । २९७ । इदुद्भ्याम् ७।३।११७। नदीसंज्ञकाभ्यामिदुद्भ्यां परस्य ङेराम् स्यात् । पक्षे 'अच्च घेः' (सू २४७) मत्याम् मतौ । एवं श्रुतिस्मृत्यादयः । २९८ । त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ७।२।९९। स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतावादेशौ स्तो विभक्तौ परतः । २९९ । अचि र ऋतः ७।२।१००। तिसृ चतसृ एतयोर्ऋकारस्य रेफादेशः स्यादचि । गुणदीर्घोत्त्वानामपवादः । तिस्रः २ । आमि 'नुमचिर—' (वा ५०) इति नुट् । ३०० । न तिसृचतसृ ६।४।४। एतयोर्नामि दीर्घो न स्यात् तिसृणाम् । तिसृषु । 'स्त्रियाम्' इति त्रिचतुरोर्विशेषणान्नेह—प्रियास्त्रयस्त्रीणि वा यस्याः

मत्यै (ई. ६३, ७०)—मतिशब्दात् ङेविभक्तौ अनुबन्धलोपे 'मति ए' इति जाते 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञायाम् 'आण्नद्याः' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि 'मत्यै' इति । नदीत्वाभावे 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे 'एचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'मतये' इति सिद्धम् ।

मत्याम् (ई. ६२, ६८, ७१)—मतिशब्दात् ङिविभक्तौ 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञायाम् 'इदुद्भ्याम्' इति ङेरामि कृते स्थानिवद्भावेन ङित्वमादाय 'आण्नद्याः' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि 'मत्याम्' इति । 'नदीसंज्ञाभावे 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'अच्च घेः' इति ङेरौत्वे घेरकारादेशे च कृते 'वृद्धि रेऽचि' इति वृद्धौ 'मतौ' इति ।

तिस्रः (ई. ७५)—त्रिशब्दाज्जसि शसि च विभक्तौ 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति तिस्रादेशे 'ऋतो ङि—' इति गुणं प्रबाध्य पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तमपि प्रबाध्य 'अचि र ऋतः' इति रेफादेशे सस्य रुत्वे विसर्गे 'तिस्रः' इति ।

तिसृणाम् (ई. ७३)—त्रिशब्दादामि विभक्तौ 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति त्रिशब्दस्य तिस्रादेशे 'तिसृ आम्' इति स्थिते 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इत्युक्त्या 'अचि र ऋतः' इति प्राप्तं रेफादेशं बाधित्वा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घे प्राप्ते 'न तिसृचतसृ' इति निषेधे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति णत्वे 'तिसृणाम्' इति ।

स्त्रियामिति त्रिचतुरोः (ई. ७१)—अयं भावः श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयानिति न्यायेन स्त्रियामित्यस्य त्रिचतुरोरेव विशेषणत्वन्नत्वङ्गस्य,

सा प्रियत्रिः । मतिवत् । आमि तु 'प्रियत्रयाणाम्' इति विशेषः । 'प्रियास्तिस्रो यस्य सः' इति विग्रहे तु प्रियतिसा । प्रियतिस्रौ । प्रियतिस्रः । प्रियतिस्रम् । इत्यादि । प्रियास्तिस्रो यस्य तत्कुलं प्रियत्रि । स्वमोर्लुका लुप्तत्वेन प्रत्ययलक्षणाभावान्न तिस्रादेशः । 'न लुमता—' (सू २६३) इति निषेधस्यानित्यत्वात्पक्षे प्रियतिसृ । ५६ रादेशात्पूर्वविप्रतिषेधेन नुम्* । प्रियतिसृणी ।

तेन प्रियास्त्रयस्त्रीणि वा यस्या इत्यर्थे प्रियत्रिशब्दस्य मतिवद्रूपम् । आमि तु प्रियत्रयाणामिति विशेषः । प्रियास्तिस्रो यस्येत्यर्थे तिस्रादेशे प्रियतिस्रावित्यादि । प्रियास्तिस्रो यस्य तत्कुलमित्यर्थे स्वमोर्लुक्यपि न लुमतेति निषेधस्यानित्यत्वात्पक्षे तिस्रादेशे प्रियत्रि प्रियतिसृ इति । अन्यत्र रादेशात्पूर्वविप्रतिषेधेन नुमि प्रियतिसृणी इत्यादि, टादौ तृतीयादिष्विति पुंवद्भावे प्रियतिस्रा प्रियतिसृणेत्यादीति ।

प्रियतिसा (ई. ७४)—'श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्' इति न्यायेन स्त्रियामित्यस्य त्रिचतुरोरेव विशेषणं न त्वङ्गस्य, तेन 'प्रियास्तिस्रो यस्य इति विग्रहे समासे 'स्त्रियाः पुंवत्' इति प्रियशब्दस्य पुंवद्भावे 'प्रियत्रि' इति । तस्मात् सौ, प्रियत्रिशब्दस्य पुंल्लिगत्वेपि त्रिशदस्य स्त्रीलिङ्गत्वात् तिस्रादेशे 'ऋदुशनस' इत्यनङि, दीर्घे, सुलोपे 'प्रियतिसा' इति सिद्धम् ।

प्रियत्रि (ई. ७०, ७२)—प्रियास्तिस्रो यस्य तत्कुलमिति विग्रहे त्रिशब्दस्य स्त्रियां वर्तमानत्वेऽपि 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति तिस्रादेशो न भवति, प्रियत्रिशब्दात् परस्य प्रथमैकवचनविभक्तेः सकारस्य 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति लुप्तत्वात्, 'न लुमताङ्गस्य' इति प्रत्ययलक्षणनिषेधाच्च । 'इकोऽचि विभक्तौ' इति सूत्रस्य—अचिग्रहणेन 'न लुमताङ्गस्य' इत्यस्यानित्यत्वपक्षे तु प्रत्ययलक्षणेन विभक्तिपरकत्वात् तिस्रादेशे 'प्रियतिसृ' इति केचित् ।

प्रियतिसृ (ई. ७४)—प्रियास्तिस्रो यस्य तत्कुलं 'प्रियतिसृ' इति । प्रियत्रिशब्दात् सौ तस्य लुकि 'न लुमते'त्यस्य अनित्यत्वपक्षे प्रत्ययलक्षणेन विभक्तिपरकत्वात् 'त्रिचतुरोः' इति तिस्रादेशे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

'न लुमते'त्यस्यानित्यत्वे 'इकोऽचि विभक्तौ' इति सूत्रस्य 'अज् ग्रहणं लिङ्गम् । तत्र हि हलादिषु भ्यामादिषु सत्यपि नुमि 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इत्यनेनैव लोपसम्भवात् अचीति व्यर्थं स्यात् । नच सम्बुद्धिव्यावृत्त्यर्थमज्ग्रहणं,

प्रियतिसृणि । तृतीयादिषु वक्ष्यमाणपुंवद्भावविकल्पात्पर्यायेण नुम्रभावौ, प्रियत्रिणा । प्रियतिसृणा । इत्यादि । द्वेरत्वे सत्याप् । द्वे २ । द्वाभ्याम् ३ । द्वयोः २ । इति इदन्ताः ।

गौरी । गौर्यौ । गौर्यः । नदीकार्यम्—हे गौरि । गौर्यै । इत्यादि । एवं वाणीनद्यादयः । प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणादनङि णिद्वद्भावे च प्राप्ते 'विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्' (प ७४)। सखी । सख्यौ । सख्यः । इत्यादि । गौरीवत् । अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः लक्ष्मीः । शेषं गौरीवत् । एवं तरीतन्त्र्यादयः । स्त्री । हे स्त्रि । ३०१ । स्त्रियाः ६।४।७९। स्त्रीशब्दस्येयङ् स्यादजादौ प्रत्यये परे । स्त्रियौ । स्त्रियः । ३०२ । **वाऽम्शसोः** ६।३।८०। अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा स्यात् । स्त्रियम्—स्त्रीम् । स्त्रियौ । स्त्रियः—स्त्रीः । स्त्रिया । स्त्रियै । स्त्रियाः २ । स्त्रियोः परत्वान्नुट् स्त्रीणाम् । स्त्रियाम् । स्त्रियोः । स्त्रीषु । स्त्रियमतिक्रान्तोऽतिस्त्रिः । अतिस्त्रियौ ।

'गुणनाभावौत्त्वनुड्भिः परत्वात् पुंसि बाध्यते ।
क्लीवे नुमा च स्त्रीशब्दस्येयङित्यवधार्यताम् ॥'

'जसि च' (सू २४१) अतिस्त्रयः । हे अतिस्त्रे । हे अतिस्त्रियौ । हे अतिस्त्रयः 'वाऽम्शसोः' (सू ३०२) । अतिस्त्रियम् । अतिस्त्रिम् । अतिस्त्रि-

---

तत्रहि नुमि सति 'न ङिसम्बुद्धयोः' इति निषेधेन नकारश्रवणादिति वाच्यम्, सम्बुद्धेर्लुका लुप्ततया प्रत्ययलक्षणाभावेन तत्र नुमः प्राप्तेरभावात् । अत एव 'हे त्रपो, हे त्रपु' इति भाष्योदाहरणं सङ्गच्छते ।

प्रियतिस्रा (ई. ६८)—प्रियास्तिस्रो यस्य तत्कुलं 'प्रियत्रि' इति । अस्मात् प्रियत्रिशब्दात् टाविभक्तौ अनुबन्धलोपे 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य' इत्यनेन पुंवद्भावपक्षे नुमभावात् 'अचि र ऋतः' इत्यनेन रत्वे तिस्रादेशे उक्तं रूपं सिद्धम् । पुंवत्त्वाभावपक्षे तु तिस्रादेशे 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि णत्वे 'प्रियतिसृणा' इति ।

सखी (ई. ७१)—'सख्यशिश्वीति भाषायाम्' इति सखिशब्दात् ङीषि सखीशब्दः, तस्य सौ 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' इति परिभाषया 'अनङ् सौ' इत्यनङि णिद्वद्भावे च प्राप्ते 'विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्' इति निषेधे हल्ङ्यादिना सोर्लोपे 'सखी' इति ।

यौ। अतिस्त्रियः—अतिस्त्रीन्। अतिस्त्रिणा। 'घेर्ङिति' (सू २४५)। अतिस्त्रये। अतिस्त्रेः २। अतिस्त्रियोः २। अतिस्त्रीणाम्। 'अच्च घेः' (सू २४७)। अतिस्त्रौ।

'ओस्यौकारे च नित्यं स्यादम्शसोस्तु विभाषया।
इयादेशोऽचि नान्यत्र स्त्रियाः पुंस्युपसर्जने॥'

क्लीबे तु नुम्। अतिस्त्रि। अतिस्त्रिणी। अतिस्त्रीणि। अतिस्त्रिणा। अतिस्त्रिणे। ङेप्रभृतावजादौ वक्ष्यमाणपुंवद्भावात्पक्षे प्राग्वद्रूपम्। अतिस्त्रये। अतिस्त्रिणः। अतिस्त्रेः २। अतिस्त्रिणोः-अतिस्त्रियोः २। इत्यादि। स्त्रियां तु प्रायेण पुंवत्। शसि, अतिस्त्रीः। अतिस्त्रिया। 'ङिति ह्रस्वश्च' (सू २९६) इति ह्रस्वान्तत्वप्रयुक्तो विकल्पः। 'अस्त्री' इति तु इयङुवङ्स्थानावित्यस्यैव पर्युदासः, तत्सम्बद्धस्यैवानुवृत्तेः दीर्घस्यायं निषेधः, न तु ह्रस्वस्य। अतिस्त्रियै—अतिस्त्रये। अतिस्त्रियाः २—अतिस्त्रेः २। अतिस्त्रीणाम्। अतिस्त्रियाम्—अतिस्त्रौ। श्रीः श्रियौ श्रियः। ३०३। **नेयङुवङ्स्थानावस्त्री** १।४।४। इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तः, न तु स्त्री। हे श्रीः। श्रियै—श्रिये श्रियाः श्रियः। ३०४। **वामि** १।४।५। इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तः, न तु स्त्री। श्रीणाम्—श्रियाम्। श्रियि—श्रीयाम्।

अतिस्त्रये (ई. ६३, ६८, ७२)—स्त्रियमतिक्रान्तः इति विग्रहे अतिस्त्रिशब्दात् ङेविभक्तौ 'गुणनाभावोत्वनुड्भिः परत्वात् पुंसि बाध्यते' इति हरिकारिकोक्तत्वात् इयङ बाधित्वा 'घेर्ङिति' इति घित्वाद् गुणे अयादेशे उक्तं रूपं सिद्धम्। स्त्रियमतिक्रान्तेति विग्रहे तु 'ङिति ह्रस्वश्च' इति नदीत्वादाटि इयङि 'अतिस्त्रियै' इति नदीत्वाभावे 'अतिस्त्रये' इति।

हे श्रीः (ई. ५८)—श्रीशब्दात् सम्बुद्धिविवक्षायां सौ सकारस्य रुत्वे विसर्गे रूपं सिद्धम्। 'युस्त्र्याख्यौ नदी' इति नदीत्वात् 'अम्बार्थे'ति ह्रस्वत्वं तु न 'नेयङुवङ्स्थानास्त्री' इति नदीत्वप्रतिषेधात्। सुलोपस्तु न, अङ्यन्तत्वात्।

श्रीणाम् (ई. ६६. ६७)—श्रीशब्दादामि विभक्तौ 'वाऽमि' इति नदीसंज्ञायां 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे पर्यन्यवल्लक्षणप्रवृत्त्या 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'श्रीणाम्' इति। नदीत्वाभावे अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' इति इयङि 'श्रियाम्' इति भवति।

'प्रधी'—शब्दस्य तु वृत्तिकारादीनां मते लक्ष्मीवद्रूपम्, 'पदान्तरं विनापि स्त्रियां वर्तमानत्वं नित्यस्त्रीत्वम्' इति स्वीकारात्। 'लिङ्गान्तरानभिधायकत्वं तत्' इति कैयटमते तु पुंवद्रूपम्। 'प्रकृष्टाः धीः' इति विग्रहे तु 'लक्ष्मी'—वत्। अमि शसि च 'प्रध्यम्' 'प्रध्यः' इति विशेषः। सुष्ठु धीर्यस्याः सुष्ठु ध्यायति वेति विग्रहे तु वृत्तिकारमते सुधीः 'श्री'वत्। मतान्तरे तु पुंवत्। 'सुष्ठु धीः' इति विग्रहे तु 'श्री'वदेव। 'ग्रामणीः' पुंवत्, ग्रामनयनस्योत्सर्गतः पुंधर्मतया पदान्तरं विना स्त्रियामप्रवृत्तेः। एवं खलपवनादेरपि पुंधर्मत्वमौत्सर्गिकं बोध्यम्। इति ईदन्ताः।

धेनुः। 'मति'वत्। ३०५। स्त्रियां च ७।१।९६। स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते। ३०६। ऋन्नेभ्यो ङीप् ४।१।५। ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप् स्यात्। क्रोष्ट्री। क्रोष्ट्र्यौ। कोष्ट्र्यः। इत्युदन्ताः।

वधूः। गौरीवत्। भ्रूः। श्रीवत्। हे सुभ्रूः। कथं तर्हि, 'हा पितः क्वासि हे सुभ्रु' इति भट्टिः। प्रमाद एवायमिति बहवः। खलपूः। पुंवत्। पुनर्भूः। 'दृन्कर—' (वा ५१) इति यणा उवङो बाधनात् 'नेयङुवङ्—' (सू ३०३) इति निषेधो न। हे पुनर्भु। पुनर्भ्वम्। पुनर्भ्वौ। पुनर्भ्वः। ३०७। एकाजुत्तरपदे णः ८।४।१२। एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य नित्यं णत्वं स्यात् आरम्भसामर्थ्यान्नित्यत्वे सिद्धे पुनर्णग्रहणं स्पष्टार्थम्। यणं बाधित्वा परत्वान्नुट्

प्रधीशब्दस्येति—आध्यै प्रध्यै ग्राम्ण्यै इति भाष्यप्रयोगेण पदान्तरं विनापि स्त्रियां वर्तमानत्वं नित्यस्त्रीत्वमिति वृत्तिकारमते प्रकृष्टं ध्यायतीत्यर्थे प्रधीशब्दस्य नित्यस्त्रीलिङ्गतया लक्ष्मीवद् रूपम्। उक्तभाष्यप्रयोगे बहुव्रीहिमाश्रित्य लिङ्गान्तरानभिधायकत्वं नित्यस्त्रीत्वमिति कैयटमते उक्तेऽर्थे प्रधीशब्दस्य पुंवद् रूपम्। प्रकृष्टा धीरित्यर्थे उभयमते लक्ष्मीवद्रूपम्। एवं सुष्ठु ध्यायतीत्यर्थे सुधीशब्दस्य वृत्तिकारमते लक्ष्मीवत्, कैयटमते पुंवत्। ग्रामणीकटप्रू-खलपू-इत्यादीनामुभयमतेऽपि पुंवदेव, ग्रामनयनादेः स्वभावतः पुंसो धर्मत्वात्।

कथं तर्हि हा पितः क्वासि हे सुभ्रु (ई. ६५)—ऊङ्प्रत्ययान्तोऽयं सुभ्रूशब्दः। तेन 'हे सुभ्रूः' इत्यत्र अस्त्रीप्रत्ययान्तत्वात् 'गोस्त्रियोः—' इति

पुनर्भूणाम् । वर्षाभूः । भेकजातौ नित्यस्त्रीत्वाभावात् 'हे वर्षाभूः' कैयटमते । मतान्तरे तु–हे वर्षाभु । पुनर्नवायां तु–हे वर्षाभु । 'भेक्यां पुनर्नवायां स्त्री वर्षाभूर्दर्दुरे पुमान्' इति यादवः । वर्षाभ्वौ । वर्षाभ्वः । स्वयम्भूः । पुंवत् । इत्यूदन्ताः ।

३०८ । न षट्स्वस्रादिभ्यः ४।१।१० । षट्संज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च ङीप्टापौ न स्तः ।

'स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥'

'अप्तृन्—' (सू २७७) इति दीर्घः । स्वसा । स्वसारौ । स्वसारः । माता । पितृवत् । शसि मातॄः । इत्यृदन्ताः ।

द्यौः । गोवत् । इत्योदन्ताः । राः । पुंवत् । इत्यैदन्ताः । नौः । ग्लौवत् । इत्यौदन्ताः ।

इत्यजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

ह्रस्वो न भवति । 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' इति निषेधेन नदीत्वाभावात् 'अम्बार्थेति' ह्रस्वत्वं च न भवति । ननु तर्हि 'हा पितः क्वाऽसि हे सुभ्रु' इति भट्टिप्रयोगः कथमिति चेदुच्यते 'प्रमाद एवाऽयमिति बहवः' । केचित्तु सामन्ये नपुंसकत्वमाश्रित्य कथंचित् समादधुः ।

पुनर्भूणाम् (ई. ५८, ६०, ६३)—पुनर्भूशब्दात् आमि 'दृन्करपुनः पूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः' इति प्राप्तं यणं प्रबाध्य परत्वात् नद्यन्तत्वान्नुटि दीर्घे 'एकाजुत्तरपदे णः' इति णत्वे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

स्वसा (ई. ५८)—स्वसृशब्दात् सौ 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीपि प्राप्ते 'न षट्स्वस्रादिभ्यः पञ्चभ्यः' इति तन्निषेधे 'ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसां च' इत्यनङि अनुबन्धलोपे 'स्वसन् स्' इति जाते 'अप्तृन्तृच्—' इति दीर्घे हल्ङ्यादिलोपे 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे स्वसा इति ।

इति अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

अथ अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

३०९। अतोऽम् ७।१।२४। अतोऽङ्गात्क्लीबात्स्वमोरम्स्यात् । 'अमि पूर्वः' (सू १९४) ज्ञानम् । 'एङ्ह्रस्वात्—' (सू १९३) इति हल्मात्रलोपः, हे ज्ञान। ३१०। नपुंसकाच्च ७।१।१९। क्लीबात्परस्यौङः शी स्यात् । भसंज्ञायाम् । ३११ । यस्येति च ६।४।१४८। भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः स्यादीकारे तद्धिते च परे । इत्यकारलोपे प्राप्ते । ५७ औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः॥ । ज्ञाने । ३१२ । जश्शसोः शिः ७।१।२०। क्लीबादनयोः शिः स्यात् । ३१३ । शि सर्वनामस्थानम् १।१।४२। 'शि' इत्येतदुक्तसंज्ञं स्यात् । ३१४ । नपुंसकस्य झलचः ७।१।७२। झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुमागमः स्यात्सर्वनामस्थाने परे । उपधादीर्घः, ज्ञानानि । पुनस्तद्वत् । शेषं रामवत् । एवं धनवनफलादयः ।

३१५ । अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ७।१।२५। एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्डादेशः स्यात् । ३१६ । टेः ६।४।१४३। डिति परे भस्य टेर्लोपः स्यात् । 'वाऽवसाने' (सू २०६) कतरत्-कतरद् । कतरे । कतराणि । 'भस्य' इति किम् ? पञ्चमः । टेर्लुप्तत्वात् 'प्रथमयोः —' (सू १६४) इति पूर्वसवर्णदीर्घः 'एङ्ह्रस्वात्-' (सू १९३) इति सम्बुद्धिलोपश्च न भवति । हे कतरत् ।

ज्ञानानि (ई. ५६, ६३)—ज्ञानशब्दात् जसि शसि च विभक्तौ 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति 'शि' इत्यस्य सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि अनुबन्धलोपे 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति दीर्घे 'ज्ञानानि' इति ।

कतरत् (ई. ६७)—कतरशब्दात् सौ 'अतोऽम्' इति सूत्रं प्रबाध्य 'अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' इति सोरद्डि अनुबन्धलोपे 'कतर अद' इति दशायां क्लीबे 'शि' इत्यस्यैव सर्वनामस्थानसंज्ञाविधानात् असर्वनामस्थानिके 'अदि' परे 'यचि भम्' इति 'कतर' इत्यस्य भसंज्ञायां 'टेः' इति टिलोपे 'वाऽवसाने' इति चर्त्वे 'कतरत्' इति । चर्त्वाऽभावे 'कतरद' इति ।

हे कतरद् (ई. ५७)—कतरशब्दात् सम्बोधनविवक्षायां सौ तस्य 'अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' इत्यनेन अद्डादेशे डित्वात् 'टेः' इति टिलोपे

पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। कतमत्। अन्यत्। अन्यतरत्। इतरत्। अन्यतम-शब्दस्य तु 'अन्यतमम्' इत्येव। ५८ एकतरात्प्रतिषेधो वक्तव्यः ॐ। एकतरम्। सोरमादेशे कृते सन्निपातपरिभाषया न जरस्, अजरम्। अजरसी-अजरे। परत्वाज्जरसि कृते झलन्तत्वान्नुम्। ३१७। सान्तमहतः संयोगस्य ६।४।१०। सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे। अजरांसि—अजराणि। अमि लुकोऽपवादमम्भावं बाधित्वा परत्वाज्जरस्। ततः सन्निपातपरिभाषया न लुक्। अजरसम्-अजरम्। अजरसी-अजरे। अजरांसि—अजराणि। शेषं पुंवत्। 'पद्दन्न—' (सू २२८) इति हृदयोदकास्यानां हृद् उदन् आसन्। हृन्दि। हृदा। हृद्भ्याम्। इत्यादि। उदानि। उद्ना। उद्भ्याम्। इत्यादि। आसानि। आस्ना। आसभ्याम्। इत्यादि। मांसि। मांसा। मान्भ्याम् इत्यादि। वस्तुतस्तु प्रभृतिग्रहणं प्रकारार्थमित्युक्तम्। अत एव भाष्ये 'मांस्पचन्या उखायाः' इत्युदाहृतम्। अयस्म-

---

हल्ङ्यादिना सुलोपे 'वावमाने' इति चत्वें उक्तं रूपं सिद्धम्। ननु अद्विधानेनैव पररूपेण इष्टसिद्धेः ङित्करणं किमर्थमिति चेन्न, तथासति पररूपं बाधित्वा पूर्वसवर्णदीर्घापत्तेः। नचैवं पूर्वसवर्णदीर्घाऽभावाय सोर्दंकार एव विधीयतामिति वाच्यम्, सोर्दंकारादेशे सति तस्य स्थानिवत्वेन सम्बुद्धित्वात् ह्रस्वान्ताङ्गात्परत्वाच्च 'एङः ह्रस्वादि'ति सम्बुद्धिलोपः स्यात्।

अजरसम् (ई. ५८, ६२, ६४,)—'अजर अम्' इति स्थिते 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति लुक्प्राप्तस्तं बाधित्वा तदपवादः 'अतोऽम्' इत्यम्भावः प्राप्तः, तं बाधित्वा 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति परत्वाज्जरस्, 'अजरसम्' इति। न च लुगपवादस्याम्भावस्य जरसादेशेन बाधितत्वात् 'अपवादे निषिद्धे पुनरुत्सर्गस्य स्थितिः' इति न्यायात् अमो लुक् स्यादिति वाच्यम् ? जरसादेशान्तरम्-अम्सन्निपातमाश्रित्य प्रवृत्तस्य जरसः अमो लुकि निमित्तत्वाभावादित्यलम्।

अजरांसि (ई. ७०, ७३, ७४)—अजरशब्दात् जसि अनुबन्धलोपे 'अजर अस्' इतिस्थिते जरसः पूर्वमेव शिभावे कृते तस्य सर्वनामस्थानत्वात् तस्मिन् परे नुमजरसोः प्राप्तयोः, नुमपेक्षया परत्वाज्जरसि ततो झलन्तत्वान्नुमि 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति दीर्घे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'अजरांसि' इति।

यादित्वेन भत्वात्संयोगान्तलोपो न। 'पद्दन्न—' (सू २२८) इत्यत्र हि 'छन्दसि' इत्यनुवर्तितं वृत्तौ। तथापि 'अपो भि' (सू ४४३) इत्यत्र 'मासश्छन्दसि' इति वार्तिके 'छन्दोग्रहणसामर्थ्याल्लोकेऽपि क्वचित्' इति कैयटोक्तरीत्या प्रयोगमनुसृत्य पदादयः प्रयोक्तव्या इति बोध्यम्। इत्यदन्तप्रकरणम्।

३१८। **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** १।२।४७। क्लीबे प्रातिपदिकस्याजन्तस्य ह्रस्वः स्यात्। श्रीपम्। ज्ञानवत्। श्रीपाय। अत्र सन्निपातपरिभाषया 'आतो धातोः' (सू २४०) इत्याकारलोपो न। इत्यादन्ताः।

३१९। **स्वमोर्नपुंसकात्** ७।१।२३। क्लीबादङ्गात्परयोः स्वमोर्लुक् स्यात्। वारि। ३२०। **इकोऽचि विभक्तौ** ७।१।७३। इगन्तस्य क्लीबस्य नुमागमः स्यादचि विभक्तौ। वारिणी। वारीणि। 'न लुमता—' (सू २६३)

श्रीपाय (ई. ६०, ६८, ६९)—श्रीपाशब्दात् ङौ 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वे ङेर्यादेशे 'सुपि च' इति दीर्घे 'श्रीपाय' इति। सन्निपातपरिभाषा' तु 'कष्टाय क्रमणे' इति निर्देशात् न प्रवर्तते। नन्वत्र ह्रस्वत्वे कृतेऽपि 'प' इत्यस्य 'एकदेशविकृत' न्यायेन धातुत्वानपायात् दीर्घे कृते आकारान्तत्वाच्च 'आतो धातोः' इत्याल्लोपः स्यात्, यादेशस्य स्वतो यकारादितया स्थानिवत्त्वेन स्वादिप्रत्ययतया च तस्मिन् परे भत्वस्यापि सत्त्वादिति चेन्न, 'सन्निपातपरिभाषा' विरोधात्। तथाहि—ह्रस्वत्वमवर्णत्वञ्च समुदित यादेशस्य उपजीव्यम्, तत्र 'कष्टाय' इति निर्देशात् सन्निपातपरिभाषां बाधित्वा कृतेऽपि दीर्घे ह्रस्वांश एव निवृत्तिः। अवर्णत्वांशस्त्वनुवृत्त एव, तस्याल्लोपेन निवृत्तौ उपजीव्यविघातः स्यादेवेति, भवेदेव सन्निपातपरिभाषाविरोधः। वस्तुतस्तु—'आतो धातोः' इत्यत्र 'लक्षणप्रतिपदोक्त' परिभाषया प्रतिपदोक्ताऽऽकारस्य ग्रहणात् प्रकृते आकारस्य लाक्षणिकत्वेन लोपप्रसक्तिरेव नास्तीति दिक्।

'न लुमते'त्यस्याऽनित्यत्वे किं मानम्?—'इकोऽचि विभक्तौ' इत्यत्र अज्ग्रहणं किमर्थम्, हलादिषु भ्यामादिषु हि सत्यपि नुमि 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्ये'ति नस्य लोपसम्भवात्। न च सम्बुद्धिव्यावृत्यर्थमज्ग्रहणम्, अन्यथा तत्र नुमि सति 'न ङिसम्बुद्ध्योः' इति निषेधेन नकारश्रवणप्रसङ्गः स्यादिति वाच्यम्, सम्बुद्धेर्लुका लुप्ततया प्रत्ययलक्षणाभावेन तत्र नुमः प्राप्तेरभावात्। 'न लुमते'त्यस्याऽनित्यत्वे तु सम्बुद्धौ प्रत्ययलक्षणेन प्राप्तं नुमं वारयितुम् अज्ग्रहणं सफलमित्यज्ग्रहणं 'न लुमते'त्यस्याऽनित्यत्वे लिङ्गमिति।

इति निषेधस्यानित्यत्वात्पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः, हे वारे-हे वारि। 'आङो ना-' (सू २४४), वारिणा। 'घेर्ङिति' (सू २४५) इति गुणे प्राप्ते ५६ वृद्ध्यौत्त्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन*। वारिणे। वारिणः। वारिणोः। 'नुमचिर-' (वा ५०) इति नुट्, नामि (सू २०६) इति दीर्घः, वारीणाम्। वारिणि। वारिणोः। हलादौ हरिवत्। ३२१। तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य ७।१।७४। प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद्वा स्याट्टादावचि। अनादये-अनादिने। इत्यादि। शेषं वारिवत्।

हे वारे (ई. ६५)—वारिशब्दात् सम्बोधनैकवचने सौ 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि 'न लुमताङ्गस्य' इत्यस्यानित्वपक्षे 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इति प्रत्ययलक्षणेन 'ह्रस्वस्य गुणः' इति सम्बुद्धिनिमित्तके गुणे 'हे वारे' इति। 'न लुमते' त्यस्य नित्यत्वपक्षे तु 'हे वारि' इति। अत एव 'हे अपो-हे अपु' इति भाष्योदाहरणं सङ्गच्छते।

वृद्ध्यौत्त्वेति (ई. ५८, ६७)—'अचोञ्णिति इति वृद्धेः, अच्च घेः इति औत्वात्, 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति तृज्वद्भावात्, घेर्ङिति इति गुणात् पूर्वं पूर्वविप्रतिषेधेन 'नुम्' इति वार्तिकस्यार्थः। 'अतिसखिनो' 'वारिणी' 'प्रियक्रोष्टूनि' 'वारिणे' इति क्रमेण उदाहदणानि।

वारिणे (ई. ६४)—वारिशब्दात् चतुर्थ्येकवचने 'वारि ए' इति दशायां 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते 'वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भाव-गुणेभ्यो नुम्पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधस्य प्रबलत्वात् 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'वारिणे' इति जातम्।

वारीणाम् (ई. ६३)—वारिशब्दाद् आम्विभक्तौ 'वारि आम्' इति स्थिते परत्वात् नुटं बाधित्वा 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि, तं बाधित्वा-'नुमचिरे'ति नुटि 'नामि' इति दीर्घे, 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वे 'वारीणाम् इति। नुमि कृते 'नामि' इति दीर्घो न स्यात्, सन्निपातपरिभाषाविरोधात्।

अनादये (ई. ५६, ७२)—न आदिः=अनादिः, तस्मै 'अनादये-अनादिने इति। अनादिशब्दात् ङेविभक्तौ 'तृतीयादिषु भाषितपुस्कं पुंवद्गालवस्य' इति विभाषया पुंवत्वे सति 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमोऽप्रवृत्तेः शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'घेर्ङिति' इति गुणे अयादेशे 'अनादये' इति। पुंवत्त्वाऽभाव-पक्षे—नुमि 'अनादिने' इति।

पीलुर्वृक्षस्तत्फलं पीलु, तस्मै पीलुने। अत्र न पुंवत्, प्रवृत्तिनिमित्तभेदात्। ३२२। अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ७।१।७५। एषामनङ् स्यात् टादावचि, स चोदात्तः। 'अल्लोपोऽनः' (सू २३४)। दध्ना। दध्ने। दध्नः २। दध्नोः २। दध्नाम्। दध्नि-दधनि। शेषं वारिवत्। एवमस्थिसक्थ्यक्षीणि। तदन्तस्याप्यनङ्, अतिदध्ना। इति इदन्तप्रकरणम्।

सुधि। सुधिनी। सुधीनि। हे सुधे-हे सुधि। सुधिया-सुधिना। प्रध्या-प्रधिना। इति ईदन्तप्रकरणम्।

अनादिशब्दस्य कथं भाषितपुंस्कत्वमिति चेच्छृणु-भाषितः पुमान् येन प्रवृत्तनिमित्तेन तत् भाषितपुंस्कम्, अर्थात् नपुंसकत्वे लिङ्गान्तरे च यस्य एकमेव वाच्यतावच्छेदकं तत् शब्दस्वरूपं भाषितपुंस्कशब्देन विवक्षितम्। अनादिशब्दश्च उत्पत्त्यभावात्मकमनादित्वं पुरस्कृत्य स्त्रीपुन्नपुंसकतत्तद्व्यक्तिप्रत्यायकः इति, भवति तस्य प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कतेति तत्त्वविदः। उक्तं च—

यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्तते।
क्लीबवृत्ति तदेव स्यादुक्तपुंस्कं तदुच्यते॥ इति॥

शब्दः पुंस्त्वे यमर्थं भजते यच्च शब्दस्वरूपं भजते, तमेवार्थं प्रधानीकृत्य शब्दस्वरूपमपि पुंवदेव भवेच्चेत् स शब्दः भाषितपुंस्कसंज्ञां लभत इति।

पीलुने (ई. ७०)—पीलुर्वृक्षः, तत्फलं पीलु, तस्मै 'पीलुने' इति। 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुम्। अत्र 'तृतीयादिष्वि'ति न पुंवत्त्वं, प्रवृत्तिनिमित्तभेदात्। तथा हि—वृक्षत्वव्याप्यजातिविशेषात्मकं पीलुत्वं वृक्षविशेषे वाच्ये प्रवृत्तिनिमित्तम्, फलविशेषे वाच्ये तु फलत्वव्याप्यजातिविशेषात्मकं पीलुत्वं प्रवृत्तिनिमित्तम्, इति प्रवृत्तिनिमित्तभेदेन भाषितपुंस्कत्वाभावान्न पुंवदित्युक्तिः सङ्गतेति। तदुक्तं—

पीलुर्वृक्षः फलं पीलु, तस्मै पीलुने न तु पीलवे।
वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः॥ इति॥

अतिदध्ना (ई. ६४)—दधि अतिक्रांतं कुलमतिदधि, तस्य तृतीयैकवचने 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' इत्यनेन विधीयमानस्यानङादेशस्य अङ्गाधिकारस्थत्वेन 'पदाङ्गाधिकारे' इति परिभाषया तदन्तस्यातिदधिशब्दस्याप्यनङि उक्तं रूपं सिद्धम्।

सुधिया (ई. ७२)—'सुष्ठु ध्यायति' इति विग्रहे निष्पन्नात् सुधीशब्दात् तृतीयैकवचने 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य' इति पुंवद्भावे सति

मधु । मधुनी । मधूनि । हे मधो–हे मधु । एवमम्ब्वादयः । 'सानु'शब्दस्य 'स्नुः' वा, स्नूनि-सानूनि । प्रियक्रोष्टु । प्रियक्रोष्टुनी । तृज्वद्भावात्पूर्वविप्रतिषेधेन नुम् । प्रियक्रोष्टूनि । टादौ पुंवत् पक्षे प्रियक्रोष्ट्रा । प्रियक्रोष्टुना । प्रियक्रोष्ट्रे,प्रियक्रोष्टवे । अन्यत्र तृज्वद्भावात्पूर्वविप्रतिषेधेन नुमेव । प्रियक्रोष्टुने । 'नुमचिर–' (वा ५०) इति नुट् । प्रियकोष्टूनाम् । इति उदन्ताः ।

सुलु । सुलुनी । सुलूनि । पुनस्तद्वत् । सुल्वा-सुलुना । इत्यूदन्ताः ।

धातृ । धातृणी । धातॄणि । हे धातः–हे धातृ । धात्रा-धातृणा । एवं ज्ञातृकर्त्रादयः । इत्यृदन्ताः ।

'अचि श्नुधातु–' इतीयङि अनुबन्धलोपे 'सुधिया' इति 'पुंवद्भावाभावपक्षे 'ह्रस्वो नपुंसके–' इति ह्रस्वे 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि 'सुधिना' इति, अत्र सुधातृत्वस्य, शोभनज्ञानवत्त्वस्य वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुंसि नपुंसके च सत्त्वात भाषितपुंस्कत्वमुपपन्नमिति ध्येयम् ।

स्नूनि (ई. ७२, ७३)—सानुशब्दस्य द्वितीयाबहुवचने शसि 'मांसपृतनासानूनां मांसपृत्स्नवो वाच्यः शसादौ वा' इति वार्तिकेन 'स्नु' आदेशे 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि उपधादीर्घे 'स्नूनि' इति । शसादौ वेत्युक्तत्वात् पक्षे 'सानूनि' इति च भवति ।

प्रियक्रोष्टूनि (ई. ६२)—प्रियक्रोष्टुशब्दाज्जसि विभक्तौ जसः शिभावे 'प्रियक्रोष्टु इ' इति स्थिते 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति प्राप्तं तृज्वद्भावं बाधित्वा पूर्वविप्रतिषेधेन नुमि 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इत्यनेन दीर्घे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

प्रियकोष्टुने (ई. ५२)—प्रियक्रोष्टुशब्दात् चतुर्थ्येकवचने तृतीयादिष्विति पुंवत्वाभावपक्षे 'वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम्पूर्वविप्रतिषेधेन' इति वार्तिकेन तृज्वद्भावात् पूर्वप्रतिषेधेन नुमि उक्तं रूपं सिद्धम् ।

सुलुना (ई. ५४)—सुष्ठु लुनाति = छिनत्तीति सुलु (अस्त्रविशेषः) । तस्य तृतीयैकवचने–'सुल्वा–' 'सुलुना' इति भवति । तत्र हि—शोभनलवनकर्तृत्वस्य पुन्नपुंसकयोरेकमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति भाषितपुंस्कत्वात् . 'तृतीयादिष्वि'ति पुंवत्त्वपक्षे 'ओः सुपि' इत्यनेन यण् । नाभावस्तु न, पुंवत्त्वे ह्रस्वाभावेनाऽघित्वात् । पुंवत्त्वाभावपक्षे तु ह्रस्वे कृते यणं बाधित्वा नुमि 'सुलुना' इति ।

३२३। **एच इग्घ्रस्वादेशे** १।१।४८। आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु मध्य एच इगेव स्यात्। प्रद्यु। प्रद्युनी। प्रद्यूनि। प्रद्युना। इत्यादि। इह न पुंवत् यदिगन्तं 'प्रद्यु' इति, तस्य भाषितपुंस्कत्वाभावात्। एवमग्रेऽपि। इत्योदन्ताः।

प्ररि। प्ररिणी। प्रराणि। प्ररिणा। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् 'रायो हलि' (सू. २८६) इत्यात्वम्। प्रराभ्याम्। प्रराभिः। 'नुमचिर–' (वा ५०) इति नुटचात्वे 'प्रराणाम्' इति माधवः। वस्तुतस्तु सन्निपातपरिभाषया नुटचात्वं न। 'नामि' (सू. २०९) इति दीर्घस्त्वारम्भसामर्थ्यात् परिभाषां बाधते इत्युक्तम्। प्ररीणाम्। इत्यैदन्ताः।

सुनु। सुनुनी। सुनूनि। सुनुना। सुनुने। इत्यादि। इत्यौदन्ताः।

इत्यजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्।

अथ हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्

३२४। **हो ढः** ८।२।३१। हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च। 'हल्ङ्याप्–' (सू. २५२) इति सुलोपः। पदान्तत्वाद्धस्य ढः। जश्त्वचर्त्वे, लिट्-लिड्।

प्रराभ्याम् (ई. ६९, ७३)—प्रकृष्टो राः धनं यस्येति विग्रहे निष्पन्नात् प्रैशब्दात् भ्यामि 'ह्रस्वो नपुंसके–' इत्यनेन 'एच इग्घ्रस्वादेशे' इति नियमेन एच् रूपस्य ऐकारस्य इकारे ह्रस्वे कृते 'एकदेशविकृतन्यायेन' 'रायो हलि' इत्यात्वे 'प्रराभ्याम्' इति निष्पन्नम्।

प्रराणाम् (ई. ५७, ५९, ६४, ६८, ७०) – प्रकृष्टः राः=धनं, यस्य इति बहुव्रीहौ प्रैशब्दः, तस्य नपुंसकह्रस्वत्वे 'प्ररि इति' तस्मादामि 'ह्रस्वनद्यापो नुट् इति नुटि 'इकोऽचि विभक्तौ' इति नुमि च प्राप्ते 'नुमचिरतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधान्नुमं बाधित्वा नुटि 'रायो हलि' इत्यात्वे णत्वे 'प्रराणाम्' इति माधवः।

वस्तुतस्तु—ह्रस्वान्तमुपजीव्य प्रवृत्तस्य नुटस्तद्विघातकत्वं प्रति निमित्तत्वाऽसम्भवात् नुटि कृते आत्वं न भवतीति 'प्ररीणाम्' इत्येव साधु।

इति अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

लिहौ । लिहः । लिहम् । लिहौ । लिहः । लिहा । लिड्भ्याम् । लिट्त्सु-लिट्सु । ३२५ । दादेर्धातोर्घः ८।२।३२। उपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः स्याज्झलि पदान्ते च । 'उपदेशे' किम्? 'अधोक्' इत्यत्र यथा स्यात् । दामलिहमात्मनः इच्छति दामलिह्यति । ततः क्विपि दामलिट् । अत्र माभूत् । ३२६ । एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ७।२।३७। धातोरवयवो य एकाच् झषन्तस्तदवयवस्य बशः स्थाने भष् स्यात्सकारे ध्वशब्दे पदान्ते च । 'एकाचो धातोः' इति सामानाधिकरण्येनान्वये त्विह न स्यात्—गर्दभमाचष्टे गर्दभयति । ततः क्विप्, णिलोपः गर्धप् ।

लिट्त्सु (ई. ७३)—लिह्शब्दात्सुपि अनुबन्धलोपे 'लिह् सु' इति स्थिते 'हो ढः' इत्यनेन हस्य ढत्वे 'जलां जशोऽन्ते' इत्यनेन ढस्य जश्त्वेन डकारे 'लिड् सु' इति दशायां 'डः सि धुट्' इति डस्य धुटि अनुबन्धलोपे 'लिड् ध् सु' इति जाते 'खरि च' इत्यनेन धस्य चर्त्वेन तकारे पुनः 'खरि च' इति डस्य चर्त्वेन टकारे 'लिट्त्सु' इति । धुडभावपक्षे डकारस्य चर्त्वेन टकारे 'लिट्सु' इति ।

उपदेशे किम् (ई. ६७)—अयम्भावः भाष्ये धुगित्यत्र घत्वस्यासिद्धत्वात् ढत्वं प्राप्नोतीत्याशंक्य अपवादत्वात् घत्वमिति समाधाय अथवा होढोऽदादेः, धातोर्घः' इति योगं विभज्य, उत्तरयोगे नञ्रहितदादिपदानुवृत्तिरित्युक्तम् । तदनुवृत्तिर्व्यर्था सति उपदेश इत्यर्थं बोधयति, तदभावे 'अधोग्' इत्यत्र सत्यडागमे दादित्वाऽभावात् घत्वं न स्यादित्यव्याप्तिः, दामलिहमात्मनः इच्छति दामलिह्यति ततः क्विपि अल्लोपे यलोपे च कृते प्रातिपदिकत्वात् सौ सोर्लोपे 'दामलिट्' इत्यादौ दादित्वेन घत्वं स्यादित्यतिव्याप्तिरिति भावः ।

एकाच इति—अयम्भावः—'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इति सूत्रे 'सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यस्यान्याय्यत्वम्' इति न्यायेन 'एकाचः' इति धातोरेव विशेषणं भवितुमर्हति । तथाच—गर्धप् गर्धब् इत्यादौ धातोरेकाचत्वाभावेन भष्भावो न स्यादिति लक्ष्यानुरोधेन क्वचिद् वैयधिकरण्येनान्वयो भवति, ततश्च धातोरवयवो य एकाच् झषन्तस्तदवयवस्येत्यादिसूत्रार्थेनोक्तप्रयोगे भष्भावसिद्धिः । धुगित्यादौ धातुरेवैकाच् न तु तदवयव इति व्यपदेशिवद्भावेनैकाच्त्वमाश्रित्य भष्भावसिद्धिः ।

गर्धप् (ई. ६३, ६८, ६९)—गर्दभमाचष्टे इति विग्रहे णिचि तदन्तात् कर्तरि क्विपि तस्य सर्वापहारे 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'गर्दभ्' इति । तस्मात्

'झलि' इति निवृत्तम् स्ध्वोर्ग्रहणसामर्थ्यात्। तेनेह न-दुग्धम्। दोग्धा। व्यपदेशिवद्भावेन धात्ववयवत्वाद्भष्भावः। जश्त्वचर्त्वे धुक्। धुग्। दुहौ। दुहः। घत्वचर्त्वे, धुक्षु। ३२७। वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ८।२।३३। एषां हस्य वा घः स्याज्झलि पदान्ते च। पक्षे ढः, ध्रुक्-ध्रुग्-ध्रुट्-ध्रुड्। द्रुहौ। द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्-ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु-ध्रुट्त्सु-ध्रुट्सु। एवं मुहष्णुहष्णिहाम्। विश्ववाट्-विश्ववाड्। विश्ववाहौ। विश्ववाहः। विश्ववाहम्। विश्ववाहौ। ३२८। इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४५। यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात्। ३२९। वाह ऊठ् ६।४।१३२। भस्य वाहः सम्प्रसारणमूठ् स्यात्।

३३०। सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८। सम्प्रसारणादचि परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् 'एत्येधत्यूठ्सु' (सू. ७३) विश्वौहः। विश्वौहा। इत्यादि। 'छन्दस्येव ण्विः' इति पक्षे णिजन्ताद्विच्। ३३१। चतुरनडुहोरामुदात्तः ७।१।९८। अनयोराम् स्यात्सर्वनामस्थाने, स चोदात्तः। ३३२। सावनडुहः ७।१।८२।

गर्दभ्शब्दात् सौ 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इत्यनेन दस्य भष्भावे सुलोपे भस्य चर्त्वे 'गर्धप्' इति।

धुक् (ई. ६८)—'दुह्' इति क्विबन्तप्रातिपदिकात् सौ 'हल्ङ्याब्भ्यः-' इति सुलोपे 'हो ढः' इति ढत्वं प्रबाध्य 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घत्वे कृते झषन्तत्वात् 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इति भष्भावे घस्य जश्त्वे 'वाऽवसाने' इति गस्य चर्त्वे 'धुक्' इति। पक्षे 'धुग्' इति। ननु घत्वे कृते 'दुघ्' इति झषन्तमेकाच्कम्, तस्य धातुत्वात् धात्ववयवत्वाऽभावात् कथमिह दकारस्य भष्भावेन धकारः स्यादिति चेन्न 'राहोश्शिरः' इतिवत् व्यपदेशिवद्भावेन धात्ववयवत्वात्तत्सिद्धेः।

विश्वौहः (ई. ७३)—विश्ववाह्शब्दाच्छसि विस्ववाह् अस्, इति स्थिते 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' इति 'सम्प्रसारणसंज्ञायां च कृतायां 'वाह ऊठ्' इति वकारस्य सम्प्रसारणे ऊठि 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'एत्येधत्यूठसु' इति वृद्धौ सकारस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम्।

सावनडुहः—'सावनडुहः' इति सूत्रे 'आच्छीनद्योर्नुम्' इत्यत आदिति पदमनुवर्तते। ततश्चावर्णात्परानडुह्शब्दस्य नुम् स्यात्सौ परे इति सूत्रार्थो

अस्य नुम् स्यात्सौ परे। 'आत्' इत्यधिकारादवर्णात्परोऽयं नुम्। अतो विशेषविहितेनापि नुमा आम् न बाध्यते। आमा च नुम् न बाध्यते। सोर्लोपः। नुम्विधिसामर्थ्यात् 'वसुस्रंसु—' (सू. ३३४) इति दत्वं न। संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न। अनड्वान्। ३३३। **अम् सम्बुद्धौ** ७।१।९९। चतुरनडुहोरम् स्यात्सम्बुद्धौ। आमोऽपवादः। हे अनड्वन्। अनड्वाहौ। अनड्वाहः। अनडुहा। ३३४। **वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः** ८।२।७२। सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते। अनडुद्भ्याम्। इत्यादि। सान्त इति किम्? विद्वान्। 'पदान्ते' इति किम्? स्रस्तम्। ध्वस्तम्। ३३५। **सहेः साडः सः** ८।३।५६। साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। तुराषाट्

भवति। एवञ्च 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इति सूत्रविहितस्यामः सर्वनामस्थानविषयो भवति 'सावनडुहः' इतिविहितस्य नुमस्तु सुरेव विषय इति आदित्यधिकारात् विशेषविहितेनापि नुमा आमो बाधको न भवति। यदि नुमा आम्बाधः स्यात्तदा 'आत्' इत्यधिकार एव व्यर्थः स्यादिति उपजीव्यविरोधः स्यात्। एवं रीत्या आमा च नुम् न बाध्यते। नुम्विधिसामर्थ्याद्दत्वं न। संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न।

अनड्वान् (ई. ६९, ७१, ७२, ७३)—अनडुह् शब्दात् सौ 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यामि 'इको यणचि' इति यणादेशे 'सावनडुहः' इति नुमि सुलोपे संयोगान्तलोपे तस्यासिद्धत्वान्नलोपाभावे नुम्विधसामर्थ्यात् 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' इति दत्वाभावे 'अनड्वान्' इति। अत्र विशेषविहितेन नुमा सामान्यविहितस्यामः तक्रकौण्डिन्यन्यायेन बाधात् कथम् आमिति न शंक्यम्, 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति सूत्रात् आदित्यनुवृत्त्या अनडुह् शब्दसम्बंध्यवर्णात्परो नुमित्यर्थे उपजीव्यविरोधेनाबाधात्,

तुराषाट् (ई. ६७, ६८)—तुरं सहते इति विग्रहे 'छन्दसि सहः' इति सूत्रेण ण्विप्रत्यये अनुबन्धलोपे 'नहिवृति—' इति वृद्धौ अपृक्तलोपे 'तुरासाह्' इति। लोके तु सहेर्ण्यन्तात् क्विपि अपृक्तलोपे 'अन्येषां पूर्वपदस्य दीर्घः' इति दीर्घे 'तुरासाह्' इति। तस्मात् तुरासाह् शब्दात् सौ सोर्हल्ङ्यादिलोपे 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे ढस्य जश्त्वे 'सहेः साढः सः' इति षत्वे चर्त्वे 'तुराषाट्' इति।

तुराषाड् । तुरासाहौ । तुरासाहः । तुराषाड्भ्याम् । इत्यादि । 'तुरं सहते' इत्यर्थे 'छन्दसि सहः' (सू. ३४०९) इति ण्विः । लोके तु साह्यतेः क्विप् । 'अन्येषामपि–' (सू. ८४८) इति पूर्वपदस्य दीर्घः । इति हान्ताः ।

३३६ । **दिव औत्** ७।१।८४। दिविति प्रातिपदिकस्य औत्स्यात्सौ परे । अल्विधित्वेन स्थानिवत्त्वाभावात् 'हल्ङ्याप्–' सू. २५२) इति सुलोपो न सुद्यौः । सुदिवौ । सुदिवः । सुदिवम् । सुदिवौ । ३३७ । **दिव उत्** ६।१।३१। दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात्पदान्ते । सुद्युभ्याम् । सुद्युभिः । इति वान्ताः ।

चत्वारः । चतुरः । चतुर्भिः । चतुर्भ्यः २ ।

३३८ । **षट्चतुर्भ्यश्च** ७।१।५५। षट्संज्ञकेभ्यश्चतुरश्च परस्यामो नुडागमः स्यात् । णत्वम्, द्वित्वम्, चतुर्ण्णाम् । ३३९ । **रोः सुपि** ८।३।१६। सप्तमीबहुवचने रोरेव विसर्जनीयो नान्यरेफस्य । षत्वम् । षस्य द्वित्वे प्राप्ते । ३४० । **शरोऽचि** ८।४।४९। अचि परे शरो न द्वे स्तः । चतुर्षु । प्रियचत्वाः । हे प्रियचत्वः । प्रियचत्वारौ । प्रियचत्वारः । गौणत्वे तु नुट् नेष्यते । प्रियचतुराम् । प्राधान्ये तु स्यादेव । परमचतुर्णाम् । इति रेफान्ताः ।

कमलं कमलां वा आचक्षाणः कमल् । कमलौ । कमलः । षत्वम् कमल्षु । इति लान्ताः ।

णत्वं द्वित्वं चतुर्ण्णाम्—ननु 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे' इति परिभाषया द्वित्वे कर्त्तव्ये 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति सूत्राप्रवृत्त्या परत्वात् द्वित्वे ततो णत्वमित्येव लेख्यमिति चेन्न, 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे' इति परिभाषया द्वित्वे कर्त्तव्ये, अन्यदसिद्धं न भवति । द्वित्वं यदि परं स्यात्तदसिद्धं स्यादेवेत्यर्थेन द्वित्वस्यासिद्धत्वाद् णत्वं द्वित्वमिति मूलोक्तस्य युक्तत्वात् ।

चतुर्ण्णाम् (ई. ६५, ६७, ७२)—'चतुर्' शब्दात् आमि 'षट् चतुर्भ्यश्च' इति नुटि 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति णत्वे 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति वा द्वित्वे 'चतुर्ण्णाम्–चतुर्णाम्' इति । नच पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे' इति बलात् णत्वं प्रति द्वित्वस्याऽसिद्धत्वाभावात् परत्वात् द्वित्वे णत्वं युक्तमिति वाच्यम्, 'द्वित्वे परसवर्णत्वं सिद्धं वक्तव्यम्' इति वार्तिकारम्भसामर्थ्यात् वर्णद्वित्वे तदप्रवृत्तेः । ननु वाक्क्, वागिति भाष्योदाहरणेन वर्णद्वित्वेऽपि तत्प्रवृत्तिरावश्यकीति चेन्न, द्वित्वे कर्तव्येऽन्यदसिद्धं न, द्वित्वं त्वसिद्धमेवेत्यर्थंकरणेनादोषात् ।

३४१ । मो नो धातोः ८।२।६४। मान्तस्य धातोर्नः स्यात्पदान्ते । मत्व-स्यासिद्धत्वान्नलोपो न । प्रशाम्यतीति प्रशान् । प्रशामौ । प्रशामः । प्रशान्भ्याम् इत्यादि । ३४२ । किमः कः ७।२।१०३। किमः कः स्याद्विभक्तौ । अकच्स-हितस्याप्ययमादेशः । कः । कौ । के । कम् । कौ । कान् । इत्यादि सर्ववत् । ३४३ । इदमो मः ७।२।१०८। इदमो मः स्यात्सौ परे । त्यदाद्यत्वापवादः । ३४४ । इदोऽय् पुंसि ७।२।१११। इदम इदोऽय् स्यात्सौ पुंसि । सोर्लोपः । अयम् । त्यदाद्यत्वं पररूपत्वञ्च । ३४५ । दश्च ७।२।१०९। इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ । इमौ । इमे । 'त्यदादेः सम्बोधनं नास्ति' इत्युत्सर्गः । ३४६ । अनाप्यकः ७।२।११२। अककारस्येदम इदोऽन् स्यादापि विभक्तौ । 'आप्' इति 'टा' इत्यारभ्य सुपः पकारेण प्रत्याहारः । अनेन । ६४७ । हलि लोपः ७।२।११३। अककारस्येदम इदो लोपः स्यादापि हलादौ । 'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' (प. १०६) । ३४८ । आद्यन्तवदेकस्मिन्

चतुर्षु (ई. ७२, ७३)—'चतुर्' शब्दात् सुपि विभक्तौ 'चतुर् सु' इति स्थिते रेफस्य विसर्गे प्राप्ते 'रोः सुपि' इति निषेधे रेफस्य इण्त्वेन 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'चतुर्षु' इति । नच 'अचोरहाभ्यां द्वे' इत्यनेन षकारस्य द्वित्वं कुतो नेति वाच्यम् ? 'शरोऽचि' इति निषेधात् ।

प्रियचतुराम् (ई. ६७, ६९)—प्रियाश्चत्वारो यस्य स 'प्रियचत्वाः', तेषां 'प्रियचतुराम्' । बहुव्रीहौ प्रियचतुर् शब्दो विशेष्यनिघ्नः एक-द्वि-बहुवचनान्तः । अत्र तु 'प्रियचतुर् आम्' इति स्थिते इतरपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वरूपगौणत्वस्य सत्त्वात् गौणमुख्यन्यायेन 'षट्चतुर्भ्यश्च' इत्यस्याप्रवृत्त्या नुट् न ।

अकच्सहितस्याप्ययमादेशः—अयम्भावः, 'किमः कः' इति सूत्रे 'इमः अः' इति न्यासे त्यदाद्यनुवृत्त्या त्यदादेरिमोऽः स्यादित्यर्थेनैव सिद्धे ककारोच्चारणं व्यर्थं सत् अकच्सहितस्याप्ययमादेश इति ज्ञापयति, तेन माकचि कक इति रूपन्नेति । न च त्यदादौ किम्-शब्दस्य पाठाभावेन कथमादेश इति वाच्यम्, त्यदादौ पाठकरणेनादोषात् । कुतिहोरित्यत्र उतिहोरिति न्यासेन क्वातीत्यत्र वातीति न्यासेन च सर्वदोषपरिहार इति ।

१।१।२१। एकस्मिन्क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव स्यात्। आभ्याम्। ३४६। नेदमदसोरकोः ७।१।११। अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न स्यात्। एत्वम्। एभिः अत्वम्, नित्यत्वात् ङेः स्मै, पश्चाद्धलि लोपः। अस्मै। आभ्याम्। एभ्यः। अस्मात्। आभ्याम्। एभ्यः। अस्य। अनयोः। एषाम्। अस्मिन्। अनयोः। एषु। ककारयोगे तु—अयकम्। इमकौ। इमके। इमकम्। इमकौ। इमकान्। इमकेन। इमकाभ्याम्। इमकैः। ३५०। इदमोऽन्वादेशेऽनुदात्तस्तृतीयादौ २।४।३२। अन्वादेशविषयस्येदमोऽनुदात्तोऽश् आदेशः स्यात्तृतीयादौ। अश्-वचनं साकच्कार्थम्। ३५१। द्वितीयाटौस्स्वेनः २।४।३४। द्वितीयायां टौसोश्च परतः इदमेतदोरेनादेशः स्यादन्वादेशे। 'किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः'। यथा अनेन व्याकरणमधीतम् 'एनं छन्दोऽध्यापय' इति। 'अनयोः पवित्रं कुलम्' 'एनयोः प्रभूतं स्वम्' इति। एनम्। एनौ। एनान्। एनेन। एनयोः। इति मान्ताः।

गणयतेर्विच्। सुगण्। सुगणौ। सुगणः। सुगण्ट्सु-सुगण्ठ्सु,सुगण्सु। क्विप्, 'अनुनासिकस्य क्विझलोः—' (सू. २६६६) इति दीर्घः। सुगाण्। सुगाणौ। सुगाण्ट्सु-सुगाण्ठ्सु-सुगाण्सु। इति णान्ताः।

परत्वादुपधादीर्घः, हल्ङ्यादिलोपः ततो नलोपः। राजा।

३५२। न ङिसम्बुद्ध्योः ८।२।८। नस्य लोपो न स्यात् ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन्। ङौ तु छन्दस्युदाहरणम्। 'सुपां सुलुक्—' (सू. ३५५६) इति ङेर्लुक्। निषेधसामर्थ्यात्प्रत्ययलक्षणम्। 'परमे व्योमन्' ६० ङावुत्तर-

---

आभ्याम् (ई ६४, ६७, ७३)—इदम् शब्दात् भ्यामि विभक्तौ 'त्यदादीनामः' इति अत्वे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'इद भ्याम्' इति जाते 'हलि लोपः' इत्यनेन 'अलोन्त्यस्ये'ति परिभाषया अन्त्यस्य दकारस्य लोपे प्राप्ते 'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' इति परिभाषया अलोन्त्यविध्यभावे इद्भागस्यैव लोपे 'आभ्याम्' इति स्थिते 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इत्येकस्मिन्नेवाकारे अन्तवद्भावेन अदन्तत्वं मत्वा 'सुपि चे'ति दीर्घे 'आभ्याम्' इति सिद्धम्।

अश्वचनं साकच्कार्थम्—ननु 'इदमोऽन्वादेशे' इति सूत्रे अनुदात्तमात्रविधानेन 'आभ्याम्' इत्यादिसिद्धौ 'अश्' विधानं किमर्थमिति चेन्न साकचि 'हलि लोपः' इत्यस्याप्राप्त्या तत्र 'आभ्याम्' इति सिद्धये 'अश्' विधानस्यावश्यकत्वात्।

पदे प्रतिषेधो वक्तव्यः॥ । ङौ विषये उत्तरपदे परे 'न ङिसम्बुद्धयोः' (सू. ३५२) इत्यस्य निषेधो वाच्य इत्यर्थः । चर्मणि तिला अस्य चर्मतिलः । ब्रह्मनिष्ठः । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । 'अल्लोपोऽनः' (सू. २३४) । श्चुत्वम् । न चाल्लोपः स्थानिवत्, पूर्वत्रासिद्धे तन्निषेधात् । नापि वहिरंगतयाऽसिद्धः, यथोद्देशपक्षे षाष्ठीं परिभाषां प्रति श्चुत्वस्यासिद्धतयाऽन्तरंगाभावेन परिभाषाया अप्रवृत्तेः । जञोर्ज्ञः । राज्ञः । राज्ञा ।

३५३ । **नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति** ८।२।२ सुब्विधौ स्वरविधौ संज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धः, नान्यत्र 'राजाश्वः' इत्यादौ । इत्यसिद्धत्वादात्वमेत्वमैस्त्वं च न । राजभ्याम् । राजभिः । राज्ञे । राजभ्यः । राज्ञः । राज्ञोः । राज्ञाम् । राज्ञि–राजनि । प्रतिदीव्यतीति प्रतिदिवा । प्रतिदिवानः । अस्य भविषयेऽल्लोपे कृते—३५४ । **हलि च** ८।२।७७। रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्याद्धलि । न चाल्लोपस्य स्थानिवत्त्वम्, दीर्घविधौ तन्निषेधात् । बहिरंगपरिभाषा तूक्तन्यायेन न प्रवर्तते । प्रतिदीव्नः । प्रतिदिवानौ प्रतिदीव्ना, इत्यादि । यज्वा । यज्वानौ । यज्वानः । ३५५ । **न संयोगाद्वमन्तात्**

राज्ञः (ई. ५८, ६०, ६३, ७०)—राजन्शब्दाच्छसि भसंज्ञायामल्लोपोऽन इत्यल्लोपे स्तोः श्चुना श्चुरिति श्चुत्वे 'राज्ञः' इति । न चात्र पञ्चमीसमासपक्षेऽल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् कथं श्चुत्वमिति वाच्यम्; पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदिति निषेधात् । नचाऽन्तरंगे श्चुत्वे कर्त्तव्ये वहिरङ्गस्याल्लोपस्यासिद्धत्वात् कथं श्चुत्वमिति वाच्यम्, यथोद्देशपक्षे षाष्ठीं परिभाषां प्रति श्चुत्वस्यासिद्धतया परिभाषाया एवाप्राप्तेः । वाह ऊठित्यत्रोठग्रहणेन ज्ञापितत्वादियं षाष्ठी ।

राजभ्याम् (ई. ७१, ७३)—'राजन् भ्याम्' इति स्थिते स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदत्वात् 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'राज भ्याम्' इति स्थिते 'सुपि चे'ति दीर्घे प्राप्ते 'नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति' इति नलोपस्याऽसिद्धत्वात् दीर्घाऽभावे 'राजभ्याम्' इति ।

प्रतिदीव्नः (ई. ५६, ७०) प्रतिदिवन्शब्दात् शसि भसंज्ञायाम् 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारस्य लोपे 'हलि च' इति दीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे च 'प्रतिदीव्नः' इति । ननु अल्लोपस्य 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इत्यनेन स्थानिभूतादचो लुप्ता-

६।४।१३७। वकारमकारान्तसंयोगात्परस्यानोऽकारस्य लोपो न स्यात्। यज्वनः। यज्वभ्याम्, इत्यादि। ब्रह्मणः। ब्रह्मणा। ब्रह्मभ्याम्, इत्यादि। ३५६। इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ६।४।१२। एषां शावेवोपधाया दीर्घः नान्यत्र। इति निषेधे प्राप्ते—३५७। सौ च ६।४।१३। इन्नादीनामुपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सौ परे। वृत्रहा। हे वृत्रहन्। 'एकाजुत्तरपदे–' (सू ३०७) इति णत्वम्। वृत्रहणौ। वृत्रहणः। वृत्रहणम्। वृत्रहणौ। ३५८। हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७।३।५४। ञिति णिति च प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्वं स्यात्। ३५९। (क)। हन्तेः–८।४।२२। उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य हन्तेर्नस्य णत्वं स्यात्। प्रहण्यात्। ३५९। (ख) अत्पूर्वस्य ८।४।२२। हन्तेरत्पूर्वस्यैव नस्य णत्वम्, नान्यस्य। प्रघ्नन्ति। योगविभागसामर्थ्यात् 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा'–(प ६२) इति न्यायं बाधित्वा 'एकाजुत्तरपदे–' (सू ३०७) इति णत्वमपि निवर्त्यते। नकारे परे कुत्वविधिसामर्थ्यादल्लोपो न स्थानिवत्। वृत्रघ्नः। वृत्रघ्ना, इत्यादि। यत्तु 'वृत्रघ्नः' इत्यादौ वैकल्पिकं णत्वं माधवेनोक्तं तद्भाष्यवार्तिकविरुद्धम्। एवं शार्ङ्गिन्, यशस्विन्,

---

कारात्पूर्वत्वेन दृष्टस्य इकारस्य दीर्घे कर्तव्ये स्थानिवद्भावेन वकारान्तधातोर्हल्व्यवहितपूर्वत्वाभावेन कथं दीर्घ इति चेन्न, दीर्घे कर्तव्ये स्थानिवद्भावस्य 'न पदान्त—' इति निषेधात् 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति तु न, यथोद्देशपक्षे 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषायाः 'वाह ऊठ' इति सूत्रस्थोट्ग्रहणज्ञापिततया त्रापादिकत्वेन तद्दृष्टया 'हलि च' इति शास्त्रस्य त्रैपादिकत्वेनासिद्धतया तद्विषये तत्परिभाषाया अप्रवृत्तेः। कार्यकालपक्षे तु दोषदानमनुचित, पक्षान्तरेणेष्टसिद्धेः।

वृत्रहाः (ई. ६६)—वृत्रो नाम असुरः तं हतवानित्यर्थे क्विबन्तनिष्पन्नात् वृत्रहन् शब्दात् सौ 'वृत्रहन् सु' इति स्थिते वृत्रहन् शब्दे 'हन्' इत्यस्यापि 'इन-हन्-पूषार्यम्णां शौ' इति शावेव दीर्घ इति नियमात् सौ परतः 'सर्वनामस्थाने—' इति दीर्घे अप्राप्ते 'सौ च' इत्यनेन दीर्घे हल्ङ्यादिना सुलोपे नलोपे 'वृत्रहा' इति।

वृत्रघ्नः (६४, ६८, ७०, ७२)—वृत्रहन् शब्दाच्छसि भसंज्ञायामल्लोपे कृते नकारे परे कुत्वविधानसामर्थ्यादल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाभावे 'हो हन्तेरि'ति कुत्वे योगविभागसामर्थ्यादनन्तरस्येति न्यायं बाधित्वाऽत्पूर्वस्येत्यनेन सवर्णत्वनियमेन

अर्यमन्, पूषन् । यशस्विन्निति विन्प्रत्यये इनोऽनर्थकत्वेऽपि 'इन्हन्–' (सू ३५६) इत्यत्र ग्रहणं भवत्येव, 'अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति' (प १६) इति वचनात् । अर्यम्णि—अर्यमणि । पूष्णि—पूषणि ।

३६० । मघवा बहुलम् ६।४।१२८। 'मघवन्' शब्दस्य वा 'तृ' इत्यन्तादेशः स्यात् । ऋ इत । ३६१ । **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** ७।१।७०। अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुमागमः स्यात्सर्वनामस्थाने परे । उपधादीर्घः । मघवान् । इह दीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वं न भवति, बहुल-

---

णत्वाप्राप्त्या वृत्रघ्न इति सिद्धम् । 'कुव्यवाये हादेशे णत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः' इति वार्त्तिकभाष्यविरोधेन माधवोक्तं वैकल्पिकणत्वं नादरणीयमिति ।

यत्तु इति—अयंभावः—'वृत्रघ्न' इत्यादि प्रयोगेषु णत्ववारणाय 'कुव्यवाये हादेशे णत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः' इति वार्तिककारेण वार्तिकं पठितम् । भाष्यकारस्तु वृत्रघ्नः, सुघ्नः, प्राघानि एषु प्रयोगेषु णत्ववारणाय 'अत्पूर्वस्य' इति योगविभागस्य, अकार–पूर्वस्यैव हन्तेर्णत्वम्भवतीत्यर्थं कृत्वा वार्त्तिकं प्रत्याचख्यौ । एवञ्च महर्षिद्वयविरोधात् माधवकथितं वैकल्पिकणत्वमन्याय्यमिति ।

मघवान् (ई॰ ६२, ६३, ६८, ७०)—मघवन्शब्दात्सौ मघवा बहुलमिति ऋन्तादेशे उगिदचामिति नुमि सुलोपे संयोगान्तलोपे प्रत्ययलक्षणेन सर्वनामस्थान इति दीर्घे मघवानिति, पक्षे मघवेति । अत्र दीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वन्तु न शङ्कयम्; भाष्ये श्वन्नुक्षन्निति निपातनान्मघशब्दान्मतुपा च भाषायामपि शब्दद्वयसिद्धिमाश्रित्य, मघवाबहुलमिति सूत्रं प्रत्याख्यातम् । सूत्रारम्भप्रत्याख्यानयोः फलैक्याय बहुलग्रहणेन सिद्धत्वाभावकल्पनात् । अत एव मघवानसौ इति भट्टिप्रयोगः सङ्गच्छते ।

इह दीर्घेति (ई॰ ७३)—अयं भावः—मघवन् शब्दात् सौ 'मघवा बहुलम्' इति ऋन्तादेशे 'उगिदचामि'ति नुमि सुलोपे संयोगान्तलोपे उपधादीर्घे 'मघवान्' इति । न चात्र दीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्याऽसिद्धत्वं कुतो नेति वाच्यम्, 'मघवा बहुलम्' इति सूत्रस्थबहुलग्रहणेन दीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्याऽसिद्धत्वाभावकल्पनेनादोषात् । तथाहि—मह्यते=पूज्यते इत्यर्थे मह धातोः 'श्वन्नुक्षन्नि'त्युणादिसूत्रेण निपातनात् कनिप्रत्यये बुगागमे हस्य घत्वे 'मघवन्' इति तस्मात् सौ दीर्घे सुलोपे नलोपे 'मघवा' इति । अथ च मघः=धनम् अस्यास्तीत्यर्थे मघशब्दात् मतुपि 'मादुपधायाश्चे'ति वत्वे 'मघवत्' इति, तस्मात् सौ उगित्वान्नुमि दीर्घे सुलोपे संयोगान्तलोपे 'मघवान्' इति च

ग्रहणात्। तथा च 'श्वन्नुक्षन्-' (उ १५७) इति निपातनान्मघशब्दान्मतुपा च सापायामपि शब्दद्वयसिद्धिमाश्रित्यैतत्सूत्रं प्रत्याख्यातमाकरे।

'हविर्जक्षिति निःशङ्को मखेषु मघवानसौ'

इति भट्टिः। मघवन्तौ। मघवन्तः। हे मघवन्। मघवन्तम्। मघवन्तौ। मघवतः। मघवता। मघवद्भ्याम्, इत्यादि। तृत्वाभावे, मघवा। 'छन्दसीवनिपौ च' इति वनिबन्तं मध्योदात्तं छन्दस्येव। अन्तोदात्तं तु लोकेऽपीति विशेषः। मघवानौ। मघवानः। सुटि राजवत्। ३६२। श्वयुवमघोनामतद्धिते। ६।४।१३३। अन्नन्तानां भसंज्ञकानामेषामतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात्। 'सम्प्रसारणाच्च' (सू ३३०)। 'आद्गुणः' (सू ६९) मघोनः। 'अन्नन्तानाम्' किम्? मघवतः। मघवता। स्त्रियां मघवती। 'अतद्धिते' किम्? माघवनम्। मघोना। मघवभ्याम्, इत्यादि। शुनः। शुना। श्वभ्याम्, इत्यादि। 'युवन्' शब्दे वस्योत्वे कृते—३६३। न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्। ६।१।३७। सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात्। इति यकारस्य नेत्वम्। अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम्। यूनः। यूना। युवभ्याम्, इत्यादि। अर्वा। हे अर्वन्। ३६४। अर्वणस्त्रसावनञः ६।४।१२७। नञा

ससाध्य 'मघवा बहुलम्' इति सूत्रं प्रत्याख्यातमाकरे। उक्तार्थे बहुलग्रहणस्य ज्ञापकत्वाऽभावे 'मघवन्, मघवा' इत्यनयोरेव सिद्धिः स्यात्, न तु 'मघवान्' इत्यस्येति। तस्मादारम्भप्रत्याख्यानयोः फलैक्याय बहुलग्रहणमुक्तार्थे ज्ञापकमिति तत्त्वविदः। अत एव 'हविर्जक्षिति निश्शङ्को मखेषु मघवानसौ' इति भट्टिकाव्ये 'मघवान्' इत्युक्तिः सङ्गता।

मघोनः (ई. ५८, ६०)—मह्यते=पूज्यते इति मघवान्=इन्द्रः। 'श्वन्नुक्षनि'—त्यादिसूत्रेण निपातनात् मह् धातोः कनिप्रत्यये हस्य घत्वे च कृते 'मघवन्' शब्दो निष्पन्नो भवति। तस्य 'मघवा बहुलम्' इति तृत्वाभावे 'मघवन् अस्' इति स्थिते 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च कृते 'आद्गुणः' इति गुणे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'मघोनः इति सिद्धम्।

यूनः (ई. ६४, ७२)—युवन् शब्दात् शसि भसंज्ञायाम् 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति वकारस्य सम्प्रसारणे 'यु उ अन् अस्' इति स्थिते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे सवर्णदीर्घे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'यूनः' इति सिद्धम्। नचात्र यकारस्य सम्प्रसारणं कुतो नेति वाच्यम्? सवर्णदीर्घनिष्पन्नस्य

रहितस्यार्वन्नन्तस्याङ्गस्य 'तृ' इत्यन्तादेशः स्यात्, न तु सौ। उगित्वान्नुम्। अर्वन्तौ। अर्वन्तः। अर्वन्तम्। अर्वतः। अर्वता। अर्वद्भ्याम्, इत्यादि। 'अनञः' किम्? 'अनर्वा' यज्वत्। ३६५। पथिमथ्यृभुक्षामात् ७।१।८५। एषामाकारोऽन्तादेशः स्यात्सौ परे। 'आ आत्' इति प्रश्लेषेण शुद्धाया एव व्यवतेर्विधानान्नानुनासिकः। ३६६। इतोऽत्सर्वनामस्थाने ७।१।८६। पथ्यादेरिकारस्याकारः स्यात्सर्वनामस्थाने परे। ३६७। थो न्थः ७।१।८७। पथिमथोस्थस्य न्थादेशः स्यात्सर्वनामस्थाने परे। पन्थाः। पन्थानौ। पन्थानः। पन्थानम्। पन्थानौ। ३६८। भस्य टेर्लोपः ७।१।८८। भसंज्ञकस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः स्यात्। पथः। पथा। पथिभ्याम्, इत्यादि। एवं मन्थाः। ऋभुक्षाः। स्त्रियां नान्तलक्षणे ङीपि भत्वाट्टिलोपः। सुपथी, सुमथी नगरी। अनृभुक्षी सेना। आत्वं नपुंसके न भवति, 'न लुमता—' (सू २६३) इति प्रत्ययलक्षणनिषेधात्। सुपथि वनम्। ६१ सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः*। हे सुपथिन्—हे सुपथि। 'नलोपः सुप्स्वर—' (सू ३५३) इति नलोपस्यासिद्धत्वाद्ध्रस्वस्य गुणो न। द्विवचने भत्वाट्टिलोपः। सुपथी। शौ सर्वनामस्थानत्वात्सुपन्थानि। पुनरपि सुपथि। सुपथी। सुपन्थानि। सुपथा। सुपथे।

ऊकारस्य 'अचः परस्मिन्' इति स्थानित्वेन सम्प्रसारणतया 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति निषेधात्। ननु स्थानिवत्त्वेऽपि प्रथमेन उकारेण व्यवधानात् सम्प्रसारणपरत्वाभावात् कथमत्र निषेधः स्यादिति चेन्न, 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति सूत्रस्य 'यूनस्तिः' इति सूत्रस्य च वैयार्थ्यापत्तेः। नच तर्हि प्रथमं यकारस्य सम्प्रसारणमस्तु, तदुत्तरं वकारस्याऽपीति वाच्यम्? तदपि 'न सम्प्रसारणे' इति निषेधस्यैव वैयर्थ्यापत्तेरिति दिक्।

पन्थाः (ई. ५२)—'पथिन्' शब्दात् सौ 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इति आत्वे 'इतोत्सर्वनामस्थाने' इति थकारोत्तरवर्तिनः इकारस्य अकारे 'थो न्थः' इति थस्य 'न्थादेशे' 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे 'पन्थाः' इति।

सुपथि—शोभनः पन्था यस्य वनस्येति बहुव्रीहौ सुपथिन्-शब्दात् सौ सोर्लुकि नलोपे च कृते 'सुपथि' इति। प्रत्ययलक्षणेन सुप्त्वात् 'पथिमथि—' इत्यात्वन्तु न 'न लुमते'ति प्रत्ययलक्षणनिषेधात्।

सुपन्थानि (ई. ६६)—शोभनः पन्थाः अस्य वनस्येति सुपथिन् शब्दात् शसि 'जश्शसोः शिः' इत्यनेन श्यादेशे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनाम-

सुपथिभ्याम्, इत्यादि। ३६९। ष्णान्ता षट् १।१।२४। षान्ता नान्ता च सङ्ख्या षट्संज्ञा स्यात्। 'षड्भ्यो लुक्' (सू २६१) पञ्च २। 'सङ्ख्या' किम्? विप्रुषः। पामानः। 'शतानि' 'सहस्राणि' इत्यत्र सन्निपातपरिभाषया न लुक्, सर्वनामस्थानसन्निपातेन कृतस्य नुमस्तदविघातकत्वात्। पञ्चभिः। पञ्चभ्यः २। 'षट्चतुर्भ्यश्च' (सू ३३८) इति नुट्। ३७०। नोपधायाः ६।४।७। नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यान्नामि परे। नलोपः। पञ्चानाम्। पञ्चसु। परमपञ्च। परमपञ्चानाम्। गौणत्वे तु न लुग्नुटौ। प्रियपञ्चा। प्रियपञ्चानौ। प्रियपञ्चानः। प्रियपञ्चाम्। एवं सप्तन्, नवन् दशन्। ३७१। अष्टन आ विभक्तौ ७।२।८४। अष्टन आत्वं स्याद्धलादौ विभक्तौ। ३७२। अष्टाभ्य औश् ७।१।२१। कृताकारादष्टनः परयोर्जश्शसोरौश् स्यात्। 'अष्टभ्यः' इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति। वैकल्पिकं चेदमष्टन आत्वम्, 'अष्टनो दीर्घात्' (सू ३७१८) इति सूत्रे दीर्घ-

---

स्थानसज्ञायाम् 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' इत्यात्वे 'थो न्थः' इति थस्य न्थादेशे 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति दीर्घे उक्तं रूपं सिद्धम्।

तानि (ई. ६४)—शतशब्दाज्जसि शसि वा जश्शसोः स्थाने शयादेशे नुमि 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति दीर्घे उक्तं रूपं सिद्धम्। नच 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि सति 'शतन् इ' इति स्थिते 'ष्णान्ता षट्' इति षट्संज्ञायां 'षड्भ्यो लुक्' इति जश्शसोर्लुक् कुतो नेति वाच्यम्, सन्निपातपरिभाषाविरोधात्। सर्वनामस्थानसन्निपातेन विहितस्य नुमः षट्त्वसम्पादनद्वारा तदविघातकत्वादिति भावः।

अष्टभ्य इति—अयम्भावः-एकमात्रालाघवेन 'अष्टभ्यः' इत्येव वक्तव्ये 'अष्टाभ्यः' इति दीर्घोच्चारणं क्वचिदजादावपि 'अष्टन आ विभक्तौ' इति सूत्रविहितमात्वम्भवतीति ज्ञापयति। तेन जस्शसोरपि विषये आत्वं सिध्यति, 'अष्टनो दीर्घात्' इति सूत्रे दीर्घग्रहणेन 'अष्टन आ' इति विहितमात्वं विकल्पेन भवतीत्यपि सिद्धम्। अन्यथा सर्वत्रैव दीर्घाकारस्यैव सम्भवात्तत्सूत्रे दीर्घग्रहणं व्यर्थमेव स्यादिति भावः।

अष्टौ (ई. ६३, ७२)—अष्टन् शब्दात् जसि शसि च अनुबन्धलोपे 'अष्टन् अस्' इति स्थिते 'अष्टन आ विभक्तौ' इति अष्टनो नकारस्य आत्वे

ग्रहणाज्ज्ञापकात् । अष्टौ २ । परमाष्टौ । अष्टाभिः । अष्टाभ्यः २ । अष्टानाम् । अष्टासु । आत्वाभावे । अष्ट । अष्ट, इत्यादि पञ्चवत् । गौणत्वे त्वात्त्वाभावे राजवत् । शसि प्रियाष्ट्नः । इह पूर्वस्मादपि विधावल्लोपस्य स्थानिवद्भावान्न ष्टुत्वम्, कार्यकालपक्षे बहिरङ्गस्याल्लोपस्यासिद्धत्वाद्वा । प्रियाष्ट्ना, इत्यादि । जश्शसोरनुमीयमानमात्त्वं प्राधान्य एव, न तु गौणतायाम् । तेन प्रियाष्ट्नो हलादावेव वैकल्पिकमात्त्वम् । प्रियाष्टाभ्याम् । प्रियाष्टाभिः । प्रियाष्टाभ्यः २ । प्रियाष्टासु । 'प्रियाष्ट्नो राजवत्सर्वं हाहावज्ञापरं हलि ।' इति नान्ताः ।

'अष्ट आ अस्' इति स्थिते 'सवर्णदीर्घे' 'अष्टाभ्य औश्' इति औशि अनुबन्धलोपे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'अष्टौ' इति । ननु हलादावात्वस्य विधानेन कथमत्र अजादावात्वमिति चेन्न, एकमात्रालाघवेन 'अष्टभ्य औस्' इति वक्तव्ये 'अष्टाभ्यः' इति दीर्घोच्चारणं क्वचिदजादावपि 'अष्टन आ विभक्तौ' इति सूत्रविहितमात्वं भवतीति ज्ञापनेनादोषात् ।

प्रियाष्टनः (ई. ६३, ६५, ६६, ७०, ७१)—प्रिया अष्टौ येषामिति विग्रहे समासात् 'प्रियाष्टन्' शब्दात् शसि भसंज्ञायाम् अल्लोपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'प्रियाष्टनः' इति । अत्र पञ्चमीसमासपक्षे अल्लोपस्य स्थानिवत्वात् न ष्टुत्वम् । 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति निषेधस्तु न, 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' इति निषेधात् । पञ्चमीसमासस्य अनित्यत्वपक्षे तु कार्यकालपक्षे त्रिपाद्यामप्यन्तरङ्गपरिभाषायाः प्राचीनमते प्रवृत्तिस्वीकारेण तयाऽसिद्धतया न ष्टुत्वमिति दिक् ।

इह पूर्वस्मादपीति—अयम्भावः-प्रियाष्टन् शब्दात् शसि भसंज्ञायाम् 'अल्लोपो नः' इति अकारलोपे सकारस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

नचात्र अल्लोपे कृते 'ष्टुना ष्टुः' इति टकारयोगे नकारस्य ष्टुत्वेन णकारापत्तिः कुतो नेति वाच्यम्—'अचः परस्मिन्' इति अल्लोपस्य स्थानिभूतलुप्ताकारापेक्षया पूर्वत्वेन दृष्टाट्टकारात्परस्य णत्वे कर्तव्ये स्थानिवद्भावेन टकारयोगाभावेन ष्टुत्वाप्रवृत्तेः । नच 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' इति निषेधः स्यादिति वाच्यम्, 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' इति णत्वे कर्तव्ये तन्निषेधात् । यदि तु लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया णत्वपदेन न ष्टुत्वनिरन्न-

भष्भावः । जश्त्वचर्त्वे । भुत्—भुद् । बुधौ । बुधः । बुधा । भुद्भ्याम् । भुत्सु । इति धान्ताः ।

३७३ । **ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च** ३।२।५९। एभ्यः क्विन् स्यात् । अलाक्षणिकमपि किञ्चित्कार्यं निपातनाल्लभ्यते । निरुपपदाद्युजेः क्विन् । कनावितौ । ३७४ । **कृदतिङ्** ३।१।९३। सन्निहिते धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात् । ३७५ । **वेरपृक्तस्य** ६।१।६७। अपृक्तस्य वस्य लोपः स्यात् । 'कृत्तद्धित—' (सू १७९) इति प्रातिपदिकत्वात्स्वादयः । ३७६ । **युजेरसमासे** ७।१।७१। युजेस्सर्वनामस्थाने नुम्स्यादसमासे । सुलोपः, संयोगान्तलोपः । ३७७ । **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** ८।२।६२। क्विन्प्रत्ययो यस्मात्तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात्पदान्ते । नस्य कुत्वेनानुनासिको ङकारः । युङ् । 'नश्चापदान्तस्य–' (सू १२३) इति नुमोऽनुस्वारः । परसवर्णः । तस्यासिद्धत्वात् 'चोः कुः' (सू ३७८) इति कुत्वं न । युञ्जौ । युञ्जः । युञ्जम् । युञ्जौ । युजः । युजा । युग्भ्याम्, इत्यादि । 'असमासे' किम् ?

३७८ । **चोः कुः** ८।२।३०। चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च । इति कुत्वम्, 'क्विन्प्रत्ययस्य'–(सू. ३७७) इति कुत्वस्यासिद्धत्वात् ।

णत्वस्य ग्रहणमित्युच्यते तर्हि 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषया भसंज्ञाद्वारा बाह्यशस्प्रत्ययनिमित्तकाऽल्लोपस्य बहिरङ्गत्वेनान्तर्भूतटकारयोगनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गष्टुत्वदृष्टचासिद्धत्वात् । यथोद्देशपक्षे 'राज्ञः' इत्यादाविव असिद्धपरिभाषायास्त्रैपादिकेऽप्रवृत्तिरिति दूषणं तु न युक्तम्, एकपक्षेणेष्टसिद्धौ पक्षान्तरेण दूषणदानस्यानुचितत्वात् ।

युङ् (ई. ६९)—'युजिर् योगे' अस्माद्धातोः 'ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च' इति क्विनि 'लशक्वतद्धिते' इति ककारस्य 'हलन्त्यम्' इति नकारस्य, च इत्संज्ञायाम् 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' इति अपृक्तसंज्ञायां सत्यां 'वेरपृक्तस्य' इति वकारस्य च इत्संज्ञायां लोपे च विहिते इकारस्योच्चारणार्थत्वेन तस्मिन्नपि गते प्रत्ययलक्षणेन 'कृदतिङ्' इति कृत्संज्ञायां 'कृत्तद्धितसमासाश्चेति' कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ अनुबन्धलोपे 'युजेरसमासे' इति नुमि अनुबन्धलोपे हल्ङ्यादिना सलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति जलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति नस्य कुत्वेन ङकारे 'युङ्' इति सिद्धम् ।

सुयुक् -सुयुग् । सुयुजौ । सुयुजः । 'युजेः' इति धातुपाठपठितेकारविशिष्टस्यानुकरणम्, न श्विका निर्देशः । तेनेह न-युज्यते समाधत्ते इति युक् । 'युज समाधौ' दैवादिक आत्मनेपदी । संयोगान्तलोपः । खन् । खञ्जौ । खञ्जः, इत्यादि । 'व्रश्च–' (सू. २९४) इति षत्वम् । जश्त्वचर्त्वे । राट्–राड् । राजौ । राजः । राट्त्सु-राट्सु । एवं विभ्राट् । देवेट्-देवेड् । देवेजौ । देवेजः । विश्वसृट्-विश्वसृड् । विश्वसृजौ । विश्वसृजः । इह सृजियज्योः कुत्वं नेति क्लीबे वक्ष्यते । परिमृट् । षत्वविधौ राजिसाहचर्यात् 'टुभ्राजृ दीप्तौ' इति फणादिरेव गृह्यते । यस्तु 'एजृ भ्रेजृ भ्राजृ दीप्तौ' इति, तस्य कुत्वमेव । विभ्राक्–विभ्राग् । विभ्राग्भ्याम्, इत्यादि । 'परौ व्रजेः षः पदान्ते' (उ. २१७) । परावुपपदे व्रजेः क्विप्स्याद्दीर्घश्च पदान्तविषये षत्वं च । परित्यज्य सर्वं व्रजतीति परिव्राट् । परिव्राड् । परिव्राजौ । परिव्राजः । ३७९ । **विश्वस्य वसुराटोः** ६।३।१२८। विश्वशब्दस्य दीर्घः स्याद्वसौ राट्शब्दे च परे । विश्वं वसु यस्य स विश्वावसुः । राडिति पदान्तोपलक्षणार्थम् । चर्त्वमविवक्षितम् । विश्वाराट्-विश्वाराड् । विश्वराजौ । विश्वराजः । विश्वाराड्भ्याम्, इत्यादि । ३८० । **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** ८।२।२९। पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः स्यात् । भृट्-भृड् । सस्य श्चुत्वेन शः । तस्य जश्त्वेन जः । भृज्जौ । भृज्जः । 'ऋत्विग्–' (सू. ३७३) इत्यादिना ऋता-

---

युक् (ई. ६१)—युज्यते समाधत्ते इति युक् । युज् समाधौ इति दैवादिकात् युज्धातोः 'क्विप् च' इति क्विपि क्विपः सर्वापहारे सौ हल्ङ्यादिना सोर्लोपे कुत्वे 'युक्' इति । 'ऋत्विग्—' सूत्रे 'युजेरसमासे' इति सूत्रे च व्याख्यानात् 'युजिर्योगे' इति धातुपाठपठितस्य रकारविशिष्टस्यैव ग्रहणादत्र नुम्नेति तत्त्वविदः ।

विश्वाराट् (ई. ७४)—विश्वोपपदात् राज्धातोः 'सत्सूद्विषु' इति क्विपि क्विपः सर्वापहारे 'विश्वराज्' इति, तस्मात् कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ अनुबन्धलोपे 'विश्वराज् स्' इति दशायां 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः' इति जकारस्य षत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति षकारस्य जश्त्वेन डकारे 'वाऽवसाने' इति डस्य चर्त्वे 'विश्वस्य वसुराटोः' इति विश्वशब्दस्य दीर्घे 'हल्ङ्यादिना सलोपे 'विश्वाराट्' इति । चर्त्वाऽभावपक्षे 'विश्वाराड्' इति ।

वुपपदे यजेः क्विन् । क्विन्नन्तत्वात्कुत्वम् । ऋत्विक्-ऋत्विग् । ऋत्विजौ । ऋत्विजः । 'रात्सस्य' (सू. २८०) इति नियमान्न संयोगान्तलोपः ऊर्क्-ऊर्ग् । ऊर्जौ । ऊर्जः । इति जान्ताः ।

त्यदाद्यत्वं पररूपत्वं च । ३८. । तदोः सः सावनन्त्ययोः ७।२।१०६। त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात् सौ परे । स्यः । त्यौ । त्ये । त्यम् । त्यौ । त्यान् । सः । तौ । ते । परमतौ । परमते । द्विपर्यन्तानामित्येव । नेह-त्वम् । न च तकारोच्चारणसामर्थ्यान्नेति वाच्यम्, अतित्वमिति गौणे चरितार्थत्वात् । संज्ञायां, गौणत्वे चात्वसत्वे न । त्यद् । त्यदौ । त्यदः । अतित्यद् । अतित्यदौ । अतित्यदः । यः । यौ । ये । एषः । एतौ । एते । अन्वादेशे तु–

ऋत्विक् (ई. ६३) – ऋतावुपपदे 'यज्' धातोः 'ऋत्विग्दधृक्' इत्यादिना क्विनि 'लशक्वतद्धिते' इति ककारस्य 'हलन्त्यम्' इति नकारस्य च इत्संज्ञायां लोपे च कृते इकारस्योच्चारणार्थत्वेन तस्मिन्नपि गते क्विनो वकारस्य 'अपृक्त एकालप्रत्ययः' इत्यपृक्तसंज्ञायां वेरपृक्तसंज्ञकस्य वस्य च लोपे विहिते क्विनः सर्वाऽपहारे 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'ऋतु इज्' इति स्थिते 'इको यणचि' इति यणि 'ऋत्विज्' इति स्थिते 'कृदतिङ्' इति सूत्रेण कृत्संज्ञायां 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ अनुबन्धलोपे 'ऋत्विज् स्' इति स्थिते हल्ङ्यादिना सलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति जस्य कुत्वे 'वाऽवसाने' इति तस्य चर्त्वे'ऋत्विक्' इति । चर्त्वाऽभावपक्षे 'ऋत्विग्' इति ।

द्विपर्यन्तानामित्येव । अयम्भावः—'तदो सः सावनन्त्ययोः' इति सूत्रे त्यदादीनां द्विपर्यन्त एव गृह्यते इति युष्मद्शब्दस्य त्यदादिबहिर्भूतत्वेन त्वमित्यत्र तकारस्य सत्वं न भवति ।

न च 'त्वाहौ सौ' इति सूत्रे तकारोच्चारणसामर्थ्यादेवात्र सत्वं न स्यादिति वाच्यम् । अतित्वमित्यत्र गौणे तकारोच्चारणस्य सफलत्वात् । तत्र चात्वसत्वे न भवतः, यतः सर्वेषां नामवाचकः सर्वनामेत्यन्वर्थसंज्ञाबलेन यत्र सर्वादीनां प्राधान्यं स्यात्तत्रैव सर्वनामसंज्ञा भवति । गौणे च सर्वादीनां प्रधानता न विद्यते इति सर्वनामसंज्ञा न भवति । एवञ्च सर्वनामसंज्ञानिमित्तकं सर्वाद्यन्तर्गण-कार्यञ्च प्रधानतायामेव न तु गौणे ।

एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः२। ३८२। ङेप्रथमयोरम् ७।१।२८। युष्मदस्मद्भ्यां परस्य 'ङे' इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः स्यात् । ३८३ । मपर्यन्तस्य ७।२।९१। इत्यधिकृत्य । ३८४ । त्वाहौ सौ ७।२।९४। युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्व, अह इत्येतावादेशौ स्तः सौ परे । ३८५ । शेषे लोपः ७।२।९०। आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ परतो युष्मदस्मदोरन्त्यस्य लोपः स्यात् । 'अतो गुणे' (सू. १९१) 'अमि पूर्वः' (सू. १९४) । त्वम् । अहम् । ननु 'त्वं स्त्री' 'अहं स्त्री' इत्यत्र 'त्व अम्' 'अह अम्' इति स्थिते अमि पूर्वरूपं परमपि बाधित्वाऽन्तरङ्गत्वाट्टाप् प्राप्नोति ? सत्यम्, अलिङ्गे युष्मदस्मदी । तेन स्त्रीत्वाभावान्न टाप् । यद्वा, शेष इति सप्तमी स्थानिनोऽधिकरणत्वविवक्षया । तेन मपर्यन्ताच्छेषस्य 'अद्' इत्यस्य लोपः । स च परोऽप्यन्तरङ्गे अतो गुणे कृते प्रवर्तते । अदन्तत्वाभावान्न टाप् । परमत्वम् । परमाहम् । अतित्वम् । अत्यहम् । ३८६ । युवावौ द्विवचने ७।२।९२। द्वयोरुक्तौ युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ । ३८७ । प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ७।२।८८। इह युष्मदस्मदोराकारोऽन्तादेशः स्यात् । 'औङि' इत्येव सुवचम् । 'भाषायाम्' किम् ? युवं वस्त्राणि । युवाम् । आवाम् । 'मपर्यन्तस्य' (सू. ३८३) किम् ? साकच्कस्य मा भूत् । युवकाम् । आवकाम् । 'त्वया' 'मया' इत्यत्र 'त्व्या' 'म्या' इति मा भूत् । 'युवकाभ्याम्' 'आवकाभ्याम्' इति च न सिद्धयेत् ।

त्वं स्त्री—ननु त्वं स्त्रीत्यत्र 'त्वाहौ सौ' इति त्वादेशे 'शेषे लोपः' इति लोपे 'ङे प्रथमयोरम्' इत्यमादेशे च त्व अम्, अह अम् इति दशायाम् 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषया परमपि अमि पूर्वरूपं बाधित्वा टाप् स्यादिति चेन्न, 'अलिंगे युष्मदस्मदी' इति वचनेन तयोः स्त्रीत्वाभावात् । 'शेषे लोपः' इति सूत्रे शेषे इति षष्ठ्यर्थे सप्तमी ततश्च शेषस्य 'अद्' इत्यस्य लोप इत्यर्थे त्व अद् इति स्थिते 'अतो गुणे' इति पररूपे कृते परादिवद्भावेन अद्भागमादाय तस्याद्भागस्य लोपेऽदन्तत्वाभावादेव न टाप् स्यादित्यपि बोध्यम् ।

मपर्यन्तस्य किम् (ई. ५८)—'अयम्भावः–ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नः टेः प्रागकच्, अन्यत्र तु सुबन्तस्य टेः प्रागकच्' इति वार्तिकेन पूर्वं युवामिति संसाध्य आमः पर्वम् 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' इति सूत्रेणा-

३८८। यूयवयौ जसि ७।२।९३। स्पष्टम्। यूयम्। वयम्। परमयूयम्। परमवयम्। अतियूयम्। अतिवयम्। इह शेषे लोपोऽन्त्यलोप इति पक्षे जसः शी प्राप्तः। 'अङ्गकार्ये कृते पुनर्नाङ्गकार्यम्' (प. ९३) इति न भवति। 'ङे प्रथमयोः'—' (सू. ३८२) इत्यत्र मकारान्तरं प्रश्लिष्य 'अम् मान्त एवाशिष्यते, न तु विक्रियते' इति व्याख्यानाद्वा। ३८९। त्वमावेकवचने ७।२।९७। एकस्योक्तौ युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ। ३९०। द्वितीयायाञ्च ७।१।८६। युष्मदस्मदोराकारः स्यात्। त्वाम्। माम्। युवाम्। आवाम्। ३९१। शसो न ७।१।२९। नेत्यविभक्तिकं पदम्। युष्मदस्मद्भ्यां परस्य शसो नकारः स्यात्। अमोऽपवादः। 'आदेः परस्य' (सू. ४४)। 'संयोगान्तस्य लोपः' (सू. २४) युष्मान्। अस्मान्।

कजादेशे युवकामित्यत्र दोषाभावेन त्व्या म्येति दूषणं दत्तम् 'योऽचि' इति सूत्रस्थाने 'अच्चे' इति न्यासेन अजादिविभक्तौ एत्वं स्यादित्यर्थेऽलोऽन्त्यपरिभाषया त्वादेशोत्तरम् अकारस्य एत्वे अयादेशे च कृते त्वयेति रूपसिद्धौ युवकाभ्यामित्यत्र दूषणं बोध्यम्।

यूयम् (ई. ६५)—युष्मद्शब्दाज्जसि 'ङे प्रथमयोरम्' इत्यमादेशे 'यूयवयौ जसि' इति यूयादेशे 'शेषे लोपः' इत्यन्तलोपे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे उक्तं रूपं सिद्धम्। नन्वत्र 'यूय अम्' इति स्थिते अमादेशस्य 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इत्यनेन स्थानिवद्भावाज्जस्त्वारोपेण अदन्तसर्वनाम्नः परतया 'जसः शी' इति श्यादेशः कुतो नेति चेदुच्यते—'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः' अङ्गकार्ये कृते पुनः द्वितीयमङ्गकार्यं न भवतीत्यर्थिकया परिभाषया यूयादेशस्याऽङ्गकार्यस्य प्रवृत्त्यनन्तरं श्यादेशप्रवृत्तेर्निषेधात्।

अङ्गकार्येति—नच युष्मद्—शब्दात् जसि 'ङे प्रथमयोरम्' इति जसोऽमादेशे 'यूयवयो जसि' इति यूयादेशे 'शेषे लोपः' इत्यन्तलोपे स्थानिवत्वेनामो 'जसः शी' इति श्यादेशः कथन्नेति वाच्यम्, अङ्गकार्ये कृते पुनर्नाङ्गकार्यम्' इति परिभाषया वारणसम्भवात्। ननु द्वयोरित्यादिनिर्देशेन अस्या अनित्यत्वात् श्यादेशो दुर्वार इति चेन्न, 'ङे प्रथमयोरम्' इत्यत्र मकारान्तरं प्रश्लिष्य अम् मान्त एवावशिष्यते नतु विक्रियते इति व्याख्यानेनादोषात्।

युष्मान् (ई. ७१)—युष्मच्छब्दाच्छसि 'युष्मद् अस्' इति स्थिते 'द्वितीयायां च' इति अन्त्यस्य दमात्रस्य आकारे सवर्णदीर्घे 'शसो नः'

३९२ । योऽचि ७।२।८९। अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः। त्वया । मया ।

३९३ । युष्मदस्मदोरनादेशे ७।२।८६। अनयोराकारः स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः । ३९४। तुभ्यमह्यौ ङयि ७।२।९५। अनयोर्मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो ङयि । अमादेशः 'शेषे लोपः' (सू. ३८५) । तुभ्यम् । मह्यम् । परमतुभ्यम् । परममह्यम् । अतितुभ्यम् । अतिमह्यम् । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । ३९५ । भ्यसो भ्यम् ७।१।३०। भ्यसो भ्यम् अभ्यम् वा आदेशः स्यात् । आद्यः शेषे लोपस्यान्त्यलोपत्व एव । तत्राङ्गवृत्तपरिभाषया एत्वं न । 'अभ्यम्' तु पक्षद्वयेऽपि साधुः युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् । ३९६ । एकवचनस्य च ७।१।३२। आभ्यां पञ्चम्येकवचनस्य अत् स्यात् । त्वत् । मत् । 'ङसेश्च' इति सुवचनम् । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । ३९७ । पञ्चम्या अत् ७।१।३१। आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत्स्यात् । युष्मत् । अस्मत् । ३९८ । तवममौ ङसि ७।२।९६। अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि । ३९९ । युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ७।१।२७। स्पष्टम् ।

इत्यनेन 'आदेपरस्ये'ति सहकाराच्छसोऽकारस्य नादेशे 'संयोगान्तस्ये'ति सलोपे 'युष्मान्' इति ।

युष्मभ्यम् (ई. ६३)—युष्मच्छब्दात् चतुर्थ्याः पञ्चम्याः वा बहुवचने 'युष्मद् भ्यस्' इति स्थिते 'भ्यसो भ्यम्' इति भ्यसो भ्यमादेशे 'शेषे लोपः' इत्यन्तलोपे 'युष्मभ्यम्' इति सिद्धम् । न चात्र दकारलोपे सति 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वं कुतो नेति वाच्यम्, 'अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः' इति निषेधात् । (अंगे वृत्तं = वर्तनं यस्य तदङ्गवृत्तं, तस्मिन् कार्ये प्रवृत्ते सति अन्यस्याङ्गकार्यस्य प्रवृत्तौ = प्रवृत्तिविषये अविधिः = विधिर्नास्तीति तदर्थः ।)

यद्वा—'भ्यसो भ्यम्' इत्यत्र 'भ्यसोऽभ्यम्' इति छेदपक्षे भ्यसोऽभ्यमादेशे 'शेषे लोपः' इति टिलोपे उक्तं रूपं ज्ञेयम् । अन्त्यलोपपक्षे तु 'अतो गुणे' इति पररूपेण निष्पन्नं बोध्यम् ।

मत् (ई. ६६)—अस्मद्-शब्दात् पञ्चम्येकवचने 'अस्मद् अस्' इति स्थिते 'त्वमावेकवचने' इति मादेशे 'एकवचनस्य च' इत्यनेन ङसेरदादेशे 'म अद अत्' इति स्थिते पूर्वाकारस्य पररूपे 'शेषे लोपः' इति टिलोपे उक्तं रूपं सिद्धम् । अन्त्यलोपपक्षे तु त्रयाणामकाराणां पर्यायेण पररूपं बोध्यम् ।

तव । मम । युवयोः । आवयोः । ४०० । साम आकम् ७।१।३३। आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात् । भाविनः सुटो निवृत्यर्थं ससुट्कनिर्देशः । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि । युवयोः । आवयोः । युष्मासु । अस्मासु ।

'समस्यमाने द्व्येकत्ववाचिनी युष्मदस्मदी ।
समासार्थोऽन्यसङ्ख्यश्चेत् स्तो युवावौ त्वमावपि ॥
सुजस्ङेङस्सु परत आदेशाः स्युः सदैव ते ।
त्वाहौ यूयवयौ तुभ्यमह्यौ तवममावपि ॥
एते परत्वाद् बाधन्ते युवावौ विषये स्वके ।
त्वमावपि प्रबाधन्ते पूर्वविप्रतिषेधतः ॥
द्व्येक सङ्ख्यः समासार्थो बह्वर्थे युष्मदस्मदी ।
तयोरद्व्येकतार्थत्वान्न युवावौ त्वमौ च न ॥'

युष्माकम् (ई. ५७, ६३, ६४)—युष्मद् शब्दादामि 'युष्मद् आम्' इति स्थिते 'साम आकम्' इति आमि साम्त्वारोपेण आकमादेशे 'युष्मद् आकम्' इति स्थिते 'शेषे लोपः' इति अन्त्यस्य दस्य लोपे सवर्णदीर्घे 'युष्माकम्' इति ।

ननु 'युष्मद् आम्' इति स्थिते 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति अदन्तात् परस्यामो विधीयमानस्य सुटः प्रसक्तिरेव नास्ति, न च 'शेषे लोपः' इति अन्त्यस्य दस्य लोपे कृते अदन्तात् परत्वामोऽस्तीति वाच्यम्, 'आकमादेशात् प्राग् अनादेशतया 'योऽचि' इति सूत्रस्य प्राप्तया 'शेषे लोपः' इत्यस्याऽप्रसक्तेः । तथा च ससुट्कनिर्देशो व्यर्थः सूत्राऽसङ्गतिश्चेति चेन्न, आकमि कृते 'शेषे लोपः' इति लोपे सति प्राप्तस्य सुटो निवृत्यर्थं ससुट्कनिर्देशस्यावश्यकत्वात् ।

समस्यमाने (ई. ६०, ६३, ६७, ७०, ७१, ७३)—अयम्भावः—'युवावौ द्विवचने' 'त्वमावेकवचने' इति सूत्रे च द्विवचनैकवचनयोरर्थपरत्वव्याख्याने फलं दर्शयति—समस्यमाने द्व्येकत्वेत्यादिना ।

तथा च—यत्र समासे लौकिकविग्रहवाक्ये युष्मदस्मद्शब्दौ द्वित्वस्य वाचकौ स्तः तत्र सु जस् ङे ङस् इति चतस्रः विभक्तीः विहाय सर्वत्रैव युवावौ स्याताम् । यत्र च लौकिकविग्रहवाक्ये युष्मदस्मद्शब्दौ एकत्वरूपार्थस्य वाचकौ स्तः, तत्र पूर्ववत्सर्वत्र त्वमौ स्याताम् । अथ च यत्र समासे युष्मदस्मद्शब्दौ बहुत्वरूपार्थस्य वाचकौ तत्र युवावौ त्वमौ च न स्तः ।

त्वां, मां वा अतिक्रान्त इति विग्रहे अतित्वम् । अत्यहम् । अतित्वाम् । अतिमाम् । अतियूयम् । अतिवयम् । अतित्वाम् २ । अतिमाम् २ । अतित्वान् । अतिमान् । अतित्वया । अतिमया । अतित्वाभ्याम् । अतिमाभ्याम् । अतित्वाभिः । अतिमाभिः । अतितुभ्यम् । अतिमह्यम् । अति त्वाभ्याम् । अतिमाभ्याम् । अतित्वभ्यम् । अतिमभ्यम् । ङसिभ्यसोः, अतित्वत् २ । अतिमत् २ । भ्यामि प्रग्वत् । अतितव । अतिमम । अतित्वयोः । अतिमयोः । अतित्वाकम् । अतिमाकम् । अतित्वयि । अतिमयि । अतित्वयोः । अतिमयोः । अतित्वासु । अतिमासु ।

युवाम् आवां वा अतिक्रान्त इति विग्रहे सुजस्ङेङस्सु प्राग्वत् । औ-अम्-औट्सु—अतियुवाम् ३ । अत्यावाम् ३ । अतियुवान् । अत्यावान् । अतियुवया । अत्यावया । अतियुवाभ्याम् ३ । अत्यावाभ्याम् ३ । अतियुवाभिः । अत्यावाभिः । भ्यसि, अतियुवभ्यम् । अत्यावभ्यम् । ङसिभ्यसोः अतियुवत् २ । अत्यावत् २ । ओसि अतियुवयोः २ । अत्यावयोः २ । अतियुवाकम् । अत्यावाकम् । अतियुवयि । अत्यावयि । अतियुवासु । अत्यावासु ।

युष्मानस्मान्वा अतिक्रान्त इति विग्रहे सुजस्ङेङस्सु प्राग्वत् । औ-अम्-औट्सु—अतियुष्माम् ३ । अत्यस्माम् ३ । अतियुष्मान् । अत्यस्मान् । अतियुष्मया । अत्यस्मया । अतियुष्माभ्याम् ३ । अत्यस्माभ्याम् ३ । अतियुष्माभिः । अत्यस्माभिः । भ्यसि-अतियुष्मभ्यम् । अत्यस्मभ्यम् । ङसिभ्यसोः-अतियुष्मत् २ । अत्यस्मत् २ । ओसि अतियुष्मयोः २ । अत्यस्मयोः २ । अतियुष्माकम् । अत्यस्माकम् । अतियुष्मयि । अत्यस्मयि । अतियुष्मासु । अत्यस्मासु ।

४०१ पदस्य ८।१।१६। ४०२ । पदात् ८।१।१७। ४०३ । अनुदात्तं सर्वमपादादौ ८।१।१८। इत्यधिकृत्य । ४०४ । युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ ८।१।२०। पदात्परयोरपादादौ स्थितयोरनयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वां नौ इत्यादेशौ स्तः, तौ चानुदात्तौ ।

इत्थञ्च त्वां मा वाऽतिक्रान्तः इति विग्रहे सर्वत्र त्वमौ भविष्यतः । युवामावां वाऽतिक्रान्तः इति विग्रहे सर्वत्र युवावौ भविष्यतः । युष्मान् अस्मान् वाऽतिक्रान्तः इति विग्रहे च युवावौ त्वमौ च न भविष्यतः । द्विवचनैकवचनयोः प्रत्ययपरत्वे तु समस्तपदादेकवचने त्वमौ स्याताम् । द्विवचने च युवावौ स्यातामिति रूपेषु महान् भेदो भविष्यति । तस्मादर्थग्रहणमेव न्याय्यम् ।

४०५। बहुवचनस्य वस्नसौ ८।१।२१। उक्तविषयोरनयोः षष्ठ्यादि-बहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः। वान्नावोरपवादः। ४०६। तेमयावेकवचनस्य ८।१।२२। उक्तविषयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः। ४०७। त्वामौ द्वितीयायाः ८।१।२३। द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा, मा एतौ स्तः।

'श्रीशस्त्वाऽवतु माऽपीह दत्तात्ते मेऽपि शर्म सः।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः पातु वामपि नौ विभुः॥ १॥
सुखं वां नौ ददात्वीशः पतिर्वामपि नौ हरिः।
सोऽव्याद्वो नः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः स नः'॥ २॥

'पदात्परयोः' किम्? वाक्यादौ मा भूत्। त्वां पातु। मां पातु। 'अपादादौ' किम्? 'वेदैरशेषैः संवेद्योऽस्मान् कृष्णः सर्वदाऽवतु'। स्थग्रहणाच्छ्रूयमाणविभक्तिकयोरेव। नेह-इति युष्मत्पुत्रो ब्रवीति। इत्यस्मत्पुत्रो ब्रवीति। ६२ समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः*। ६३ एकतिङ् वाक्यम्*। तेनेह न—ओदनं पच, तव भविष्यति। इह तु स्यादेव–'शालीनां ते ओदनं दास्यामि' इति। ६४ एते वांनावादय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः*। अन्वादेशे तु नित्यं स्युः। धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्ति, इति वा। तस्मै ते नम इत्येव। ४०८। न चवाहाहैवयुक्ते ८।१।२४। चादिपञ्चकयोगे नैते आदेशाः स्युः। हरिस्त्वां मां च रक्षतु। कथं त्वां मां वा न रक्षेत्, इत्यादि। युक्तग्रहणात्साक्षाद्योगेऽयं निषेधः। परम्परा-

---

श्रीशस्त्वावतु०—इह=संसारे, श्रीशः=नारायणः, त्वा=त्वाम्, मे=मह्यम्, अपि=च, शर्म=सुखम्, दत्तात्=ददातु। स हरिः=पूर्वोक्तः नारायणः, ते=तव, मे=मम, अपि=च, स्वामी=प्रभुः, अस्तीति शेषः। (सः) विभुः=व्यापको नारायणः, वाम्=युवाम्, नौ=आवाम्, पातु=रक्षतु। (सः) ईशः=प्रभुः, वाम्=युवाभ्याम्, नौ=आवाभ्याम्, सुखं=कल्याणम्, ददातु=दत्तात्। (सः) हरिः=नारायणः, वां=युवयोः, नौ=आवयोः, पतिः=प्रभुः, अस्तीति शेषः। सः=हरिः, वः=युष्मान्, नः=अस्मान्, अव्यात्=रक्षेत्। सः=हरिः, वः=युष्मभ्यम्, नः=अस्मभ्यम्, शिवं=कल्याणं, दद्यात्। अत्र=इह लोके, सः=हरिः, वः=युष्माकम्, नः=अस्माकम्, सेव्यः=आराध्यः, अस्तीति शेषः।

सम्बन्धे त्वादेशः स्यादेव, हरो हरिश्च मे स्वामी। ४०९। पश्यार्थैश्चानालोचने ८।१।२५। अचाक्षुषज्ञानार्थैर्धातुभिर्योगे एते आदेशा न स्युः। चेतसा त्वां समीक्षते। परम्परासम्बन्धेऽप्ययं निषेधः। भक्तस्तव रूपं ध्यायति। आलोचने तु—भक्तस्त्वा पश्यति चक्षुषा। ४१०। सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ८।१।२६। विद्यमानपूर्वात्प्रथमान्तात्परयोरनयोरन्वादेशेऽप्येते आदेशा वा स्युः। भक्तस्त्वमप्यहं तेन हरिस्त्वां त्रायते स माम्'। त्वा मा इति वा। ४११। साऽऽमन्त्रितम् २।३।४८। सम्बोधने या प्रथमा तदन्तमामन्त्रितसंज्ञं स्यात्। ४१२। आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ८।१।७२। स्पष्टम्। अग्ने तव। देवास्मान् पाहि। अग्ने नय। अग्न इन्द्र वरुण। इह युष्मदस्मदोरादेशस्तिङन्तनिघात आमन्त्रितनिघातश्च न। 'सर्वदा रक्ष देव नः' इत्यत्र तु 'देव' इत्यस्याविद्यमानवद्भावेऽपि ततः प्राचीनं 'रक्ष' इत्येतदाश्रित्यादेशः। एवम् 'इमं मे गंगे यमुने' इति मन्त्रे यमुन इत्यादिभ्यः प्राचीनामंत्रिताविद्यमानवद्भावेऽपि मेशब्दमेवाश्रित्य सर्वेषां निघातः। ४१३ नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् ८।१।७३। विशेष्यं समानाधिकरणे आमन्त्रिते परे नाविद्यमानवत्स्यात्। हरे दयालो नः पाहि। अग्ने तेजस्विन्। ४१४। विभाषितं विशेषवचने ८।१।७४। अत्र भाष्यम् 'बहुवचनमिति वक्ष्यामि' इति। बहुवचनान्तं विशेष्यं समानाधिकरणे आमन्त्रिते विशेषणे परे अविद्यमानवद्वा। यूयं प्रभवो देवाः शरण्याः, युष्मान् भजे, वो भजे। इहान्वादेशेऽपि वैकल्पिका आदेशाः। सुपात्–सुपाद्। सुपादौ। सुपादः। सुपादम्। सुपादौ। ४१५। पादः पत् ६।४।१३०। पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः स्यात्। सुपदः। सुपदा। सुपाद्भ्याम्, इत्यादि। इति दान्ताः।

अग्निं मन्थतीत्यग्निमत्–अग्निमद्। अग्निमथौ। अग्निमथः। अग्निमद्भ्याम्, इत्यादि। इति थान्ताः।

'ऋत्विग्—' (सू ३७३) इत्यादिसूत्रेणाञ्चेः सुप्युपपदे क्विन्।

देवाऽस्मान् पाहि (ई. ६८)—अत्र 'सामन्त्रितम्' इत्यनेन सम्बोधनबहुवचनान्तस्य 'देवा' इत्यस्य आमन्त्रितसंज्ञायाम् 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' इति तस्याऽविद्यमानवद्भावे 'बहुवचनस्य वस्नसौ' इति अस्मदो नसादेशो न भवति। अस्मानित्यस्य पदात्परत्वाऽभावात्, पदादौ स्थितत्वाच्चेति।

४१६। अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४। हलन्तानामनिदितानामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः स्यात्किति ङिति च। 'उगिदचाम्—'

अधोनिर्दिष्टाः १–५ अङ्काः ११० पृष्ठस्य व्याख्याभागाः—

१. अतित्वाम् (ई. ५८)—'त्वमावेकवचने' इति सूत्रे एकवचनशब्दस्य अर्थपरत्वेन त्वामतिक्रान्तः इति विग्रहे समासे सति अतियुष्मच्छब्दस्य षष्ठीबहुवचने 'त्वमावेकवचने' इति त्वमादेशे 'शेषे लोपः' इति टिलोपे सवर्णदीर्घे उक्तं रूपं सिद्धम्।

२. अतिमाम् (ई. ६८)—मामतिक्रान्तौ इति विग्रहे समासनिष्पन्नादत्यस्मच्छब्दात् औ विभक्तौ 'अत्यस्मद् औ' इति स्थिते अस्मच्छब्दस्यैकत्वसंख्याभिधायित्वेऽपि पूर्वविप्रतिषेधात् मादेशे 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' इत्यनेनाकारे औविभक्तेरमादेशे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे उक्तं रूपं सिद्धम्।

३. अतित्वाकम् (ई. ६९, ७०, ७१)—त्वामतिक्रान्तः इति विग्रहे निष्पन्नादतियुष्मच्छब्दादामि 'अतियुष्मद् आम्' इति स्थिते 'त्वमावेकवचने' इति मपर्यन्तस्य त्वादेशे 'शेषे लोपः' इति टिलोपे 'साम् आकम्' इत्याकमादेशे सवर्णदीर्घे 'आतित्वाकम्' इति सिद्धम्। नन्विह अतियुष्मच्छब्दघटक 'युष्मत्' शब्दस्य उपसर्जनत्वेन सर्वादित्वविरहात् तदन्तस्य सर्वनामत्वाभावेन, सर्वनाम्नो विहितस्यैवाऽऽमः सुटो विधानात् प्रकृतेः सुट्सम्भावनाया अपि नितरामनुपलम्भात् कथं 'साम् आकम्' इति सूत्रप्रवृत्तिरिति चेन्न, 'अतित्वाकम्' इत्यस्य भाष्यकृता प्रदर्शितत्वेन यत्र सुट्सम्भविता तदर्थं ससुट्कनिर्देशः, यत्र च न भविता तत्र च केवलस्यामः आकमादेशस्य ससुट्कनिर्देशेन कल्पनात्।

४. अतियुवया (ई. ६६)—युवामतिक्रान्त इति विग्रहे निष्पन्नादतियुष्मच्छब्दात् तृतीयैकवचने 'अतियुष्मद् आ' इति स्थिते अत्वे पररूपे युवादेशे 'योऽचि' इति एकारादेशे उक्तं रूपं सिद्धम्।

५. युष्मानतिक्रान्तः इति (ई. ६४)—'द्वेकसंख्यः समासार्थो बह्वर्थे युष्मदस्मदी। तयोरद्वेकतार्थत्वान्न युवावौ त्वमौ च न।' इति चतुर्थश्लोकस्योदाहरणमेतत्। अत्र श्लोके यदा इत्यध्याहार्यम्। तथा च—यदा युष्मान् अस्मान् वा अतिक्रान्तौ अतिक्रान्ता वेति विग्रहे समासे सति द्वित्वैकत्वविशिष्ट-

(सू ३६१) इति नुम्। 'संयोगान्तस्य लोपः' (सू. ५४) नुमो नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (सू ३७७) इति कुत्वेन ङकारः। प्राङ्। अनुस्वारपरसवर्णौ। प्राञ्चौ। प्राञ्चः। प्राञ्चम्। प्राञ्चौ। ४१७। अचः ६।४।१३८। लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य लोपः स्यात्। ४१८। चौ ६।३।१३८। लुप्ताकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात्। प्राचः। प्राचा। प्राग्भ्याम्, इत्यादि। प्रत्यङ्। प्रत्यञ्चौ। प्रत्यञ्चः। प्रत्यञ्चम्। प्रत्यञ्चौ। 'अचः' (सू ४१७) इति लोपस्य विषयेऽन्तरङ्गोऽपि यण् न प्रवर्तते 'अकृतव्यूहाः'— (प ५७) इति परिभाषया। प्रतीचः। प्रतीचा। 'अमुमञ्चति' इति विग्रहे 'अदस्-अञ्च्' इति स्थिते। ४१९। विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये ६।३।९२। अनयोः सर्वनाम्नश्च टेरद्र्यादेशः स्यादप्रत्ययान्ते अञ्चतौ परे।

समासार्थः समासस्य मुख्यविशेष्यभूतः, युष्मद्—अस्मदी तु बह्वर्थकः, तदा युवावौ त्वमौ च न स्तः, तयोः युष्मदस्मदोर्द्वित्वैकत्वविशिष्टार्थत्वाभावादित्यर्थः। अत्र युष्मच्छब्दस्य एकद्व्यर्थवाचित्वाभावात् सुजस्ङेङस्भ्योऽन्यत्र मपर्यन्तस्य क्वापि न त्वमौ नापि युवावौ, 'ङे प्रथमयोः' इत्याद्यास्तु भवन्त्येव। सुजसङेङस्सु तु 'त्वाहौ यूयवयौ तुभ्यमह्यौ तवममौ' इत्येते भवन्त्येव, तेषामेकद्व्यर्थविशेषनिबन्धत्वाभावादिति।

प्राचः (ई. ६४)—प्रपूर्वात् अंच् धातोः क्विन् क्विनः सर्वापहारे 'अनिदितां हल' इत्युपधानकारलोपे 'कृदतिङ्' इति क्विनः कृत्संज्ञकत्वात् 'प्र अच्' इत्यस्य 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इति कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां शसि अनुबन्धलोपे 'प्र अच् अस्' इति स्थिते 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यकारस्य लोपे 'चौ' इति दीर्घे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'प्राचः' इति सिद्धम्।

प्रतीचः (ई. ६३)—प्रतिपूर्वाद् 'अञ्च्' धातोः 'ऋत्विगि'त्यादिना क्विनि क्विनः सर्वापहारे जाते 'अनिदितां हल—' इत्युपधानकारस्य लोपे 'कृदतिङ्' इति क्विनः कृतसंज्ञकत्वात् 'प्रति अच' इत्यस्य 'कृत्तद्धिते'ति प्रातिपदिकसंज्ञायां शसि अनुबन्धलोपे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यलोपे 'चौ' इति दीर्घे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'प्रतीचः' इति।

अमुमञ्चतीति विग्रहे—क्विन्नन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सौ अनिदितामिति नलोपे, उगिदचामिति नुमि, सुलोपे संयोगान्तलोपे 'क्विन्प्रत्ययस्ये'ति कुत्वे

'अदद्रि अन्च्' इति स्थिते यण्। ४२०। अदसोऽसेर्दादु दो मः ८।२।८०। अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च। 'उ' इति ह्रस्वदीर्घयोः समाहारद्वन्द्वः। आन्तरतम्याद्ध्रस्वव्यञ्जनयोर्ह्रस्वो दीर्घस्य दीर्घः। अमुमुयङ्। अमुमुयञ्चौ। अमुमुयञ्चः। अमुमुयञ्चम। अमुमुयञ्चौ। अमुमुईचः। अमुमुईचा। अमुमुयग्भ्याम्, इत्यादि। मुत्वस्यासिद्धत्वान्न यण्। 'अन्त्य-

---

'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये' इत्यद्र्यादेशे यणि, 'अदसोऽद्रेः पृथङ् मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववदि'ति वलाददसोऽसेरित्युत्वमत्वे अमुमुयङ्, अन्त्यबाधे अन्त्यसदेशस्येति बलात्परस्यैव मुत्वमिति अदमुयङ्, इति। असः से सकारस्य स्थाने यस्येत्यर्थेऽत्र तदाद्यत्वाभावेन मुत्वं नेति मते अदद्र्यङ्, इति।

अदसोऽसेरिति (ई. ५९) अदसः, असेः, दात्, उ, दः, मः, इति पदच्छेदः। अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौ स्तो दस्य च मः, इत्यर्थः। ननु सूत्रे 'उ' इत्यस्यैवोपादानात् 'उदूतौ' इत्यर्थः कथमिति चेत्सत्यम्? उश्च ऊश्च तयोः समाहारः इति विग्रहे द्वन्द्वे सति सुब्लुकि सवर्णदीर्घे 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वे 'ह्रस्वो नपुंसके' इति ह्रस्वत्वे समाहारस्यैकत्वादेकवचनस्य सोः 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति लुकि निष्पन्नस्य 'उ' इत्यस्य उदूतावित्यर्थसुलभत्वात्। ह्रस्वोकारस्योदाहरणम् 'अमुम्' इति। अत्र 'अदस् अम्' इति स्थिते अत्वे पररूपे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे च कृते दात्परस्याकारस्य ह्रस्वोकारः दकारस्य मत्वं च भवति। दीर्घोकारस्योदाहरणम् 'अमू' इति। अत्र अत्वे पररूपे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृते 'अदौ' इति दशायां दात्परस्यौकारस्य दीर्घः ऊकारः दस्य मत्वं च भवति।

अमुमुईचः (ई० ६६, ६७, ६९)—अमुमञ्चतीति विग्रहे क्विनि उपपदसमासे सुब्लुकि 'अदस् अञ्च्' इति स्थिते 'अनिदिताम्' इति नलोपे 'विष्वग्देवयोश्च' इति अदसष्टेरदद्र्यादेशे 'अदद्रि अच्' इति स्थिते शसि विभक्तौ 'अदसोः' इत्यनेन प्रथमदकारस्य मत्वे तदुत्तराकारस्योत्वे द्वितीयदकारस्यापि मत्वे तदुत्तरस्य रेफस्य चोत्वे 'अमुमु इ अच् अस्' इति स्थिते 'अचः' इति अलोपे, यण् तु न, अलोपेन यण्निमित्तस्याकारस्य विनाशोन्मुखत्वेन 'अकृतव्यूहा' इति परिभाषया अन्तरङ्गोऽपि यण् 'अचः' इति लोपविषये न प्रवर्तते इति सिद्धान्तात्, 'चौ' इत्यस्य सामर्थ्याद्वा। ततश्च अलोपे सति 'चौ' इति दीर्घे सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते उक्तं रूपं सिद्धम्।

बाधेऽन्त्यसदेशस्य' (प १०४) इतिपरिभाषामाश्रित्य परस्यैवमुत्वं वदता मते- 'अदमुयङ्'। 'अः सेः सकारस्य स्थाने यस्य सः असिः' इति व्याख्यानात् 'त्यदाद्यत्वविषय एव मुत्वं नान्यत्र' इति पक्षे अदद्र्यङ्। उक्तं च—भाष्ये—

'अदसोऽद्रेः पृथङ्मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत्।
केचिदन्त्यसदेशस्य नेत्येकेऽसेर्हि दृश्यते॥' इति।

'विष्वग्देवयोः' किम्? अश्वाची। 'अञ्चतौ' किम्? विष्वग्युक्। 'अप्रत्यये' किम्? विष्वगञ्चनम्। अप्रत्ययग्रहणं ज्ञापयति—'अन्यत्र धातुग्रहणे तदादिविधिः' इति। तेन 'अयस्कारः'। 'अतः कृकमि—' (सू १६९) इति सः। उदङ्। उदञ्चौ उदञ्चः शसादावचि—४२१। उद ईत् ६।४।१३९।

अदद्र्यङ् (ई. ६५, ६८, ७१)—'अदद्रि अञ्च्' इति स्थिते 'अनिदिताम्' इति नलोपे यणि 'अदद्र्यच्' इति। तस्मात् सौ तस्य हल्ङ्यादिलोपे 'अदसोसेर्दादुदो मः' इति सूत्रेण दकारद्वयस्य 'चलीक्लृप्यते' इत्यत्र 'कृपो रो लः' इत्यनेन रीगृकारयोरुभयोर्यथा लत्वं तथैव दकारद्वयस्यापि मत्वे, अकाररेफयोश्च उत्त्वे 'अमुमुयङ्' इति रूपम्। 'अलोऽन्त्यस्य' इति सूत्रेण इकारस्योत्वं प्राप्नोति दकारोच्चारणाच्च रेफस्योत्वं प्राप्नोतीति दकारोपादानसामर्थ्येन रेफस्यैव उत्वं स्यादिति पक्षे 'अन्त्यबाधेऽन्त्यसदेशस्य' इति परिभाषया परस्यैव मत्वे उत्त्वे च कृते 'अदमुयङ्' इति रूपम्। 'असेः' इति निर्देशेन यत्र सकारस्याकारो भवति, तत्रैव मुत्वं भवतीति पक्षे अत्र मुत्वाऽप्राप्तेः 'अदद्र्यङ्' इति रूपम्। इदं पक्षत्रयमपि भाष्यसम्मतम्। अत उक्तं मूले—अदसोऽद्रेः पृथङ्मुत्वमित्यादि।

अप्रत्ययग्रहणं ज्ञापयति—'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये' इत्यत्र अप्रत्ययग्रहणं किमर्थम्? तदभावे उत्तरपदाधिकारत्वात् अञ्चधातूत्तरपदे परे विष्वग्देवयोः सर्वनाम्नश्च टेरद्र्यादेशो भवति इत्यर्थेन यत्र लुप्तप्रत्ययान्तं केवलाञ्चधातूत्तरपदं यथा–अमुमुयङ् इत्यादि तत्रैव तत्प्रवृत्तेः, विष्वगञ्चनमित्यादौ च अञ्चनमित्युत्तरपदस्य अञ्चधातुरूपत्वाभावेन तस्याप्रवृत्तेः सर्वत्राऽदोषादिति अप्रत्ययग्रहणं व्यर्थं सत् ज्ञापयति–'धातुग्रहणे तदादिविधिः' इति। एवं च प्रकृते अप्रत्ययग्रहणाभावे अञ्चधात्वाद्युत्तरपदे इत्यर्थापत्त्या 'विष्वगञ्चनम्' इत्यत्र अञ्चनमित्यस्य अञ्चधात्वादित्वादद्र्यादेशापत्ति रिति दिक्।

उच्छब्दात्परस्य लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य ईत्स्यात् । उदीचः । उदीचा । उदग्भ्याम्, इत्यादि । ४२२ । समः समि ६।३।९३। अप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे-समः समिरादेशः स्यात् । सम्यङ् । सम्यञ्चौ । सम्यञ्चः । समीचः । समीचा । ४२३ । सहस्य सध्रिः ६।३।९५। अप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे । सध्र्यङ् । ४२४ । तिरसस्तिर्यलोपे ६।३।९४। अलुप्ताकारेऽञ्चतावप्रत्ययान्ते परे तिरसस्तिर्यादेशः स्यात् । तिर्यङ् तिर्यञ्चौ । तिर्यञ्चः । तिर्यञ्चम् । तिर्यञ्चौ । तिरश्चः । तिरश्चा । तिर्यग्भ्याम्, इत्यादि । ४२५ । नाञ्चेः पूजायाम् ६।४।३०। पूजार्थस्याञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न स्यात् । अलुप्तनकारत्वान्न नुम् । प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः । नलोपाभावादकारलोपो न । प्राञ्चः । प्राञ्चा । प्राङ्भ्याम् । प्राङ्ख्षु-प्राङ्क्षु-प्राङ्षु । एवं पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः । 'क्रुञ्च कौटिल्याभावयोः' । अस्य 'ऋत्विग्–' (सू ३७३) आदिना नलोपाभावोऽपि निपात्यते ।

उदीचः (ई. ६७)—उत्पूर्वाद् 'अञ्च्' धातोः 'ऋत्विक्' इत्यादिना क्विनि क्विनः सर्वापहारे 'अनिदितामि'त्युपधानकारस्य लोपे 'कृदतिङ्' इति क्विनः कृत्संज्ञकत्वात् 'उत् अच्' इत्यस्य 'कृत्तद्धिते'ति प्रातिपदिकसंज्ञायां शसि अनुबन्धलोपे 'उत् अच् अस्' इति स्थिते तकारस्य जश्त्वेन दकारे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायां 'अचः' इत्यल्लोपं प्रबाध्य 'उद ईत्' इति अचोऽकारस्य ईत्वे सस्य रुत्वे विसर्गे 'उदीचः' इति ।

समीचः —(ई. ६६)—सम् पूर्वाद् 'अञ्च्' धातोः 'ऋत्विगि' त्यादिना क्विनि क्विनः सर्वापहारे 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' इत्युपधानकारस्य लोपे 'कृदतिङ्' इति क्विनः कृत्संज्ञकत्वात् 'सम् अच्' इत्यस्य 'कृत्तद्धिते'ति प्रातिपदिकसंज्ञायां शसि अनुबन्धलोपे 'सम् अच् अस्' इति दशायां 'समः समि' इति समः सम्यादेशे 'समि अच् अस्' इति स्थिते 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यल्लोपे 'चौ' इति दीर्घे सस्य रुत्वे विसर्गे 'समीचः' इति सिद्धम् ।

तिरश्चः (ई. ५८)—तिरस्पूर्वकाद् 'अञ्च्' धातोः 'ऋत्विगि'त्यादिना क्विनि क्विनः सर्वापहारे 'अनिदितामि'ति नलोपे 'कृदतिङ्' इति क्विनः कृत्संज्ञकत्वात् 'तिरस् अच्' इत्यस्य 'कृत्तद्धिते'ति प्रातिपदिकसंज्ञायां शसि अनुबन्धलोपे 'तिरस् अच् अस्' इति स्थिते भसंज्ञायाम् 'अचः' इति अल्लोपे 'तिरसस्तिर्यलोपे' इत्यस्य अप्राप्तया 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति सस्य श्चुत्वेन शकारे सस्य रुत्वे विसर्गे 'तिरश्चः', इति ।

क्रुङ् । क्रुञ्चौ । क्रुञ्चः । क्रुङ्भ्याम् । इत्यादि । 'चोः कुः' (सू ३७८) । पयोमुक्-पयोमुग् । पयोमुचौ । पयोमुचः । 'व्रश्च—' (सू २९४) इति षत्वम् । 'स्कोः–' (सू ३८०) इति सलोपः । जश्त्वचर्त्वे । सुवृट्-सुवृड् । सुवृश्चौ । सुवृश्चः । सुवृट्त्सु-सुवृट्सु । इति चान्ताः ।

'वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छतृवच्च' (उ. २४१) एते निपात्यन्ते, शतृवच्चैषां कार्यं स्यात् । उगित्त्वान्नुम् । 'सान्तमहतः–' (सू. ३१७) इति दीर्घः । मह्यते पूज्यत इति महान् । महान्तौ । महान्तः । हे महन् । महतः । महता । महद्भ्याम्, इत्यादि । ४२६ । अत्वसन्तस्य चाधातोः ६।४।१४। अत्वन्तस्योपधाया दीर्घः स्याद्धातुभिन्नासन्तस्य चासम्बुद्धौ सौ परे । परं नित्यं च नुमं बाधित्वा वचनसामर्थ्यादादौ दीर्घः । ततो नुम् । धीमान् । धीमन्तौ । धीमन्तः । हे धीमन् । शसादौ महद्वत् । धातोरप्यत्वन्तस्य दीर्घः । गोमन्तमिच्छति, गोमानिवाचरतीति वा क्यजन्तादाचारक्विबन्ताद्वा कर्तरि क्विप् । 'उगिदचाम्–' (सू. ३६१) इति सूत्रेऽज्ग्रहणं नियमार्थम्–'धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्ह्यञ्चतेरेव' इति । तेन 'स्रत्' 'ध्वत्' इत्यादौ न । 'अधातोः' इति त्वधातुभूतपूर्वस्यापि नुमर्थम् । गोमान् । गोमन्तौ । गोमन्तः, इत्यादि । 'भातेर्डवतुः' (उ. ६३) भवान् । भवन्तौ । भवन्तः । शत्रन्तस्य त्वत्वन्तत्वाभावान्न दीर्घः । भवतीति भवन् । ४२७ उभे अभ्यस्तम् ६।१।५। षाष्ठ-

---

उगिदचामिति—अयम्भावः-अञ्चुधातोरपि उगित्त्वेन उगित्यंशेनैव नुम्सिद्धौ, अञ्चुग्रहणं व्यर्थं सत् धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्हि अञ्चुधातोरेवेति नियमयति । तेन स्रत्, ध्वत् इत्यादौ नुम् न भवति । इत्थं च अञ्चुधात्वतिरिक्तानां धातूनां नुमोऽभावसिद्धौ अधातुग्रहणं गोमानित्यस्य वर्तमानकालेऽधातुत्वाभावेऽपि पूर्वकालिकाधातुत्वमादाय नुम् स्यादित्यर्थस्यावबोधनार्थमिति दिक् ।

गोमान् (ई. ५६, ६७)—गोमन्तमिच्छतीति विग्रहे क्यजन्तात् अलोपे यलोपे गोमत् शब्दो निष्पन्नः । तस्मात् सौ 'अत्वसन्तस्य–' इति दीर्घे उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि हल्ङ्यादिलोपे संयोगान्तलोपे 'गोमान्' इति ।

नन्वत्र क्यजन्तस्य 'सनाद्यन्ता' इति धातुसंज्ञकत्वेन ततः क्विप्यपि क्विपा धातुत्वानपायात् 'उगिदचामि'ति सूत्रे अधातोः' इत्युक्तेः कथमत्र नुम्प्रवृत्तिरिति चेदत्रोच्यते—तत्र सूत्रेऽज्ग्रहणेन अञ्चुधातोरेव ग्रहणात्तस्य चोकारेत्संज्ञकतया उगित्पदेनैव ग्रहणसिद्धेस्तद्वैयर्थ्येन 'धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्हि अञ्चतेरेव' इत्यस्य

द्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः । ४२८ । नाभ्यस्ताच्छतुः ७।१।७८। अभ्यस्तात्परस्य शतुर्नुम् न स्यात् । ददत्-ददद् । ददतौ । ददतः । ४२९ । जक्षित्यादयः षट् ६।१।६। षड् धातवोऽन्ये जक्षितिश्च सप्तम एतेऽभ्यस्तसंज्ञाः स्युः । जक्षत्-जक्षद् । जक्षतौ । जक्षतः । एवं जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत्, चकासत् । दीधीवेव्योङित्त्वेऽपि छान्दसत्वाद् व्यत्ययेन परस्मैपदम् । दीध्यत् । वेव्यत् । इति तान्ताः ।

गुप्-गुब् । गुपौ । गुपः । गुब्भ्याम्, इत्यादि । इति पान्ताः ।

४३० । त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ३।२।६०। त्यदादिपूपपदेष्वज्ञानार्थाद् दृशेर्धातोः कञ् स्यात्, चात् क्विन् । ४३१ । आ सर्वनाम्नः ६।३।११। सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृश्वतुषु । कुत्वस्यासिद्धत्वात् 'व्रश्च—' (सू. २९४) इति षः । तस्य जश्त्वेन डः । तस्य चर्त्वेन पक्षे कः, तादृक्-तादृग् । तादृशौ । तादृशः । 'षत्वापवादत्वात्कुत्वेन खकारः' इति कैयटः, हरदत्तादिमते तु चर्त्वाभावपक्षे ख एव श्रूयेत, न तु गः; जश्त्वं प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात् । 'दिगादिभ्यो यत्' (सू. १४२९) इति निर्देशान्नासिद्ध-

---

अञ्चधातुभिन्नधातोरुगित्कार्यं न भवतीत्यर्थकस्य ज्ञापिततया तेनैव तत्सूत्रस्य धातौ निवृत्तिसिद्ध्या सूत्रे क्रियमाणस्य धातोरित्यस्य वैयर्थ्यापत्त्या तत्सामर्थ्येन भूतपूर्वस्य अधातोरपि उगितो नुमिति ज्ञापनेन क्यचः प्रवृत्तेः पूर्वं गोमतोऽधातुतया भूतपूर्वाधातुत्वेन नुमः प्रवृत्तेः सुवचत्वात् ।

तादृक् (ई. ६९, ६९)—स इवाऽयं पश्यतीति विग्रहे 'त्यदादिष्वि'ति क्विनि क्विनः सर्वापहारे उपपदसमासे 'आ सर्वनाम्नः' इत्यात्वे सवर्णदीर्घे तादृक्शब्दो निष्पन्नः । तस्मात् सौ 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वस्यासिद्धत्वात् 'व्रश्चभ्रस्ज' इत्यादिसूत्रेण शकारस्य षत्वे तस्य जश्त्वेन डकारे तस्य कुत्वेन गकारे 'हल्ङ्यादिना' सुलोपे 'वाऽवसाने' इति पाक्षिके चर्त्वे उक्तं रूपं सिद्धम् । अत्र कैयटादयः—'तादृश्' इति दशायां षत्वापवादात् कुत्वेन खकारे तस्य चर्त्वेन कत्वे 'तादृक्' इति प्राहुः । नच चर्त्वाऽभावपक्षे जश्त्वं प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात् 'तादृग्' इति द्वितीयं रूपं न स्यादिति वाच्यम् 'दिगादिभ्यः' इति सूत्र-निर्देशेन असिद्धत्वाभावकल्पनेनादोषात् ।

कुत्वस्यासिद्धत्वादिति—तत्पूर्वकाद् दृशेः त्यदादिष्विति क्विन्नन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सौ 'आसर्वनाम्नः' इत्यात्वे सोर्लोपे क्विन्प्रत्ययस्येत्यस्यासिद्ध-

त्वमिति वा बोध्यम् । 'व्रश्च'–(सू. २९४) इति षत्वम्, जश्त्वचर्त्वे । विट्-विड् । विशौ । विशः । विशम् । ४३२ । **नशेर्वा** ८।२।६३। नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा स्यात्पदान्ते । नक्-नग् । नट्-नड् । नशः । नग्भ्याम्-नड्भ्याम्, इत्यादि । ४३३ । **स्पृशोऽनुदके क्विन्** ३।२।५८। अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन् स्यात् । घृतस्पृक्-घृतस्पृग् । घृतस्पृशौ । घृतस्पृशः । क्विन् प्रत्ययो यस्मादिति बहुव्रीह्याश्रयणात्क्विप्यपि कुत्वम् । स्पृक् । षडगकाः प्राग्वत् । इति शान्ताः ।

'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' । अस्मात् 'ऋत्विग्—' (सू. ३७३) आदिना क्विन् द्वित्वमन्तोदात्तत्वं च निपात्यते । कुत्वापूर्वं जश्त्वेन डः गः कः । धृष्णोतीति दधृक्–दधृग् । दधृषौ । दधृषः । दधृग्भ्याम्, इत्यादि । रत्नानि मुष्णातीति रत्नमुट्-रत्नमुड् रत्नमुषौ । रत्नमुषः । 'षड्भ्यो लुक्' (सू. २६१) । षट्–षड् । षड्भिः । षड्भ्यः२ । 'षट्चतुर्भ्यश्च' (सू. ३३८) इति नुट् । 'अनाम्'

त्वात् व्रश्चेति षत्वे जश्त्वेन डकारे, ततः कुत्वेन गकारे च तादृक् तादृगिति दीक्षिताशयः । क्विन्प्रत्ययस्येत्यत्र कुः क्विन् यत इति न्यासेन दृष्ट इत्यध्याहारेण च सिद्धे प्रत्ययग्रहणं वीप्सागर्भबहुव्रीहिलाभार्थं तेन षत्वापवादत्वात्कुत्वेन खकारे चत्वे तादृक्, चर्त्वाभावपक्षे जश्त्वं प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात्खकार एव दिगादिभ्य इति निर्देशान्नासिद्धत्वमिति वा बोध्यमिति कैयटाशयः ।

घृतस्पृक् (ई. ६०)—घृतं स्पृशतीति विग्रहे 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इति क्विन्प्रत्यये, उपपदसमासे, सुब्लुकि 'घृतस्पृश्' इति । तस्मात् सुबुत्पत्तिः, तस्य हल्ङ्यादिलोपे कुत्वस्यासिद्धत्वात् 'व्रश्चेति' सूत्रेण षत्वे, जश्त्वे घृतस्पृड् इत्यवस्थायां 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वे, चर्त्वे 'घृतस्पृक्' इति । चर्त्वाभावपक्षे 'घृतस्पृग्' इति च सिद्धम् ।

स्पृक् (ई. ६८) 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यतः 'क्विनः कुः' इत्येतावतैव क्विन्नस्येति लब्धे प्रत्ययग्रहणं क्विन् प्रत्ययो यस्मादिति बहुव्रीहिलाभायेत्युक्तम् । अतः निरुपसर्गात् स्पृशेः क्विपि कृतेऽपि अनेन कुत्वं 'स्पृक्' इति बोध्यम् ।

ऋत्विगादिनेति—क्विन्नादित्रयं निपात्यते । क्विनि लुप्ते धृष् इत्यस्य द्वित्वम् । 'उरत्' रपरत्वम् । हलादिः शेषः । कित्वान्न लघूपधगुणः, दधृष् इति रूपम् । 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तनिवृत्त्यर्थमन्तोदात्तनिपातनम् ।

इति पर्युदासान्न ष्टुत्वनिषेधः। 'यरोऽनुनासिके—' (सू. ११६) इति विकल्पं बाधित्वा 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' (वा. २७) इति वचनान्नित्यमनुनासिकः। षण्णाम्। षट्त्सु-षट्सु। तदन्तविधिः, परमषट्। परमषण्णाम्। गौणत्वे तु प्रियषषः। प्रियषषाम्। रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' (सू. १६२) इति रुत्वम्। ४३४। **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** ८।२।७६। रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्यात्पदान्ते। पिपठीः। पिपठिषौ। पिपठिषः। पिपठीर्भ्याम्। 'वा शरि' (सू १५१) इति वा विसर्जनीयः। ४३५। **नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि** ८।३।५८। एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। ष्टुत्वेन पूर्वस्य षत्वम्। पिपठीष्षु—पिपठीःषु।

षण्णाम् (ई. ७४)—षष्शब्दात् आमि 'षट्चतुर्भ्यश्च' इति नुटि 'षष् नाम्' इति स्थिते 'झलां जशोऽन्ते' इति षस्य जश्त्वेन डकारे 'ष्टुना ष्टुः' इति नस्य ष्टुत्वेन णकारे 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इत्यनेन डकारस्य च णत्वे 'षण्णाम्' इति। 'अत्र' 'न पदान्ताट्टोरनाम्' इति ष्टुत्वनिषेधस्तु न 'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्' इति वार्तिकेन तन्निषेधात्। 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इत्यत्र नित्यपदोपादानात् 'षड्णाम्' इति प्राचोक्तं द्वितीयं रूपं न युक्तिसहम्।

रुत्वं प्रतीति—पठितुमिच्छतीत्यर्थे 'पठ व्यक्तायां वाचि' इति धातोः 'धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा' इति सन्प्रत्यये 'सन्यङोः' इति द्वित्वे हलादिशेषे 'सन्यतः' इत्यभ्यासस्य इत्वं, सन इट्, षत्वं, 'सनाद्यन्ताः' इति धातुत्वम्। पिपठिष इत्यस्मात् क्विप्, 'अतो लोपः' पिपठिष् इति षकारान्तम्। कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वं, ततः सुः, 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्' इति निषेधाद्धल्ङ्यादिलोपे कृते 'ससजुषो रुः' इति रुत्वम्। न च सकाराभावः शङ्क्यः, रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वादित्यर्थः।

पिपठीः (ई. ७३)—पिपठिष् शब्दात् सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे सति रुत्वे कर्तव्ये 'पूर्वत्राऽसिद्धम्' इति षत्वस्याऽसिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'पिपठिर्' इति जाते 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति उपधायाः इकारस्य दीर्घे रेफस्य 'खरवसानयो'रिति विसर्गे पिपठीः' इति सिद्धम्।

पिपठीष्षु (ई ७२)—पिपठिष् शब्दात् सप्तमीबहुवचने सुपि अनुबन्धलोपे 'पपठिष् सु' इति दशायां 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायां सत्यां षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' इति रुत्वे अनुबन्धलोपे 'पिपठिर् सु' इति स्थिते 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' इति दीर्घे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य

'प्रत्येकम्' इति व्याख्यानादनेकव्यवधाने षत्वं न। निंस्स्व। निंस्से। नुम्ग्रहणं नुम्स्थानिकानुस्वारोपलक्षणार्थं, व्याख्यानात्। तेनेह न—सुहिंस्सु, पुंसु। अत एव न शर्ग्रहणेन गतार्थता। 'रात्सस्य' (सू २८०) इति सलोपे विसर्गः, चिकीः। चिकीर्षौ। चिकीर्षः। 'रोः सुपि' (सू ३३६) इति नियमान्न विसर्गः, चिकीर्षु। 'दमेर्डोस' (उ २२७)। डित्त्वसामर्थ्याट्टिलोपः। षत्वस्यासिद्धत्वाद्रुत्वविसर्गौ, दोः। दोषौ। दोषः। 'पद्दन्—' (सू २२८) इति वा दोषन्। दोष्णः। दोष्णा। दोषः। दोषा। 'विश प्रवेशने'। सन्नन्तात्क्विप्। षत्वस्यासिद्धत्वात्संयोगान्तलोपः। 'व्रश्च—' (२९४) इति षः। जश्त्वचर्त्वे। विविट्

विसर्गे 'पिपठोः सु' इति जाते सत्त्वं बाधित्वा 'वा शरि' इति 'विसर्गस्य स्थाने पाक्षिके विसर्गे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति सस्य षत्वे 'पिपठिःषु' इति। 'वा शरि' इति विकल्पपक्षे 'पिपठीः सु' इति दशायां 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति सुपः सकारस्य षत्वे 'पिपठिस् षु' इति स्थिते 'ष्टुना ष्टुः' इति सकारस्य ष्टुत्वेन षकारे 'पिपठीष्षु' इति।

नुम्ग्रहणमिति—अयम्भावः नुमि सति सर्वत्रैव नस्यानुस्वारे नुम्पदस्य लक्षणया नुम्स्थानिकानुस्वारस्य व्यवधानेऽपि षत्वं भवतीत्यर्थो भवति। तेन सुहृन् सु इत्यत्र नुमः सत्त्वेऽपि षत्वन्न भवति। सु इत्यत्रापि मकारस्थानिकानुस्वारस्य सत्वात् षत्वं न। इत्थञ्चानुस्वारस्य शर्प्रत्याहारे पाठेऽपि शर्ग्रहणेनानुस्वारस्य व्यर्थता न भवति यतोऽत्र विलक्षणानुस्वारो गृह्यते।

चिकीर्षुः (ई. ७१, ७३)—चिकीर्ष् शब्दात् सुपि षत्वस्यासिद्धत्वात् 'रात्सस्य' इति नियमात् सकारस्य संयोगान्तलोपे 'रोः सुपि' इति नियमात् रेफस्य विसर्गाभावे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे उक्तं रूपं सिद्धम्।

विविट् (ई. ६५)—वेष्टुमिच्छतीति विग्रहे विशेः सनि 'हलन्ताच्च' इति सनः कित्वाल्लघूपधगुणाभावे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे हलादिशेषे शकारस्य झल्परकत्वात् 'व्रश्चभ्रस्ज' इत्यादिना षत्वे 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे प्रत्ययावयवत्वात् सस्य षत्वे 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वात् क्विपि अतो लोपे 'विविक्ष्' शब्दो निष्पन्नः। तस्मात् सौ तस्य हल्ङ्यादिलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति षकारस्य लोपे ततश्च सकारस्य निमित्तस्य निवृत्त्या कत्वस्याऽपि निवृत्तौ झल्परत्वनिवृत्त्या पूर्वप्रवृत्तषत्वस्याऽपि निवृत्तौ, पदान्तत्वात्, 'व्रश्चे'ति षत्वे तस्य जश्त्वेन डकारे तस्य चर्त्वेन टकारे 'विविट्' इति। चर्त्वाभावे 'विविड्' इति।

विविड् । विविक्षौ । विविक्षः । 'स्कोः—' (सू ३८०) इति कलोपः । तट्-तड् । तक्षौ । तक्षः । गोरट्-गोरड् । गोरक्षौ । गोरक्षः । तक्षिरक्षिभ्यां ण्यन्ताभ्यां क्विपि तु 'स्कोः—' (सू ३८०) इति न प्रवर्तते, णिलोपस्य स्थानिवद्भावात् । 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' (वा ४४) इति त्विह नास्ति, 'तस्य दोपः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' (वा. ४५) इति निषेधात् । तस्मात् संयोगान्तलोप एव । तक्-तग् । गोरक्-गोरग् । 'स्कोः—' (सू ३८०) इति कलोपं प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात् संयोगान्तलोपः । पिपक्-पिपग् । एवं विवक्, दिधक् । इति षान्ताः ।

'पिस गतौ' सुष्ठु पेसतीति सुपीः । सुपिसौ । सुपिसः । सुपिसा । सुपीर्भ्याम् । सुपीःषु-सुपीष्षु । एवं सुतूः । 'तुस खण्डने' । विद्वान् । विद्वांसौ ।

न च 'विविक्ष्' इति दशायां संयोगान्तलोपात् पूर्वं 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यनेन ककारलोपः कुतो नेति वाच्यम् ? संयोगादिलोपे कर्तव्ये 'षढोः कः सि' इति कत्वस्यासिद्धत्वात् । एवंच कत्वस्याऽसिद्धत्वादिति वक्तव्ये षत्वस्यासिद्धत्वात् संयोगान्तलोप इति मूलोक्तं न युक्तिसहमिति तत्त्वविदः ।

तट् (ई. ५८)—तक्ष्शब्दात् सौ 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति कलोपे सोर्हल्ङ्यादिलोपे षस्य जश्त्वे चर्त्वे 'तट्' इति ।

तक्षिरक्षिभ्यामिति (ई. ५७, ६८, ७०, ७२)—तक्ष्धातोर्णिचि ण्यन्तस्य धातुत्वात् क्विपि क्विपः सर्वापहारे 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'तक्ष्' इति । तस्मात् सौ तस्य हल्ङ्यादिलोपे 'संयोगान्तस्य' इत्यनेन षकारस्य लोपे ककारस्य जश्त्वे चर्त्वे 'तक्' इति । चर्त्वाभावे 'तग्' इति । णिलोपे सति 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यनेन कलोपस्तु न, णिलोपस्य स्थानिवत्वात् । नच 'पूर्वत्राऽसिद्धे न स्थानिवत्' इति निषेधः स्यादिति वाच्यम्, 'तस्य दोपः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' इति निषेधात् ।

विद्वान्—'विद्' धातोः लटः शतरि 'विदेः शतुर्वसुः' इति शतृस्थाने वस्वादेशे अनुबन्धलोपे 'विद्वस्' इति । तस्य कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ अनुबन्धलोपे 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि उमि गते 'विद्वन्स् स्' इति जाते 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति दीर्घे 'विद्वान्स् स्' इति स्थिते 'हल्ङ्या-

'प्रत्येकम्' इति व्याख्यानादनेकव्यवधाने षत्वं न। निस्स्व। निस्से। नुम्ग्रहणं नुम्स्थानिकानुस्वारोपलक्षणार्थं, व्याख्यानात्। तेनेह न—सुहिन्सु, पुंसु। अत एव न शर्ग्रहणेन गतार्थता। 'रात्सस्य' (सू २८०) इति सलोपे विसर्गः, चिकीः। चिकीर्षौ। चिकीर्षः। 'रोः सुपि' (सू ३३९) इति नियमान्न विसर्गः, चिकीर्षु। 'दमेर्डोस' (उ २२७)। डित्वसामर्थ्याट्टिलोपः। षत्वस्यासिद्धत्वाद्रुत्वविसर्गौ, दोः। दोषौ। दोषः। 'पद्दन्न—' (सू २२८) इति वा दोषन्। दोष्णः। दोष्णा। दोषः। दोषा। 'विश प्रवेशने'। सन्नन्तात्क्विप्। षत्वस्यासिद्धत्वात्संयोगान्तलोपः। 'व्रश्च—' (२९४) इति षः। जश्त्वचर्त्वे। विविट्

विसर्गे 'पिपठीः सु' इति जाते सत्वं बाधित्वा 'वा शरि' इति 'विसर्गस्य स्थाने पाक्षिके विसर्गे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति सस्य षत्वे 'पिपठिःषु' इति। 'वा शरि' इति विकल्पपक्षे 'पिपठीः सु' इति दशायां 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्गस्य सत्वे 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति सुपः सकारस्य षत्वे 'पिपठिस् षु' इति स्थिते 'ष्टुना ष्टुः' इति सकारस्य ष्टुत्वेन षकारे 'पिपठीष्षु' इति।

नुमग्रहणमिति—अयम्भावः नुमि सति सर्वत्रैव नस्यानुस्वारे नुम्पदस्य लक्षणया नुम्स्थानिकानुस्वारस्य व्यवधानेऽपि षत्वं भवतीत्यर्थो भवति। तेन सुहृन् सु इत्यत्र नुमः सत्त्वेऽपि षत्वन्न भवति। सु इत्यत्रापि मकारस्थानिकानुस्वारस्य सत्वात् षत्वं न। इत्थञ्चानुस्वारस्य शर्प्रत्याहारे पाठेऽपि शर्ग्रहणेनानुस्वारस्य व्यर्थता न भवति यतोऽत्र विलक्षणानुस्वारो गृह्यते।

चिकीर्षुः (ई. ७१, ७३)—चिकीर्ष् शब्दात् सुपि षत्वस्यासिद्धत्वात् 'रात्सस्य' इति नियमात् सकारस्य संयोगान्तलोपे 'रोः सुपि' इति नियमात् रेफस्य विसर्गाभावे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे उक्तं रूपं सिद्धम्।

विविट् (ई. ६५)—वेष्टुमिच्छतीति विग्रहे विशेः सनि 'हलन्ताच्च' इति सनः कित्वाल्लघूपधगुणाभावे 'सन्यङोः' इति द्वित्वे हलादिशेषे शकारस्य झल्परकत्वात् 'वश्चभ्रस्ज' इत्यादिना षत्वे 'षढोः कः सि' इति षस्य कत्वे प्रत्ययावयवत्वात् सस्य षत्वे 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वात् क्विपि अतो लोपे 'विविक्ष्' शब्दो निष्पन्नः। तस्मात् सौ तस्य हल्ङ्यादिलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति षकारस्य लोपे ततश्च सकारस्य निमित्तस्य निवृत्त्या कत्वस्यापि निवृत्तौ झल्परत्वनिवृत्त्या पूर्वप्रवृत्तषत्वस्यापि निवृत्तौ, पदान्तत्वात्, 'व्रश्चे'ति षत्वे तस्य जश्त्वेन डकारे तस्य चर्त्वेन टकारे 'विविट्' इति। चर्त्वाभावे 'विविड्' इति।

विविड् । विविक्षौ । विविक्षः । 'स्कोः—' (सू ३८०) इति कलोपः । तट्-तड् । तक्षौ । तक्षः । गोरट्-गोरड् । गोरक्षौ । गोरक्षः । तक्षिरक्षिभ्यां ण्यन्ताभ्यां क्विपि तु 'स्कोः—' (सू ३८०) इति न प्रवर्तते, णिलोपस्य स्थानिवद्भावात् । 'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्' (वा ४४) इति त्विह नास्ति, 'तस्य दोपः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' (वा. ४५) इति निषेधात् । तस्मात् संयोगान्तलोप एव । तक्-तग् । गोरक्-गोरग् । 'स्कोः—' (सू ३८०) इति कलोपं प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात् संयोगान्तलोपः । पिपक्-पिपग् । एवं विपक्, दिधक् । इति षान्ताः ।

'पिस गतौ' सुष्ठु पेसतीति सुपीः । सुपिसौ । सुपिसः । सुपिसा । सुपीर्भ्याम् । सुपीःषु-सुपीष्षु । एवं सुतूः । 'तुस खण्डने' । विद्वान् । विद्वांसौ ।

न च 'विविक्ष्' इति दशायां संयोगान्तलोपात् पूर्वं 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यनेन ककारलोपः कुतो नेति वाच्यम् ? संयोगादिलोपे कर्तव्ये 'षढोः कः सि' इति कत्वस्यासिद्धत्वात् । एवंच कत्वस्याऽसिद्धत्वादिति वक्तव्ये षत्वस्यासिद्धत्वात् संयोगान्तलोप इति मूलोक्तं न युक्तिसहमिति तत्त्वविदः ।

तट् (ई. ५८)—तक्ष्शब्दात् सौ 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति कलोपे सोर्हल्ङ्यादिलोपे षस्य जश्त्वे चर्त्वे 'तट्' इति ।

तक्षिरक्षिभ्यामिति (ई. ५७, ६८, ७०, ७२)—तक्ष्धातोर्णिचि ण्यन्तस्य धातुत्वात् क्विपि क्विपः सर्वापहारे 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'तक्ष्' इति । तस्मात् सौ तस्य हल्ङ्यादिलोपे 'संयोगान्तस्य' इत्यनेन षकारस्य लोपे ककारस्य जश्त्वे चर्त्वे 'तक्' इति । चर्त्वाभावे 'तग्' इति । णिलोपे सति 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इत्यनेन कलोपस्तु न, णिलोपस्य स्थानिवत्वात् । नच 'पूर्वत्राऽसिद्धे न स्थानिवत्' इति निषेधः स्यादिति वाच्यम्, 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' इति निषेधात् ।

विद्वान्—'विद्' धातोः लटः शतरि 'विदेः शतुर्वसुः' इति शतृस्थाने वस्वादेशे अनुबन्धलोपे 'विद्वस्' इति । तस्य कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ अनुबन्धलोपे 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि उमि गते 'विद्वन्स् स्' इति जाते 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति दीर्घे 'विद्वान्स् स्' इति स्थिते 'हल्ङ्या-

विद्वांसः । हे विद्वन् । विद्वांसम् । विद्वांसौ । ४३६ । **वसोः सम्प्रसारणम्** ६।३।१३१। वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणं स्यात् । पूर्वरूपत्वं षत्वम् । विदुषः । विदुषा । 'वसुस्रंसु–' (सू ३३४) इति दत्वम् । विद्वद्भ्याम् । इत्यादि । सेदिवान् । सेदिवांसौ । सेदिवांसः । सेदिवांसम् । अन्तरङ्गोऽपीडागमः सम्प्रसारणविषये न प्रवर्तते । 'अकृतव्यूहाः–' (प ५७) इति परिभाषया । सेदुषः । सेदुषा । सेदिवद्भ्याम् । इत्यादि । 'सान्तमहतः–' (सू ३१७) इत्यत्र सान्तसंयोगोऽपि प्रातिपदिकस्यैव गृह्यते, न तु धातोः, महच्छब्दसाहचर्यात् । सुष्ठु हिनस्तीति सुहिन् । सुहिंसौ । सुहिंसः । सुहिन्भ्याम् । सुहिन्सु । ध्वत्-ध्वद् । ध्वसौ । ध्वसः । ध्वद्भ्याम् । एवंस्रत् । ४३७ । **पुंसोऽसुङ्** ७।१।८९। सर्वनामस्थाने विवक्षिते पुंसोऽसुङ् स्यात् । उकार उच्चारणार्थः । 'बहुपुंसी' इत्यत्र 'उगितश्च' (सू ४५५) इति ङीबर्थं कृतेन 'पुवो डुम्सुन्' (पातेर्डुम्सुन्) इति प्रत्ययस्योगित्त्वेनैव नुम्सिद्धेः । पुमान् । हे पुमन् । पुमांसौ । पुमांसः । पुंसः । पुंसा । पुम्भ्याम् । पुम्भिः । पुंसु । 'ऋदुशन–' (सू २७६) इत्यनङ् । उशना । उशनसौ । उश-

---

भ्यः' इति विभक्तिसकारस्य लोपे 'सयोगान्तस्य लोपः' इति सलोपे 'विद्वान्' इति सिद्धम् । अत्र नलोपस्तु, न, संयोगान्तलोपस्याऽसिद्धत्वात् ।

सेदुषः (ई. ६३, ७२)—सद् धातोर्लिटि । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इत्यनेन लिटः क्वसुप्रत्यये इत्संज्ञादिकार्ये द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां हलादिशेषे 'अत एकहल्मध्ये' इति इटि 'सेदिवस्' शब्दो निष्पन्नः । तस्मात् शसि भसंज्ञायां 'वसोः सम्प्रसारणम्' इति सम्प्रसारणे प्राप्ते ततः पूर्वम् 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' इति परिभाषया कृतमपि कार्यं निवर्तयन्ति इत्यर्थेन इडागमस्य निवृत्तौ ततः सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'सेदुषः' इति सिद्धम् ।

पुमान् (ई. ७०)—'पुंस्' शब्दात् सौ 'पुंसोऽसुङ्' इत्यसुङि अनुबन्धलोपे 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति नुमि उमि गते 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति उपधादीर्घे हल्ङ्यादिना विभक्तेः सकारस्य लोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति सलोपे 'पुमान्' इति ।

पुंसु (ई. ६३)—पुंस्शब्दात् सुपि 'स्वादिष्वि'ति पदत्वात् संयोगान्तलोपे निमित्ताऽपायादनुस्वारस्याऽपि निवृत्तौ 'नश्च' इत्यनुस्वारे 'पुंसु' इति सिद्धम् ।

नसः । ६५ **अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च वा वाच्यः*** । हे उशनन्–हे उशन–हे उशनः । उशनोभ्याम् । इत्यादि । अनेहा । अनेहसौ । अनेहसः । हे अनेहः । अनेहोभ्याम् । इत्यादि । वेधाः । वेधसौ । वेधसः । हे वेधः । वेधोभ्याम् इत्यादि । अधातोरित्युक्तेर्न दीर्घः । सुष्ठु वस्ते सुवः । सुवसौ । सुवसः । पिण्डं ग्रसते पिण्डग्रः । पिण्डग्लः । 'ग्रसु ग्लसु अदने' ।

४३८ । **अदस औ सुलोपश्च** ७।२।१०७। अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात्सौ परे सुलोपश्च । 'तदोः सः सौ–' (सू ३८१) इति दस्य सः । असौ । ६३ । **आत्वप्रतिषेधः साकच्कस्य वा वक्तव्यः सादुत्वं च*** । प्रतिषेधसन्नियोगशिष्टमुत्वं तदभावे न प्रवर्तते । असकौ–असुकः । त्यदाद्यत्वं, पररूपत्वम्, वृद्धिः । 'अदसोऽसेः–' (सू ४२०) इति मत्वोत्वे, अमू । 'जसः शी' (सू २१४) आद्गुणः (सू ६९) । ४३९ । **एत ईद्बहुवचने** ८।२।८१। अदसो दात्परस्य एत ईत्स्याद्दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ । अमी । 'पूर्वत्रासिद्धम्' (सू १२) इति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे । अमुम् । अमू । अमून् । मुत्वे कृते घिसंज्ञायां नाभावः । ४४० । **न मु ने** ८।२।३। नाभावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्धः

हे उसनन् (ई. ६८)—'उसनस्' शब्दात् सम्बोधनैकवचने 'उसनस् सु' इति दशायां 'हल्ङ्याब्भ्यः—' इति सोर्लोपे 'अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च वा वाच्यः' इति वार्तिकेन अनङि नलोपे च कृते 'हे उसन्' इति । वाग्रहणान्नलोपाभावे सोर्लोपे अनङि 'हे उसनन्' इति । अनङ्ङभावे सोर्लोपे सकारस्य रुत्वे विसर्गे 'हे उसनः' इति रूपत्रयं सिद्धं भवति ।

असकौ (ई. ७२)—अदस्शब्दाद् 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' इत्यकचि 'अदकस्' इति, तस्मात् सौ 'अदस औ सुलोपश्च' इत्यनेन 'तन्मध्यपतितन्यायेन अदस्शब्देन अदकस्शब्दस्यापि ग्रहणात् नित्यौत्वे प्राप्ते 'औत्वप्रतिषेधे साकच्कस्य वा वक्तव्यः' इति वार्तिकेन तन्निषेधे 'तदोः सः सौ' इति सत्त्वे सकारात्परस्याकारस्य 'सादुत्वं च' इत्यनेन उत्त्वे 'असुकस् स्' इति स्थिते त्यदाद्यत्वे पररूपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'असुकः' इति । औत्वप्रतिषेधाऽभावे 'अदकस् स्' इति दशायां सस्य औत्वे सुलोपे च विहिते दस्य सत्त्वे 'असकौ' इति उक्तं रूपं सिद्धम् । अत्र पक्षे 'सादुत्वं चे'ति न प्रवर्तते, प्रतिषेधसंनियोगसिद्धत्वात् ।

स्यात् । अमुना । अमुभ्याम् ३ । अमीभिः । अमुष्मै । अमीभ्यः । अमुष्मात् । अमुष्य । अमुयोः । अमीषाम् । अमुष्मिन् । अमुयोः । अमीषु । इति सान्ताः ।

इति हलन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम् ।

अथ हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

४४१ । नहो धः ८।२।३४। नहो हस्य धः स्याज्झलि पदान्ते च । उपानत्–उपानद् । उपानहौ । उपानहः । उपानद्भ्याम् । उपानत्सु । उत्पूर्वात् 'ष्णिह प्रीतौ' (धा १२०१) इत्यस्मात् 'ऋत्विग्–' (सू ३७३) आदिना

अमुना (ई. ६५, ६६)—'अदस्' शब्दात् टाविभक्तौ त्यदाद्यत्वे पररूपे च कृते 'अदसोऽसेर्दादुदो मः' इति अकारस्य उत्वे दस्य च मत्वे 'अमु आ' इति दशायाम् नाभावे कर्तव्ये सत्येव 'न मुने' इत्यनेन मुत्वस्यासिद्धत्वाऽभावबोधनात् 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इति 'आ' इत्यस्य नादेशे 'अमुना' इति । नचाऽत्र मुत्वस्याऽसिद्धत्वात् 'सुपि चे'ति दीर्घः कुतो नेति वाच्यम्, 'न मुने' इत्यनेन कृते च नाभावे मुत्वस्य नासिद्धत्वमित्यर्थस्यापि तेन विधानात् ।

अमीषाम् (ई. ६४)—'अदस्' शब्दात् आमि त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे च कृते 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुटि अनुबन्धलोपे 'बहुवचने झल्येत्' इति एत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'एत ईद्बहुवचने' इत्येकारस्य ईत्वे दस्य च मत्वे 'अमीषाम्' इति ।

इति हलन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम् ।

उपानत्—(इ. ६७)—(उपनह्यते इति विग्रहे उपपूर्वात् 'णह्' धातोः 'णो नः' इति नत्वे कृते सम्पदादित्वात् कर्मणि क्विपि क्विपः सर्वापहारे 'नहिवृति-' इति पूर्वपदस्य दीर्घे 'उपानह्' शब्दो निष्पन्नः)

तस्मात् उपानह् शब्दात् सौ हल्ङ्यादिना सुलोपे 'नहो धः' इति हस्य धत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति धस्य जश्त्वे 'वाऽवसाने' इति दस्य चर्त्वे 'उपानत्', चर्त्वाऽभावे 'उपानद्' इति ।

क्विन्, निपातनाद्दलोपषत्वे। क्विन्नन्तत्वात्कुत्वेन हस्य घः, जश्त्वचर्त्वे; उष्णिक्-उष्णिग्। उष्णिहौ। उष्णिहः। उष्णिग्भ्याम्। उष्णिक्षु। इति हान्ताः।

द्यौः। दिवौ। दिवः। द्युभ्याम्। द्युषु। इति वान्ताः।

गीः। गिरौ। गिरः। एवं पूः। चतुरश्चतसादेशः। चतस्रः २। चतसृणाम्। इति रेफान्ताः।

किमः कादेशे टाप्। का। के। काः। सर्ववत्। ४४२। यः सौ ७।२।११०। इदमो दस्य यः स्यात्सौ। 'इदमो मः' (सू ३४३)। इयम्।

उष्णिक्षु (ई. ५७, ६८)—उत्पूर्वात् 'ष्णिह् प्रीता'वित्यस्मात् 'ऋत्विग्' इत्यादिना क्विनि निपातनात् तलोपषत्वे क्विन्नन्तत्वात् घोषनादसंवारमहाप्राणप्रयत्नसाम्यात् हस्य घत्वे 'खरि च' इति चर्त्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे उक्तं रूपं जातम्।

चतसृणाम् (ई. ६४)—चतुर्शब्दादामि 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ' इति 'चतसृ' आदेशे 'अचि र ऋतः' इति रेफादेशे प्राप्ते 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेन तम्बाधित्वा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नुटि अनुबन्धलोपे 'नामि' इति दीर्घे प्राप्ते 'न तिसृचतसृ' इति निषेधे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' इति णत्वे 'चतसृणाम्' इति।

'चतुर्' शब्दस्य त्रिषु लिङ्गेषु रूपाणि (ई. ६२)—

('चतुर्' शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः)

पुंलिङ्गे—चत्वारः चतुरः चतुर्भिः
चतुर्भ्यः चतुर्भ्यः चतुर्णाम्
चतुर्षु। हे चत्वारः।

स्त्रीलिङ्गे—चतस्रः चतस्रः चतसृभिः
चतसृभ्यः चतसृभ्यः चतसृणाम्
चतसृषु। हे चतस्रः।

नपुंसके—चत्वारि चत्वारि चतुर्भिः
चतुर्भ्यः चतुर्भ्यः चतुर्णाम्
चतुर्षु। हे चत्वारि।

इयम्—इदम् शब्दात् सौ 'यः सौ' इति इदमो दस्य यत्वे 'त्यदादीनामः' इत्यत्वं बाधित्वा 'इदमो मः' इति इदमो दस्य मत्वे हल्ङ्यादिलोपे 'इयम्' इति।

त्यदाद्यत्वं, टाप् 'दश्च' (सू ३४५) इति मः, इमे। इमाः। इमाम्। इमे। इमाः। अनया। 'हलि लोपः' (सू ३४७)। आभ्याम् ३। आभिः। अस्य। अस्याः २। अनयोः २। आसाम्। अस्याम्। आसु। अन्वादेशे तु—एनाम्। एने। एनाः। एनया, एनयोः २। इति मान्ताः।

'ऋत्विग्–' (सू ३७३) आदिना सृजेः क्विन् अमागमश्च निपातितः। स्रक्–स्रग्। स्रजौ। स्रजः। स्रक्षु। इति जान्ताः।

त्यदाद्यत्वं टाप्। स्या। त्ये। त्याः। एवं तद्, यद्, एतद्। इति दान्ताः। वाक्–वाग्। वाचौ। वाचः। वाग्भ्याम्। वाक्षु। इति चान्ताः।

अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। 'अप्तृन्–' (सू २७७) इति दीर्घं, आपः। अपः। ४४३। अपो भि ७।४।४८। अपस्तकारः स्याद्भादौ प्रत्यये परे। अद्भिः। अद्भ्यः २। अपाम्। अप्सु। इति पान्ताः।

दिक्-दिग्। दिशौ। दिशः। दिग्भ्याम्। दिक्षु। 'त्यदादिषु—' (सू ३४०) इति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम्। दृक्-दृग्। दृशौ। दृशः। इति शान्ताः।

अनया (ई. ६२)—इदम् शब्दात्तृतीयैकवचने त्यदाद्यत्वे पररूपत्वे टापि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'अनाप्यकः' इति इद्भागस्य अनादेशे 'आङि चापः' इत्याकारस्यैकारे 'एचोऽयवायावः' इत्यैकारस्य आयादेशे 'अनया' इति।

अस्याः (ई. ७३)—इदम् शब्दात् ङसि अत्वे पररूपत्वे टापि सवर्णदीर्घे 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति स्याटि आपो ह्रस्वे च कृते 'इदस्या अस्' इति जाते सवर्णदीर्घे 'हलि लोपः' इति दभागस्य लोपे सस्य रुत्वे विसर्गे 'अस्याः' इति।

अद्भिः (ई, ६७, ६८, ७०)—अप्शब्दात् भिसि 'अपो भिः' इति अपः पकारस्य तकारे 'झलां जशोन्ते' इति जश्त्वे सस्य रुत्वे विसर्गे 'अद्भिः' इति।

दिक्षु (ई. ७२)—दिश् शब्दात् सुपि 'दिश् सु' इति स्थिते 'व्रश्चभ्रस्ज' इत्यादिना शकारस्य षत्वे तस्य जश्त्वेन डकारे कृते 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यनेन डकारस्य कुत्वेन गकारे तस्य चर्त्वे 'दिक् सु' इति स्थिते 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यनेन षत्वे 'दिक्षु' इति सिद्धम्।

दृक् (ई. ७३)—दृश्शब्दात् सौ हल्ङ्यादिलोपे 'व्रश्चभ्रस्ज'—इति शस्य षत्वे षस्य जश्त्वे 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च' इति दृशेः क्विन्-

त्विट्-त्विड् । त्विषौ । त्विषः । त्विड्भ्याम् । त्विट्त्सु-त्विट्सु । सह जुषत इति सजूः । सजुषौ । सजुषः । सजूर्भ्याम् । सजूष्षु-सजूःषु । षत्वस्या-सिद्धत्वाद्रुत्वम् । आशीः । आशिषौ । आशिषः । आशीर्भ्याम् । इति षान्ताः ।

असौ । त्यदाद्यत्वं, टाप्, औङः शी, उत्त्वमत्वे, अमू । अमूः । अमूम् । अमू । अमूः । अमुया । अमूभ्याम् । अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्याम् । अमूभ्यः । अमुष्याः २ । अमुयोः २ । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु । इति सान्ताः ।

इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

स्वमोर्लुक्, दत्वम्, स्वनडुत्–स्वनडुद् । स्वनडुही । 'चतुरनडुहोः—' (सू ३३१) इयम्, स्वनड्वांहि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । इति हान्ताः ।

'दिव उत्' (सू ३३७) अहर्विमलद्यु । अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पूर्व-पदस्येवोत्तरखण्डस्यापि पदसंज्ञायां प्राप्तायाम्, ६७ उत्तरपदत्वे चापदादि-विधौ प्रतिषेधः* । इति प्रत्ययलक्षणं न, विमलदिवी । 'अपदादिविधौ' किम्? दधिसेचौ । इह षत्वनिषेधे कर्तव्ये पदत्वमस्त्येव । कुत्वे तु न । इति वान्ताः ।

विधानात् अत्र क्विनोऽभावेऽपि 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' इति डकारस्य कुत्वेन गकारे तस्य 'वाऽवसाने' इति चर्त्वे 'दृक्' इति । चर्त्वाऽभावे 'दृग्' इति ।

अमूः (ई. ५८, ६७, ६८)--अदश्शब्दात् जसि अत्वपररूपटाप्सु कृतेषु पूर्वसवर्णदीर्घे 'अदसोऽसेर्दादुदो मः' इत्यनेन ऊत्वे मत्वे सकारस्य रुत्वे विसर्गे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

अमूष्यै (ई. ७३)—अदस्शब्दात् ङेविभक्तौ अत्वे पररूपत्वे टापि सवर्ण-दीर्घे 'अदा ए' इति स्थिते 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' इति स्याटि आबन्तस्य ह्रस्वे च कृते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'अदसोऽसेर्दादुदो मः' इत्युत्वे मत्वे च विहिते आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'अमुष्यै' इति ।

इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

विमलदिवी (ई. ७०, ७२, ७३)—विमला द्यौराकाशो यस्याह्नः इति बहुव्रीहौ सुब्लुकि विमलदिव् इति, तस्मादौङि तस्य 'नपुंसकाच्च' इति

वाः । वारी । अझलन्तत्वान्न नुम्, वारि । चत्वारि । इति रेफान्ताः । 'न लुमता—' (सू २६३) इति कादेशो न, किम् । के । कानि । इदम् । इमे । इमानि । ६८ अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः* । एनत् । एने । एनानि । एनेन । एनयोः २ । इति मान्ताः ।

ब्रह्म । ब्रह्मणी । ब्रह्माणि । हे ब्रह्मन्–हे ब्रह्म । 'रोऽसुपि' (सू १७२) अहर्भाति । 'विभाषा ङिश्योः' (सू २३७) अह्नी-अहनी । अहानि । ४४ । अहन् ८।२। ८। 'अहन्' इत्यस्य रुः स्यात्पदान्ते । अहोभ्याम् । अहोभिः । इह 'अहः' अहोभ्याम्' इत्यादौ रुत्वरुत्वयोरसिद्धत्वान्नलोपे प्राप्ते 'अहन्' इत्यावर्त्य नलोपाभावं निपात्य, द्वितीयेन रुर्विधेयः तदन्तस्यापि रत्वरुत्वे । दीर्घाण्यहानि यस्मिन् स 'दीर्घाहाः' निदाघः । इह हल्ङ्यादिलोपे प्रत्ययलक्षणेन 'असुपि' इति निषेधाद्रुत्वाभावे रुः, तस्यासिद्धत्वान्नान्तलक्षण उपधादीर्घः । सम्बुद्धौ तु हे 'दीर्घाहः' निदाघ । दीर्घाहाणौ । दीर्घाहानः ।

शीभावे विमलदिवी इति । नन्विदं रूपमयुक्तं 'दिव उत्' इत्युत्वप्रसङ्गात् । न च विमलदिवी इति समुदायस्यैव सुवन्ततया पदत्वान्न वकारस्य · दिवशब्दरूपपदान्तत्वमिति वाच्यम् । 'सुपो धातु' इति लुप्तां दिव्शब्दोत्तरां विभक्तिं प्रत्ययलक्षणेनाश्रित्य दिव् इत्यस्य पदत्वात् । न च लुका लुप्तत्वात् न प्रत्ययलक्षणमिति वाच्यम् । पदसंज्ञायास्सुबन्तधर्मतया अङ्गधर्मत्वाभावेन तत्र 'न लुमता' इति निषेधाप्रवृत्तेरिति चेन्न, 'उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ प्रतिषेधः' इति वार्तिकेन प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात् दिव् इत्यस्य पदत्वाभावादुक्तसूत्राप्रवृत्तेः ।

चत्वारि (ई. ७३)—चतुर्शब्दाद् जसि शशि वा विभक्तौ 'जश्शसो शिः' इति श्यादेशे 'शि सर्वनामस्थनम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' इत्यामि अनुबन्धलोपे 'इको यणचि' इति यणि 'चत्वारि' इति ।

अहोभ्याम् (ई. ५८)—ननु अहः अहोभ्यामित्यादौ रुत्वरत्वयोरसिद्धत्वान्नलोपः कथन्नेति चेन्न, रूपरात्रिरथन्तरेष्वह्नो रुत्वं वाच्यमिति वार्तिकारम्भसामर्थ्यादहन्नित्यावर्त्य एकेन नलोपाभावं निपात्य द्वितीयेन रुत्वविधानेनादोषात् ।

दीर्घाहाः (ई. ६३, ६८)—दीर्घाणि अहानि यस्मिन्नित्यर्थे समासात्सौ हल्ङ्याविति सुलोपे प्रत्ययलक्षणेनासुपीति निषेधाद्रोऽसुपीत्यस्याप्राप्त्याऽहन्निति

दीर्घाह्ला। दीर्घाहोभ्याम्। दण्डि। दण्डिनी। दण्डीनि। स्रग्वि। स्रग्विणी। स्रग्वीणि। वाग्मि। वाग्मिनी। वाग्मीनि। बहुवृत्रहाणि। बहुपूषाणि। बह्वर्यमाणि। इति नान्ताः।

असृजः पदान्ते कुत्वम्, सृजेः क्विनो विधानात्। विश्वसृडादौ तु न, 'सृजिदृशोः' (सू २४०५) इति सूत्रे 'रज्जुसृड्भ्याम्' इति भाष्यप्रयोगात्। यद्वा 'व्रश्च–' (सू २०४) आदिसूत्रे सृजियज्योः पदान्ते षत्वं कुत्वापवादः। स्रगृत्विक्छब्दयोस्तु निपातनादेव कुत्वम्। असृक्छब्दस्तु अस्यतेरौणादिके ऋच्प्रत्यये बोध्यः। असृक्–असृग्। असृजी। असृञ्जि। 'पदन्' (सू २२८)

रुत्वेऽपि तस्याऽसिद्धत्वात् 'सर्वनामस्थाने' इति दीर्घे रेफस्य विसर्गे दीर्घाहाः निदाघ इति। सम्बुद्धौ तु दीर्घाप्राप्त्या उत्वे हे दीर्घाहो निदाघ! इति सिद्धम्।

सृजेः क्विनो विधानादिति (ई. ७१)–असृज्शब्दस्य पदान्तविषये कुत्वं भवति। यद्यपि इह क्विप्प्रत्ययो नतु क्विन्, तथापि कुत्वमेव। 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इत्यस्य क्विन्प्रत्ययो यस्माद् दृष्टः इत्यर्थकरणात्। 'ऋत्विग्' इत्यत्र सृजेः क्विनो विधानात् असृग्, इत्यत्र क्विप्प्रत्ययेऽपि कुत्वप्राप्तेः। न चैवं विश्वसृड् इत्यत्रापि कुत्वापत्तिरिति वाच्यम्, 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' इति सूत्रे 'रज्जुसृड्भ्याम्' इति भाष्यप्रयोगात् अव्ययपूर्वपदे कुत्वाऽभावबोधनेन उक्तप्रयोगे आपत्त्यभावात्।

ननु षत्वविधायकसूत्रे 'सृज्-मृज्-यज्' इति विशिष्टग्रहणात् षत्वस्य कुत्वापवादत्वात् षत्वस्यैव प्राप्तिर्न तु कुत्वस्येति चेद् उच्यते—'व्रश्चभ्रस्ज' इति सूत्रे सृजियज्योः पदान्ते षत्वं विधीयते। षत्वं तु 'कुत्वापवादः' तेन असृजः क्विप्प्रत्ययान्तस्य षत्वमेवोचितम्। 'स्रग्' इति तु 'ऋत्विग्' इत्यादिना निपातनात् कुत्वेन साधु। निपातनं नाम—अन्यादृशे प्रयोगे प्राप्ते अन्यादृशप्रयोगकरणम्। निपातेन हि अपवादशास्त्राप्रवृत्तिमात्रं बोध्यते। कुत्वं तु सूत्रेणैव भवति। एवं च 'असृग्' इति अस्यतेरौणादिकेन ऋच्प्रत्ययेन साधु।

असृक (ई. ७०, ७२)—सृजेः क्विनो विधानेन क्विन्प्रत्ययस्येत्यत्र बहुव्रीहिबलादत्रापि कुत्वम्। न चैवं विश्वसृडादावपि कुत्वं स्यादिति वाच्यम्, सृजिदृशोरिति सूत्रे रज्जुसृड्भ्यामिति भाष्यप्रयोगणाव्ययपूर्वपदे केवले च कुत्वकल्पनेनादोषात्। न चैवमुपयट्काम्यति उपसृट्काम्यतीति भाष्यप्रयोगासङ्गति-

इति वा असन् । असानि । असृजा-अस्ना । असृग्भ्याम्-असभ्याम् । इत्यादि । ऊर्क्-ऊर्ग् । ऊर्जी । ऊर्न्जि । नरजानां संयोगः । ६९ बहूर्जि नुम्प्रतिषेधः* ७० अन्त्यात्पूर्वो वा नुम्* । बहूर्जि-बहूंर्जि वा कुलानि । इति जान्ताः ।

त्यत्-त्यद् । त्ये । त्यानि । तत्-तद् । ते । तानि । यत्-यद् । ये । यानि । एतत्-एतद् । एते । एतानि । अन्वादेशे तु एनत् । वेभिद्यतेः क्विप्, वेभित्-वेभिद् । वेभिदी । शावल्लोपस्य स्थानिवत्त्वादझलन्तत्वान्न नुम् । अजन्तलक्षणस्तु नुम् न, स्वविधौ स्थानिवत्त्वाभावात्, वेभिदि ब्राह्मणकुलानि चेच्छिदि । इति दान्ताः ।

रिति वाच्यम्, व्रश्चादिसूत्रे सृजियज्योः पदान्ते षत्वं कुत्वापवादः स्रगृत्विक्शब्दयोस्तु निपातनादेव कुत्वम्, असृक्शब्दे तु अस्यतेरौणादिके ऋजि प्रत्यये चोः कुरिति कुत्वेन सिद्धिरिति कल्पनेनादोषात् ।

असानि (ई. ७२)—असृक्शब्दात् शसि 'पद्दन्–' इति सूत्रेण 'असन्' आदेशे 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे नान्तत्वात् दीर्घे 'असानि' इति । पक्षे श्यादेशे कृते झलन्तत्वान्नुमि 'नश्च' इत्यनुस्वारे तस्य परसवर्णे 'असृञ्जि' इति ।

बहूर्जि (ई. ६८)—बहूर्क्शब्दात् जश्शसोः शिभावे कृते झलन्तलक्षणनुमि ऊकारादुपरि प्राप्ते 'बहूर्जि नुम्प्रतिषेधः, अन्त्यात्पूर्वो वा नुम्' इति वार्तिकेन तन्निषेधे उक्तं रूपं सिद्धम् । पक्षे तु शिभावे सति जकारात् पूर्वं रेफादुपरि नुमि कृते श्चुत्वस्यासिद्धत्वात् 'नश्च' इत्यनुस्वारे तस्य परसवर्णे 'बहूर्ञ्जि' इति ।

एनत् (ई. ७०) इदम् शब्दात् सौ 'अन्वादेशे नपुंसके एनद् वक्तव्यः' इति वार्तिकेन इदम्शब्दस्य एनदादेशे 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि जश्त्वे चर्त्वे 'एनत्' इति । चर्त्वाऽभावे 'एनद्' इति ।

वेभिदि (ई. ६३, ६६, ६८, ६९, ७२)—वेभिद्यधातोर्यङन्तात् क्विपि अतो लोपे यलोपे च कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमाबहुवचनविवक्षायां जसि 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे 'वेभिदि' इति जातम् । नन्वत्र श्यादेशस्य 'शिसर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति झलन्तलक्षणो नुम् कस्मान्नेति चेन्न, 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इति अल्लोपस्य स्थानिवद्भावेन अकारबुद्ध्या नुमोऽप्राप्तेः । नचाल्लोपस्य स्थानिवद्भावेन अजन्तलक्षण एव नुम् स्यादिति वाच्यम् ? पूर्वस्यैव विधौ स्थानिवद्भावस्यानेन विधानात् स्वविधौ स्थानिवद्भावाप्रसक्तेः ।

'गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः ।
असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम् ॥ १ ॥
स्वम्सुप्सु नव षड् भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः ।
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय' ॥ २ ॥

ननु वेभिद् शि इति दशायां झलन्तत्वेन 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुम् कथन्न स्यादिति चेत्, न, अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् । स्थानिभूतादचः पूर्वस्य कार्ये कर्त्तव्ये स्थानिवद्भावो भवति, न तु अजन्तस्य कार्ये कर्त्तव्ये, इति अजन्तलक्षणोऽपि नुम् न भवतीति भावः ।

'गवाक्' शब्दस्य रूपाणि (ई. ६९)

प्रथमायां (१६)—गवाक् गवाग्, गोअक् गोअग्, गोअङ् गोऽङ्, गवाङ् गोअङ्, गोऽङ् (९) गोची—गवाञ्ची—गोअञ्ची—गोऽञ्ची (४) गवाञ्चि-गोअञ्चि-गोऽञ्चि (३) ।

द्वितीयायां (१६)—पूर्ववत् ।

तृतीयायां (१६)—गोचा-गवाञ्चा-गोअञ्चा-गोऽञ्चा (४) गवाग्भ्याम्-गोअग्भ्याम्-गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्-गोअङ्भ्याम्-गोऽङ्भ्याम् (६) । गवाग्भिः—गोअग्भिः—गोऽग्भिः, गवाङ्भिः—गोअङ्भिः—गोऽङ्भिः (६) ।

चतुर्थ्यां (१६)—गोचे-गवाञ्चे-गोअञ्चे-गोऽञ्चे (४) गवाग्भ्याम्-गोअग्भ्याम्-गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्-गोअङ्भ्याम्-गोऽङ्भ्याम् (६) गवाग्भ्यः-गोअग्भ्यः—गोऽग्भ्यः, गवाङ्भ्यः, गोअङ्भ्यः, गोऽङ्भ्यः (६) ।

पञ्चम्यां (१६)—गोचः-गवाञ्चः—गोअञ्चः—गोऽञ्चः (४) गवाग्भ्याम्—गोअग्भ्याम्—गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्—गोअङ्भ्याम्- गोऽङ्भ्याम् (६) । गवाग्भ्यः—गोअग्भ्यः, गोऽग्भ्यः, गवाङ्भ्यः—गोअङ्भ्यः- गोऽङ्भ्यः (६) ।

षष्ठ्यां (१२)—गोचः—गवाञ्चः—गोअञ्चः—गोऽञ्चः (४) । गोचोः—गवाञ्चोः—गोअञ्चोः—गोऽञ्चोः (४) । गोचाम्—गवाञ्चाम्—गोअञ्चाम्—गोऽञ्चाम् (४) ।

सप्तम्यां (१७)—गोचि गवाञ्चि—गोअञ्चि—गोऽञ्चि (४) । गोचोः—गवाञ्चोः गोअञ्चोः—गोऽञ्चोः (४) । गवाक्षु—गोअक्षु, गोऽक्षु, गवाङ्क्षु,—गोअङ्क्षु—गोऽङ्क्षु, गवाङ्षु—गोअङ्षु—गोऽङ्षु (९) । (सर्वं मिलित्वा १०९ रूपाणि भवन्ति ।) तदुक्तं 'गवाक्शब्दस्य रूपाणि०' इत्यादि मूले ।

अथाहि, गामञ्चतीति विग्रहे 'ऋत्विग्—' (सू ३७३) आदिना क्विन्, गतौ नलोपः, 'अवङ् स्फोटायनस्य' (सू ८८) इत्यवङ्, गवाक्–गवाग्। 'सर्वत्र विभाषा–' (सू ८७) इति प्रकृतिभावे, गोअक्–गोअग्–पूर्वरूपे गोऽक्–गोऽग्। पूजायां नस्य कुत्वेन ङः, गवाङ्–गोअङ्–गोऽङ्। अम्यप्येतान्येव नव। औङः शी, भत्वात्। 'अचः' (सू ४१७) इत्यलोपः, गोची। पूजायान्तु गवाञ्ची–गोअञ्ची गोऽञ्ची। 'जश्शसोः शिः' (सू ३१२), शेस्सर्वनामस्थानत्वान्नुम्, गवाञ्चि-गोअञ्चि-गोऽञ्चि। गतिपूजनयोस्त्रीण्येव गोचा, गवाञ्चा–गोअञ्चा-गाऽञ्चा। गवाग्भ्याम्–गोअग्भ्याम् गोऽग्भ्याम्, गवाङ्भ्याम्–गोअङ्भ्याम्-गोऽङ्भ्याम्। इत्यादि। सुपि तु ङान्तानां पक्षे 'ङ्णोः कुक्–' (सू १३०) इति कुक्, गवाङ्क्षु–गोऽङ्क्षु, गोअङ्क्षु,, गवाङ्षु–गोअङ्षु-गोऽङ्षु, गवाक्षु–

गवाङ् (ई. ७३)—गाम् अञ्चति=पूजयतीति 'गवाङ्'। 'गो' उपपदात् पूजार्थे अञ्च् धातोः 'ऋत्विगा'दिना क्विन्प्रत्यये तस्य सर्वापहारे उपपदसमासे सुब्लुकि 'गो अञ्च्' इति स्थिते 'नाञ्चेः पूजायाम्' इति निषेधात् 'अनिदिताम्' इति नलोपाभावे चकारस्य संयोगान्तलोपे नकारस्य 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारे 'अवङ्स्फोटायनस्य' इत्यनेन अवङि 'गवाङ्' इति। 'सर्वत्र विभाषा गोः' इति प्रकृतिभावपक्षे—'गोअङ्'। पूर्वरूपे– गोऽङ्' इति च ज्ञेयम्।

गोचा (ई. ७२)—गामञ्चतीति विग्रहे क्विनि क्विनः सर्वापहारे उपपदसमासे सुब्लुकि समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां टाविभक्तौ अनुबन्धलोपे 'गो अञ्च् आ' इति जाते 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' इति नलोपे 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अचः' इत्यलोपे 'गोचा' इति। पूजायान्तु 'नाञ्चेः पूजायाम्' इति नलोपनिषेधे सति 'अवङ्स्फोटायनस्य' इत्यवङि सवर्णदीर्घे 'गवाञ्चा' इति। अवङाभावपक्षे 'सर्वत्र विभाषा गोः' इति प्रकृतिभावे 'गो अञ्चा' इति। प्रकृतिभावाभावपक्षे 'एङः पदान्तादति' इति पूर्वरूपे 'गोऽञ्चा' इति।

गवाक्षु (ई. ६३, ६५)—'गवाच् सु' 'इति दशायाम् 'चोः कुः' इति चस्य कुत्वे ककारस्य 'झलां जशोऽन्ते' इति गकारे, गकारस्य 'खरि च' इति ककारे, सस्य 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'गवाक्षु' इति।

अत्र 'चयो द्वितीयाः शरि' इति वार्तिकेन ककारस्य खकारे कृते गवाख्षु गोअख्षु गोऽख्षु इति त्रीणि रूपाणि वर्धिष्यन्ते इति न शङ्कनीयम्, चर्त्वस्याऽसिद्धत्वात्। पूजायान्तु नलोपाभावे 'ङ्णोः कुक्' इति कुकि कुकोऽसिद्धत्वेन

गोअक्षु । गोऽक्षु । न चेह 'चयो द्वितीयाः' (वा ३०) इति पक्षे ककारस्य खकारेण षण्णामाधिक्यं शङ्क्यम्, चर्त्वस्यासिद्धत्वात् । कुत्वपक्षे तु तस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वाभावे पक्षे चयो द्वितीयादेशात्त्रीणि रूपाणि वर्धन्त एव ।

'ऊह्यमेषां द्विर्वचनानुनासिकविकल्पनात् ।
रूपाण्यश्वाक्षिभूतानि (५२७) भवन्तीति मनीषिभिः ॥'

तिर्यक् । तिरश्ची । तिर्यञ्चि । पूजायां तु तिर्यङ् । तिर्यञ्ची । तिर्यञ्चि । इति चान्ताः ।

यकृत् । यकृती । यकृन्ति । 'पद्दन्–' (सू २२८) इति वा यकन्, यकानि । यक्ना-यकृता । शकृत् । शकृती । शकृन्ति । शकानि । शक्ना-शकृता । ददत् । ददती । ४४५ । वा नपुंसकस्य ७।१।७९। अभ्यस्तात्परो यः शता तदन्तस्य क्लीवस्य नुम् वा स्यात्सर्वनामस्थाने परे । ददन्ति-ददति । तुदत् । ४४६ । आच्छीनद्योर्नुम् ७।१।८०। अवर्णान्तादङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्याङ्गस्य नुम् वा स्याच्छीनद्योः परतः । तुदन्ती–तुदती । तुदन्ति । भात् । भान्ती–भाती । भान्ति । पचत् । ४४७ । शप्श्यनोर्नित्यम् ७।१।८१। शप्श्यनोरात्परो

जश्त्वाभावे 'चयो द्वितीया' इति वार्तिकेन ककारस्य खकारे कृते गवाङ्ख्षु, गोअङ्ख्षु, गोङ्ख्षु इति त्रीणि रूपाणि वर्धन्त एवेति तत्त्वम् ।

गोऽक्षु (ई. ६३, ७०)—गाम् अञ्चति = गच्छति, इति विग्रहे क्विन् प्रत्यये तस्य सर्वापहारे उपपदसमासे सुपि 'गो अञ्च् सु' इति स्थिते सती 'नाञ्चेः पूजायाम्' इत्यस्याप्राप्त्या नलोपे कुत्वे षत्वे अवङि 'गवाक्षु' इति । प्रकृतिभावे 'गोअक्षु' इति । पूर्वरूपे–'गोऽक्षु' इति च सिद्धं भवति ।

ददन्ति—'ददत्' शब्दाज्जसि 'जश्शसोः शिः' इति जसः श्यादेशे अनुबन्धलोपे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि प्राप्ते 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति निषेधे कृते 'वा नपुंसकस्य' इति नुमि अनुबन्धलोपे नस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'ददन्ति' इति । नुमभावे 'ददति' इति ।

तुदन्ती (ई. ६३, ६४, ६५)—'तुदत्' शब्दाद् औ विभक्तौ 'नपुंसकाच्च' इति औङः श्यादेशे अनुबन्धलोपे 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति नुमि अनुबन्धलोपे नस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'तुदन्ती' इति । नुमभावे 'तुदती' इति ।

यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नित्यं नुम् स्याच्छीनद्योः परतः। पचन्ती। पचन्ति। दीव्यत्। दीव्यन्ती। दीव्यन्ति। इति तान्ताः।

स्वप्–स्वब्। स्वपी। नित्यात्परादपि नुमः प्राक् 'अप्तृन्–' (सू २७७) इति दीर्घः, प्रतिपदोक्तत्वात्, नुम्, स्वाम्पि। 'निरवकाशत्वं प्रतिपदोक्तत्वम्' इति पक्षे तु प्रकृते तद्विरहान्नुमेव, स्वम्पि। स्वपा। 'अपो भि' (सू ४४३) स्वद्भ्याम्। स्वद्भिः। इति पान्ताः।

'अर्तिपृवपि-' (उ २७४) इत्यादिना धनेरुस्, रुत्वम्, धनुः। धनुषी। 'सान्त-' (सू ३१७) इति दीर्घः 'नुम्विसर्जनीय–' (सू ४३५) इति षत्वम्, धनूंषि। धनुषा। धनुर्भ्याम्। एवं चक्षुर्हविरादयः। पिपठिषतेः क्विप्, 'र्वोः–'

पचन्ती (ई. ६८, ६९, ७३, ७४)—'पचत्' शब्दाद् औविभक्तौ 'नपुंसकाच्च' इति औङः श्यादेशे अनुबन्धलोपे 'पचत् ई' इति दशायाम् 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुमि अनुबन्धलोपे नस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'पचन्ती' इति।

प्रतिपदोक्तत्वात् नुम्—अयम्भावः, लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया नित्यात्परादपि नुमः पूर्वम् 'अप्तृन्' इति दीर्घे पश्चान्नुमि स्वाम्पीति सिद्धम्। यदि च प्रतिपदोक्तं कुत्रचिच्चरितार्थन्न स्यात्, तदा लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषाविषयो भवतीति पक्षे आप इत्यत्र 'अप्तृन्' इति सूत्रस्य सफलत्वेन परिभाषाविषयाभावात्पूर्वं नुमि, उपधाया अभावेन दीर्घाभावे स्वम्पीति रूपम्।

स्वाम्पि (ई. ५८, ६९, ७०, ७१)—सु=शोभना आपो यस्मिन् सरसीति विग्रहे समासे यणि 'स्वप्' इति। तस्मात् जश्शसोः श्यादेशे 'स्वप् इ' इति स्थिते 'अप्तृन्नि'ति दीर्घे 'नपुंसकस्य झलचः' इति झलन्तलक्षणनुमि अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'स्वाम्पि' इति सिद्धम्। ननु 'अप्तृन्' इति दीर्घं बाधित्वा परत्वान्नित्यत्वाच्च नुमि कृते अकारस्य उपधात्वाभावात् कथं दीर्घं इति चेन्न, 'अप्तृन्' इति दीर्घस्य प्रतिपदोक्तत्वेन प्रबलत्वात्। यदि च 'शेषाद्विभाषा' इति सूत्रोक्तभाष्यात् 'निरवकाशत्वं प्रतिपदोक्तत्वम्' इति गृह्यते तदा 'अप्तृन्' इति दीर्घस्य 'आपः' इत्यत्र सावकाशत्वेन परत्वात् नित्यत्वाच्च दीर्घं बाधित्वा नुमि अनुस्वारे परसवर्णे च 'स्वम्पि' इत्यपि साधुः। 'सिद्धान्तिनस्तु—'अप्तृन्' इत्यस्य प्रतिपदविधित्वेन शीघ्रोपस्थितिकतया प्रथमं प्रवृत्तौ स्वाम्पीत्येव युक्तमित्याहुः।

धनूंषि—'धनुस्' शब्दाज्जसि 'जश्शसोः शिः' इति जसः श्यादेशे अनुबन्धलोपे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः'

(सू ४३३) इति दीर्घः, पिपठीः । पिपठिषी । अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाज्झलन्तलक्षणो नुम् न, स्वविधौ स्थानिवत्त्वाभावादजन्तलक्षणोऽपि नुम् न, पिपठिषी । पिपठीर्भ्याम् । इत्यादि । पयः । पयसी । पयांसि । पयसा । पयोभ्याम् । इत्यादि । सुपुम् । सुपुंसी । सुपुमांसि । अदः विभक्तिकार्यम्, उत्वमत्वे, अमू । अमूनि । शेषं पुंवत् इति सान्ताः ।

इति हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।

इति नुमि अनुबन्धलोपे 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति दीर्घे 'नश्चापदान्तस्य—' इत्यनुस्वारे 'नुम्विसर्जनीय—' इति सस्य षत्वे 'धनूंषि' इति ।

पिपठिषि (ई. ६४, ६९, ७०)—पठ्धातोः सनि इटि द्वित्वादिकार्ये 'पिपठिष' इति सन्नन्तात् क्विपि अतो लोपे 'पिपठिष्' इति । तस्मात् जसि 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे 'पिपठिषि' इति । नन्वत्र 'नपुंसकस्य झलचः' इति झलन्तलक्षणनुम् कुतो नेति चेन्न, अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् । नन्वेवमजन्तलक्षण एव नुम् कुतो नेति चेन्न, स्वविधौ स्थानिवत्त्वाऽभावात् ।

पयांसि (ई. ५८)—'पयस्' शब्दाज्जसि 'जश्शसोः शिः' इति श्यादेशे अनुबन्धलोपे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसस्य झलचः' इति नुमि अनुबन्धलोपे 'सान्तमहतः संयोगस्य' इति सान्तसंयोगस्योपधाया दीर्घे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'पयांसि' इति ।

सुपुमांसि (ई. ६३)— 'सुपुंस्' शब्दाज्जसि 'जश्शसोः शिः' इति जसः स्थाने श्यादेशे अनुबन्धलोपे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'पुंसोऽसुङ्' इत्यसुङि अनुबन्धलोपे 'सुपुमस् इ' इति स्थिते 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि 'सान्तमहतः' इति दीर्घे नस्यानुस्वारे 'सुपुमांसि' इति सिद्धम् ।

इति हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।

अथ अव्ययप्रकरणम्

४४८। स्वरादिनिपातमव्ययम् । १।१।३७। (१) स्वरादयो निपाताश्चाव्ययसंज्ञाः स्युः । स्वर् । अन्तर् । प्रातर् । पुनर् । सनुतर् । उच्चैर् । नीचैस् । शनैस् । ऋधक् । ऋते । युगपत् । आरात् । पृथक् । ह्यस् । श्वस् । दिवा । रात्रौ । सायम् । चिरम् । मनाक् । ईषत् । जोषम् । तूष्णीम् । बहिस् । अवस् । समया । निकषा । स्वयम् । वृथा । नक्तम् । नञ् । हेतौ । इद्धा । अद्धा । सामि । वत् । ब्राह्मणवत्, क्षत्रियवत् । सना । सनत् । सनात् । उपधा । तिरस् । अन्तरा । अन्तरेण । ज्योक् । कम् । शम् । सहसा । विना ।

स्वरादिनिपातमव्ययम् (ई. ६३)—स्वर् आदिर्येषां ते स्वरादयः, ते च निपाताश्चेति समाहारद्वन्द्वः, अव्ययम् इति पृथक् पदम् । 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति स्मरणात्—'स्वरादयो निपाताश्च अव्ययसंज्ञाः स्युः' इति सूत्रार्थः ।

---

(१) स्वरादि और निपातकी अव्ययसंज्ञा होती है । स्वर् (स्वः)—स्वर्ग । अन्तर् (अन्तः)—मध्य । प्रातर् (प्रातः)—प्रातःकाल । पुनः—फिर सनुतर् (सनुतः)—अन्तर्धान । उच्चैस् (उच्चैः)—ऊर्ध्व भागमें । नीचैस् (नीचैः)—अधोभागमें । शनैस् (शनैः)—धीरे-धीरे । ऋधक्—सचमुच । ऋते—विना । युगपत्—एक साथ । आरात्—दूर या समीप में । पृथक्—भिन्न । —ह्यस् (ह्यः)—पूर्व दिनमें । श्वः—पर दिनमें । दिवा—दिन । रात्रौ—रातमें । सायम्—संध्यामें । चिरम्—विलम्ब । मनाक्—थोड़ा । ईषत्—बहुत थोड़ा, किञ्चित् । जोषम्—काना-फूंसी । तूष्णीम्—चुप । बहिस् (बहिः), अवस् (अवः)–बाहर । अधस् (अधः)–नीचे । समया, निकषा—समीप । स्वयम्—अपने ही । वृथा—व्यर्थ । नक्तम—रात । न, नञ्,—नहीं । हेतौ–कारण । इद्धा—प्रकाश्य । अद्धा—स्फुट । सामि—आधा । ब्राह्मणवत्—ब्राह्मणके समान । क्षत्रियवत्—क्षत्रियके समान । सना, सनत्, सनात् नित्य । उपधा—घूस, नजराना । तिरस् (तिरः)—टेढ़ा, पराभव । अन्तरा—मध्य, विना । अन्तरेण—विना । ज्योक्—शीघ्र, संप्रति । कम्—जल, निन्दा, सुख । शम—सुख, कल्याण । सहसा—अकस्मात् । विना—अभाव । नाना—अनेक । स्वस्ति—मंगल,

नाना । स्वस्ति । स्वधा । अलम् । वषट् । श्रौषट् । वौषट् । अन्यत् । अस्ति । उपांशु । क्षमा । विहायसा । दोषा । मृषा । मिथ्या । मुधा । पुरा । मिथो । मिथस् । प्रायस् । मुहुस् । प्रवाहुकम् । प्रवाहिका । आर्यहलम् । अभीक्ष्णम् । साकम् । सार्धम् । नमस् । हिरुक् । धिक् । अथ । अम् । आम् । प्रताम् । प्रशाम् । प्रतान् । मा । माङ् । आकृतिगणोऽयम् । च । वा । ह । अह । एव । एवम् । नूनम् । शश्वत् । युगपत् । भूयस् । कूपत् । सूपत् । कुवित् । नेत् । चेत् । चण् । कच्चित् । किञ्चित् । यत्र । नह । हन्त । माकिः । माकिम् । नकिः । (आकिम्) नकिम् । माङ् । नञ् । यावत् । तावत् । त्वै । द्वै । न्वै । रै । श्रौषट् । वौषट् । स्वाहा । स्वधा । ओम् । तुम् । तथाहि । खलु । किल ।

शुभ । स्वाहा—देवहविर्दानमें । स्वधा—पितृहविर्दानमें । अलम्—भूषण, पर्याप्त (वस), व्यर्थ । वषट्, श्रौषट्, वौषट्—देवहविर्दानमें । अन्यत्—और, दूसरा । अस्ति—सत्ता, विद्यमान । उपांशु—गुप्त । क्षमा—माफ । विहायसा—आकाश । दोषा—रात्रि । मृषा, मिथ्या—असत्य, झूठ । मुधा—व्यर्थ ही, निष्प्रयोजन । पुरा—पहले । मिथो, मिथस् (मिथः)—परस्पर, एकान्त । प्रायस् (प्रायः)—संभव हो सकता है । मुहुस् (मुहुः)—बार-बार । प्रवाहुकम्—एक साथ, समान काल । आर्यहलम्—बलात्कार, जबरदस्ती । अभीक्ष्णम्—पुनः २, बार २ । साकम्, सार्धम्—साथ २ । नमस् (नमः)—नमस्कार, प्रणाम । हिरुक—विना । धिक्—धिक्कार, छी-छी । अथ—अनन्तर और । (अथ किम्—और नहीं तो क्या ?) । अम्—शीघ्र, थोड़ा, किञ्चित् । आम्—हाँ, स्वीकार, मंजूर । प्रताम्—ग्लानि । प्रशाम्—नमान । प्रतान् विस्तार । मा, माङ्—नहीं, अस्वीकार । च—पुनः, अथवा, और । वा—अथवा । ह—प्रसिद्ध । अह—अद्भुत, खेद । एव—अवश्य, ही । एवम्—इस प्रकार । नूनम्—निश्चय, तर्क । शश्वत्—सदा, साथ २, पुनः २ । युगपत्—एक साथ । भूयस् (भूयः)—पुनः, प्रचुर, ढेरसा । कूपत्, सूपत्—प्रश्न, प्रशंसा । कुवित्—बहुत, प्रशंसा । नेत्—शंका । चेत्-चण्—यदि । कच्चित्—क्या, प्रश्न । यत्र—जहाँ । नह—प्रत्यारम्भ । हन्त—हर्ष, विषाद । माकिः माकिम्, नकिः—विना, वर्जन । नञ्—नहीं । यावत्—जब तक । त्वै, द्वै, न्वै—वितर्क । रै—दान, हीन सबोधन । श्रौषट्, वौषट्, स्वाहा—

अथो । अथ । सुष्ठु । स्म । आदह । 'उपसर्गविभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च' (ग)—अवदत्तम् । अहंयुः । अस्तिक्षीरा । अ । आ । इ । ई । उ । ऊ । ए । ऐ । ओ । औ । पशु । शुकम् । यथाकथाच । पाट् । प्याट् । अङ्ग । है । हे । भोः । अये । द्य । विषु । एकपदे । युत् । आवः । चादिरप्याकृतिगणः ॥ इति चादयः । ४४९ । तद्धितश्चासर्वविभक्तिः १।१।३८ । यस्मात्सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात् । परिगणनं कर्तव्यम्–'तसिलादयः प्राक्पाशपः, शस्प्रभृतयः प्राक्समासान्तेभ्यः, अम्, आम्, कृत्वोऽर्थाः, तसिवती, नानाञौ' इति । तेनेह न-पचतिकल्पम् । पचतिरूपम् ।

४५० । कृन्मेजन्तः १।१।३९। कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्ययं स्यात् ? स्मारं स्मारम् । जीवसे । पिबध्यै । ४५१ । क्त्वातोसुन्कसुनः १।१।४०।

स्मारं स्मारम् (ई. ६३,६५)—स्मृत्वा स्मृत्वा इत्यर्थः । अत्र 'आभीक्ष्ण्ये णमुल् च' इति स्मृधातोर्णमुल् 'अचो ञ्णिति' इति वृद्धिः, रपरत्वम्, 'नित्यवीप्सयोः' इति द्वित्वम्, 'कृन्मेजन्तः' इति मान्तकृदन्तत्वादव्ययत्वम्, सोर्लुक् च ।

जीवसे (ई. ६८,७१)—अव्ययपदमिदम् । अत्र 'तुमर्थे सेसेनसे' इति असे प्रत्यये कृते 'कृन्मेजन्तः' इति एजन्तत्वात् अव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुब्लुक् भवति ।

पिबध्यै (ई. ६४,७३)—अत्र 'तुमर्थे से–' इत्यादिना शध्यैप्रत्यये शित्वात् सार्वधातुकत्वे 'पाघ्राध्मा—' इत्यादिना पिबादेशे 'कृन्मेजन्तः' इत्यव्ययत्वात् अव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सोर्लुक् ।

देवहविर्दान । अलम्—पर्याप्त । स्वधा, वषट्—पितृहविर्दान । तुम्—तुम , तथाहि—जैसे, इस प्रकार । खलु, किल—निश्चय । अथ—अनन्तर । सुष्ठु—अच्छा । स्म—भूतकाल । आदह—निन्दा ।

अवदत्तम्—दिया । अहंयुः—अहंकारी । अस्तिक्षीरा—दूधवाली । अ—संबोधन । आ— वाक्य, स्मरण । इ—संबोधन, जुगुप्सा, विस्मय । ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ—संबोधन । पशु—सम्यक् । शुकम्—शीघ्र । यथाकथाच—जब-कभी । पाट, प्याट् अंग, है, हे, भोः अये—संबोधन । द्य—हिंसा । विषु—अनेक । एकपदे—सहसा । युत्—निन्दा । आवः— अतः—इसलिये । स्मारं स्मारम्—स्मरण कर करके । जीवसे—जीनेके

एतदन्तमव्ययं स्यात् । कृत्वा । उदेतोः । विसृपः । ४५२ । अव्ययीभावश्च १।१।४१। अधिहरि । ४५३ । अव्ययादाप्सुपः २।४।८२। अव्ययाद्विहितस्यापः सुपश्च लुक् स्यात् । तत्र शालायाम् । विहितविशेषणान्नेह-अत्युच्चैसौ । अव्ययसंज्ञायां यद्यपि तदन्तविधिरस्ति, तथापि न गौणे । आब्ग्रहणं व्यर्थम्, अलिङ्गत्वात् ।

'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्'

(भाष्योक्ता) इति श्रुतिर्लिङ्गकारकसङ्ख्याऽभावपरा ।

उदेतोः (७१, ७३)—उत्पूर्वादिण्धातोः 'भावलक्षणे स्थेणकृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन्' इति तोसुन्प्रत्ययेऽनुबन्धलोपे गुणे उपसर्गसम्बन्धिनस्तस्य जश्त्वे 'उदेतोस्' इत्यस्य तोसुन्प्रत्ययान्तत्वेन 'क्त्वातोसुन्कसुनः' इति अव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इति तस्माद्विहितस्य सोर्लुकि सस्य रुत्वे विसर्गे 'उदेतोः' इति ।

विसृपः (ई. ६४, ६७)—वि उपसर्गात् सृप्धातोः 'सृपि तृदोः कसुन्' इति कसुन्प्रत्यये 'क्त्वातोसुन्कसुनः' इति अव्ययसंज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुब्लुकि रुत्वे विसर्गे 'विसृपः' इति सिद्धम् ।

अत्युच्चैसौ (ई. ५८, ५९, ७०)—उच्चैरतिक्रान्तः इति विग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः । अत्र समासाद्विहितस्य सुपः अव्ययभूतादुच्चैश्शब्दात् परत्वेऽपि ततो विहितत्वाऽभावात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति न लुक् । अत्युच्चैरिति समुदायस्य तु नाव्ययत्वम्, स्वरादिगणे उच्चैश्शब्दस्य केवलस्य पाठात् । ननु स्वारादिगणे केवलोच्चैश्शब्दस्य पाठेऽपि तदन्तविधिना 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' इति अत्युच्चैश्शब्दस्याऽपि अव्ययसंज्ञा कुतो नेति चेन्न, 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायस्य जागरूकत्वात् ।

सदृशं (ई० ६४)—त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु विभक्तिषु, च सर्वेषु वचनेषु, च यत् न व्येति=विकारं न प्राप्नोति, किन्तु सदृशम्=एकप्रकारकम्, एव भवति, तद् 'अव्ययम्' इत्यर्थः । (विशेषः परिशिष्टे द्रष्टव्यः)

लिए । पिबध्यै—पीने के लिए । कृत्वा—करके । उदेतोः—उदय होकर । विसृपः—फैलकर । अधिहरि—हरिमें । तत्र शालायाम्—उस घरमें ।

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥'

वगाहः—अवगाहः । पिधानम्—अपिधानम् ।

इत्यव्ययप्रकरणम् ।

अथ स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्

४५४ । स्त्रियाम् ४।१।३। अधिकारोऽयम् समर्थानामिति यावत् । ४५५ । अजाद्यतष्टाप् ४।१।४। अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत्स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्यात् । अजाद्युक्तिर्ङीषो ङीपश्च बोधनाय । अजा । अतः खट्वा । अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणान्नेह—पञ्चाजी अत्र समासार्थसमाहारनिष्ठं

पिधानम् = 'पिधानम्' इत्यव्ययपदम् । अत्र 'भागुरि' नामकाचार्यमते अपीत्युपसर्गस्याऽकारस्य लोपे 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुलोपे च कृते 'पिधानम्' इति सिद्धं भवति । यदाह मूले—'वष्टि भागुरिति ।

इत्यव्ययप्रकरणं समाप्तम् ।

अजादिभिः स्त्रीत्वस्येति—'प्रत्ययः' 'परश्च' इति निर्देशेन प्रत्ययविधौ पञ्चम्या युक्तत्वेन 'अजाद्यतष्टाप्' इति सूत्रेऽजाद्यतः इति पदस्य पञ्चम्यन्तत्वे 'प्रातिपदिकात्' इत्यधिकारात् प्रातिपदिकादित्यस्य पञ्चम्यन्तत्वेन 'अजाद्यतः' इत्यस्य च पञ्चम्यन्तत्वेन द्वयोरेकविभक्तित्वेन विशेष्यविशेषणभावसत्वात् 'येन विधिस्तदन्तस्य' इति सूत्रेण तदन्तविधौ, अजाद्यदन्तात् प्रातिपदिकात् टाप् स्यात् स्त्रीत्वे द्योत्ये इत्यर्थेन पञ्चाजीत्यत्रापि टाबापत्तिः । 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' इति तदन्तविधिनिषेधस्तु न शक्यः । 'अमहत्पूर्वाग्रहणेन' अनुपर्जनाधिकारेण च स्त्रीप्रत्यये तदन्तविधिज्ञापकात् ।

इत्थञ्चोक्तदोषवारणाय 'अजाद्यतः' इति पदं सूत्रे षष्ठ्यन्तमेव, तथा सति प्रातिपदिकादित्यस्य पञ्चम्यन्तत्वेन अजाद्यत इत्यस्य च षष्ठ्यन्तत्वेन द्वयोर्विशेषणविशेष्यभावाभावेन तदन्तविध्यभावात्, अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत्स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये प्रातिपदिकाट्टाप् स्यादित्यर्थे पञ्चाजीति समासपदे पञ्चाजशब्दसमुदायवाच्यं स्त्रीत्वं वर्तते, न तु अजमात्रशब्दवाच्यं स्त्रीत्वमिति नास्ति काचिदनुपपत्तिरिति भावः ।

स्त्रीत्वम् । अजा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । एषु जातिलक्षणो ङीप् प्राप्तः । बाला । वत्सा । होडा । मन्दा । विलाता । एषु 'वयसि प्रथमे' (सू ४७९) इति ङीप् प्राप्तः । ७१ सम्भस्त्राऽजिनशणपिण्डेभ्यः फलात्* । सम्फला । भस्त्रफला । 'ङ्यापोः—' (सू १००३) इति ह्रस्वः । सदच्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात्* । सत्पुष्पा । प्राक्पुष्पा । प्रत्यक्पुष्पा । ७२ शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः* । पुंयोगे तु शूद्री । 'अमहत्पूर्वा' किम् ? महाशूद्री । क्रुञ्चा । उष्णिहा । देवविशा । ज्येष्ठा । कनिष्ठा । 'मध्यमेति पुंयोगेऽपि' (ग) । 'कोकिला जातावपि' (ग) । ७४ मूलान्नञः* अमूला । 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (३०६) कर्त्री । दण्डिनी । ४५६ । उगितश्च ४।१।६। उगिदन्तात्प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीप् स्यात् । भवन्ती । पचन्ती । दीव्यन्ती ।

पञ्चाजी (ई. ६४, ६८, ७०)—पञ्चानामजानां समाहारः इति विग्रहे 'तद्धितार्थ—' इति द्विगुसमासे सुब्लुकि 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इति स्त्रीत्वे 'द्विगोः' इति ङीपि 'यस्येति च' इत्यकारलोपे विभक्तिकार्ये 'पञ्चाजी' इति । अत्र समासार्थभूतो यः समाहारः तन्निष्ठं स्त्रीत्वं पञ्चाजेति समुदाये सत्त्वेन 'अजाद्यतष्टाप्' इत्यत्र 'अजाद्यतः' इति षष्ठीमाश्रित्य अजादीनाम् अदन्तस्य च वाच्ये स्त्रीत्वे टाप्—इत्येवम् अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणादत्र न टाप् ।

शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः (ई. ७२)—अत्र 'शूद्रा च' इत्येको योगः, 'अमहत्पूर्वा जातिः' इत्यपरो योगः । पूर्वयोगे 'जातिः' इत्यपकृष्यते । ततश्च 'शूद्रशब्दः टापं लभते जातिश्चेद् वाच्या' इत्येकोऽर्थः । 'महत्पूर्वः शूद्रशब्दः टापं न लभते जातिश्चेद् वाच्या' इत्यपरोऽर्थः । इत्थं च शूद्रत्वजातिविशिष्टेति विग्रहे शूद्रशब्दात् टापि दीर्घे स्वादि कार्ये 'शूद्रा' इति सिद्ध्यति । 'महाशूद्री' इत्यत्र तु महत्पूर्वकत्वेन टापोऽभावात् 'पुंयोग' इति ङीष् भवति ।

पुंयोगे तु (ई. ७३)—शूद्रशब्दस्य स्त्रियां—'शूद्रा, शूद्री' इति रूपद्वयम् । शूद्रजातिश्चेद्वाच्या तदा 'शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः' इति वार्तिकेन जातिलक्षणं ङीपं बाधित्वा टापि शूद्रेति रूपम् । शूद्रस्य स्त्री इत्येवं पुंयोगात् स्त्रियां व्यक्तौ वाच्यायां तु 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीषि शूद्रीति रूपम् ।

'शप्श्यनोः—' (सू ४७७) इति नुम्। 'उगिदचाम्–' (सू ३६१) इति सूत्रेऽज्ग्रहणेन 'धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्ह्यञ्चतेरेव' इति नियम्यते। तेनेह न—उखास्रत्। क्विप्, 'अनिदिताम्–' (सू ४१६) इति नलोपः। पर्णध्वत्। अञ्चतेस्तु स्यादेव। प्राची। प्रतीची। ४५७। **वनो र च** ४।१।७। वन्नन्तात्तदन्ताच्च प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीप्स्यात्, रश्चान्तादेशः। वन्निति ङ्वनिप्क्वनिप्वनिपां सामान्यग्रहणम्। **'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्'** (प २४)। तेन प्रातिपदिकविशेषणात्तदन्तान्तमपि लभ्यते। सुत्वानमतिक्रान्ता अतिसुत्वरी। अतिधीवरी शर्वरी। ७५ **वनो न हश इति**

उगिदचामिति—अयम्भावः, उखापूर्वकस्रंसुधातुरुगित्, तस्मात् क्विपि 'अनिदिताम्' इति नलोपे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सुप्रत्यये हल्ङ्यादिलोपे सकारस्य पदान्तत्वात् 'वसुस्रंसु' इति सूत्रेण दत्वे चर्त्वे च कृते उखास्रदिति। न चात्र उगित्त्वात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'उगितश्च' इति ङीबापत्तिरिति वाच्यम्। 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' इति सूत्रे अञ्चुधातोरुगित्त्वेन नुमि सिद्धे अञ्चुग्रहणेन 'सिद्धे सति आरम्यमाणो विधिर्नियमाय भवति' इति नियमात् धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्ह्यञ्चतेरेवेति नियमात् अञ्चुधात्वतिरिक्तधातूनामुगित्कार्याभावज्ञापनेन स्रंसुधातावपि तदप्रवृत्तेरिति दिक्।

प्राची (ई. ६२)—'उगिदचाम्–' इति सूत्रस्य अज्ग्रहणेन 'धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्हि अञ्चतेरेवेति नियमस्य जागरूकत्वेऽपि 'उगितश्चे'ति ङीप्।

अतिसुत्वरी (ई. ६३)—सुत्वानमतिक्रान्तेति विग्रहे क्वनिपि 'वनो र च' इति सूत्रे क्वनपो ग्रहणेन तेन सूत्रेण ङीपि रान्तादेशे च कृते 'यस्येति च' इत्यलोपे विभक्तिकार्ये उक्तप्रयोगसिद्धिः।

अयम्भावः—'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च ग्रहणम्' इति परिभाषया प्रत्ययान्ततदादिरूपार्थस्य लाभो भवति, ततश्च प्रत्यययान्ततदादिविशेषणं, प्रातिपदिकञ्च विशेष्यमिति 'येन विधिस्तदन्तस्य' इति सूत्रेण पुनस्तदन्तविधौ प्रत्ययान्ततदाद्यन्तरूपं यत्प्रातिपदिकमित्यर्थस्य लाभः।

इत्थञ्च 'वनो र च' इति सूत्रस्य वन्नन्तात्प्रातिपदिकात् ङीप्, रश्चान्तादेश इत्यर्थो भवति। प्रत्ययान्ततदादि सुत्वन्निति तदन्तप्रातिपदिकम् अतिसुत्वन् इति। ततश्चोक्तप्रयोगे ङीप् रान्तादेशश्च सिद्धः।

अतिधीवरी (ई. ७०, ७१)—धीवानमतिक्रान्ता—अतिधीवरी। 'अन्ये-

वक्तव्यम्* । हशन्ताद्धातोर्विहितो यो वन् तदन्ताददन्ताच्च प्रातिपदिकान्ङीप् रश्च नेत्यर्थः । 'ओणृ अपनयने' । वनिप् 'विड्वनोः–' (सू २९८२) इत्यात्वम् । अवावा ब्राह्मणी । राजयुध्वा । ७९ बहुव्रीहौ वा* । बहुधीवरी–बहुधीवा । पक्षे डाब्वक्ष्यते । ४५८ । पादोऽन्यतरस्याम् ४।१।८। पाच्छब्दः कृतसमासान्तस्तदन्तात्प्रातिपदिकान्ङीब्वा स्यात् । द्विपदी–द्विपाद् । ४५९ । टाबृचि ४।१।९। ऋचि वाच्यायां पादन्ताट्टाप् स्यात् । द्विपदा ऋक् । एकपदा । 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' (सू ३०८) पञ्च । चतस्रः । 'पञ्च' इत्यत्र

भ्योऽपि दृश्यते' इति क्वनिप् प्रत्यये 'घुमास्थे'तीत्वे 'वनो र च' इति वन्नन्तात् अतिधीवन्शब्दात् स्त्रियां ङीपि रश्चान्तादेशे 'यस्येति च' इत्यलोपे विभक्तिकार्ये 'अतिधीवरी' इति ।

अवावा (ई. ६४)—ओण्धातोः वनिपि 'विड्वनो'रित्यात्वे अवादेशे ओण् इति धातोर्हसान्ताद्वन्विहितत्वेन 'वनो न हश इति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन 'वनोर च' इति प्राप्तङीब्रत्वयोः प्रतिषेधात् राजवद्रूपं बोध्यम् ।

बहुधीवरी (ई. ६९, ७०, ७३, ७४)—बहवो धीवानः यस्याः इति विग्रहे 'बहुव्रीहौ वा' इति वार्तिकेन ङीपि रश्चान्तादेशे भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूप सिद्धम् । ङीप् रत्वाभावपक्षे 'डाबुभाभ्याम्–' इति ङीपि 'बहुधीवा' इति । रमावत् ।

बहुधीवा (ई. ५८, ५९, ७०)—'वनो र च' इति ङीप्रत्वाऽभावपक्षे रूपमिदम् । अत्र पक्षे 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्' इति डापि 'बहुधीवन् आ' इति स्थिते टिलोपे बहुधीवाशब्दात् सोर्हल्ङ्यादिलोपे 'बहुधीवा' इति । ङीप्रत्वयोः डापश्चाभावे 'अनो बहुव्रीहेः' इति ङीप्निषेधात् राजवद् रूपं बोध्यम् ।

द्विपदी (ई. ७३)—द्वौ पादौ यस्याः इति विग्रहे समासे 'संख्यासुपूर्वस्य' इत्यनेन पादशब्दान्तस्याकारस्य लोपे 'पादोऽन्यतरस्याम्' इति ङीपि भत्वात् 'पादः पत्' इति पदादेशे 'द्विपदी' इति । ङीवभावपक्षे 'द्विपात्' इति ।

पञ्च–(ई० ५७, ६८)–पञ्चन्शब्दात् जसि, शसि वा 'ष्णान्ताः षट्' इति षट्संज्ञायां 'षड्भ्यो लुक्' इति लुकि 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे पञ्चेति । नचात्र कार्यकालपक्षे प्रतिकार्यं संज्ञाप्रवृत्तेरिति सिद्धान्तिततया जस्शस्लुगर्थं प्रवृत्तया षट्संज्ञया अन्यकार्यसाधनासम्भवेन नलोपोत्तरं 'पञ्च' इत्यत्र षट्संज्ञाया अप्राप्त्या 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' इत्यस्याप्रवृत्तेरदन्त-

नलोपे कृतेऽपि 'ष्णान्ता षट्' (सू ३६९) इति षट्संज्ञां प्रति 'नलोपः सुप्स्वर–' (सू ३५३) इति नलोपस्यासिद्धत्वात् 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' (सू ३०८) इति न टाप्। ४६०। मनः ४।१।११। मन्नन्तान्न ङीप्। सीमा। सीमानौ। ४६१। अनो बहुव्रीहेः ४।१।१२। अन्नन्ताद्बहुव्रीहेर्न ङीप्। बहुजज्वा। बहुयज्वानौ। ४६२। डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् ४।१।१३। सूत्रद्वयोपात्ताभ्यां डाब्वा स्यात्। सीमा। सीमे–सीमानौ। दामा। दामे–दामानौ। 'न पुंसि दाम' इत्यमरः। बहुयज्वा। बहुयज्वे–बहुयज्वानौ। ४६३। अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् ४।१।२८। अन्नताद्बहुव्रीहेरुपधालोपिनो वा ङीप्स्यात्। पक्षे डाब्निषेधौ बहुराज्ञी। बहुराज्ञ्यौ—बहुराजे—बहुराजानौ। ४६४। प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ७।३।४४। प्रत्ययस्थात्ककारात्पूर्वस्याकारस्येकारः स्यादापि परे, स आप्सुपः परो न चेत्। सर्विका। कारिका। 'अतः' किम्? नौका। 'प्रत्ययस्थात्' किम्? शक्नोतीति शका। 'असुपः' किम्? बहुपरिव्राजका नगरी। 'कात्' किम्? नन्दना। 'पूर्वस्य' किम्? परस्य मा भूत्, कटुका।

त्वादजाद्यतष्टाप्, इति टाप् स्यादिति वाच्यम्? नलोपे कृतेऽपि नलोपस्य 'सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति' इति नियमेन षट्संज्ञाद्दृष्ट्या असिद्धत्वेन नान्तवुद्ध्या तत्संज्ञाप्रवृत्तौ 'न षट्' इति निषेधेन टापोऽभावात्। 'चतसृ+जस् इत्यत्र ऋदन्तलक्षणङीप् तु न' स्वस्रादिषु चतसृशब्दस्य पाठात्।

बहुराज्ञी (ई. ५८, ६०, ६२)—बहवः राजानः यस्याः इति विग्रहे बहुराजन्–शब्दात् 'अनो बहुव्रीहेः' इति प्राप्तं ङीब्निषेधं प्रबाध्य 'डाबुभाभ्याम्—इति डापि प्राप्ते तमपि प्रबाध्य 'अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्' इति ङीपि विभक्त्यादिकार्ये 'बहुराज्ञी' इति। ङीबभावपक्षे 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्' इति डापि विभक्त्यादिकार्ये 'बहुराजा' इति। 'अनो बहुव्रीहेः' इति ङीब्निषेधपक्षे तु 'बहुराजा' इति राजन्–शब्दवद् बोध्यम्।

पूर्वस्य किम् (ई. ६२, ६७, ६८)—अयम्भावः, 'प्रत्ययस्थात्कात्' इति सूत्रे पूर्वस्येत्यस्याभावे 'तस्मादित्युत्तरस्य' इति परिभाषया अव्यवहितपरस्येत्यंशस्योपस्थितौ प्रत्ययस्थककाराव्यवहितपरस्याकारस्येत्वं स्यादित्यर्थे कटुकेत्यत्रेत्वापत्तिः। कटुक आ इति दशायाम् 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घस्तु न शंक्यः, 'वार्णादाङ्गं बलीयः' इति परिभाषया सूत्रस्यापवादत्वाच्च सवर्णदीर्घाप्रवृत्तेः।

'तपरः' किम् ? राका । 'आपि' किम् ? कारकः । ७७ मामकनरकयोरुपसङ्ख्यानम् * । मामिका । नरान्कायतीति नरिका । ७८ त्यक्त्यपोश्च * । दाक्षिणात्यिका । इहत्यिका । ४६५ । न यासयोः ७।३।४५। यत्तदोरस्येन्न स्यात् । यका । सका । यकाम् । तकाम् । ७९ त्यकनश्च निषेधः * । अधित्यका । उपत्यका । ८० आशिषि वुनश्च न * । जीवका । भवका । ८१ उत्तरपदलोपे न * । देवदत्तिका—देवका । ८२ क्षिपकादीनां च * । क्षिपका । ध्रुवका । कन्यका । चटका । ८३ तारका ज्योतिषि * । अन्यत्र तारिका । ८४ वर्णका तान्तवे * । अन्यत्र वर्णिका । ८५ वर्तका शकुनौ प्राचाम् * । उदीचां तु वर्तिका । ८६ अष्टका पितृदेवत्ये * । अष्टिका अन्या । ८७ सूतकापुत्रिकावृन्दारकाणां वेति वक्तव्यम् * । इह वा इति च्छेदः । कात्पूर्वस्याकारादेशो वेत्यर्थः । तेन पुत्रिकाशब्दे ङीन ईवर्णस्य पक्षेऽकारः । अन्यत्रेत्त्वबाधनार्थमकारस्यैव पक्षेऽकारः । सूतका-सूतिका । इत्यादि । ४६६ । उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः ७।३।४६। यकपूर्वस्य स्त्रीप्रत्ययाकारस्य स्थाने योऽकारस्तस्य कात्पूर्वस्येद्वा स्यादापि परे । 'केऽणः' (सू ८३५) इति ह्रस्वः, आर्यका—आर्यिका । चटकका—चटकिका । 'आतः' किम् ? साङ्काश्ये भवा साङ्काश्यिका । 'यक' इति किम् ? अश्विका । 'स्त्रीप्रत्यय—' इति किम् ? शुभं यातीति शुभंयाः

कृते तु पूर्वग्रहणे तत्सामर्थ्यात्परिभाषायाः पूर्वम् अप्रवृत्तौ पूर्वस्याकारस्येत्यादिसूत्रार्थो भवति, ततश्च नास्ति दोषः ।

दाक्षिणात्यिका (ई. ७२)—दक्षिणस्यां दिशि भवः इत्यर्थे 'दक्षिणापश्चात् पुरसस्त्यक्' इति त्यकि कित्त्वादादिवृद्धौ 'दाक्षिणात्य' इति, तस्मात् टापि 'दाक्षिणात्या' इति । तस्मात् दाक्षिणात्याशब्दात् स्वार्थे कः 'केऽणः' इति टापो ह्रस्वे पुनष्टापि 'त्यक्त्यपोश्च' इति इत्त्वे सोर्हल्ङ्यादिलोपे रूपं सिद्धम् ।

अधित्यका (ई. ७३)—'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन् प्रत्ययान्तात् अधित्यकशब्दात् टापि सोर्हल्ङ्यादिलोपे उक्तं रूपं सिद्धम् । 'प्रत्ययस्थात्—' इति इत्त्वं तु न 'त्यकनश्च निषेधः' इति निषेधात् ।

आर्यिका (ई. ६६, ७०)—आर्यशब्दात् स्वार्थिके कप्रत्यये 'केऽणः' इति यकारादाकारस्य ह्रस्वे स्त्रीत्वाट्टापि दीर्घे आर्यका इति, तस्मात् सौ तस्य हल्ङ्यादिलोपे 'उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः' इति यकारादकारस्य आकारस्थानिकत्वात् पाक्षिके, इत्त्वे आर्यिका इति । पक्षे 'आर्यका' इति ।

अज्ञाता शुभंयाः शुभंयिका । ८८ धात्वन्तयकोस्तु नित्यम् * । सुनयिका । सुपाकिका । ४६७ । भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वानञ्पूर्वाणामपि ७।३।४७। स्वेत्यन्तं लुप्तषष्ठीकं पदम् । एषामत इद्वा स्यात् । तदन्तविधिनैव सिद्धे नञ्पूर्वाणामपीति स्पष्टार्थम् । भस्त्राग्रहणमुपसर्जनार्थम् । अन्यस्य तूत्तरसूत्रेण सिद्धम् । 'एषा' 'द्वा' एतयोस्तु सपूर्वयोर्नेत्वम्, अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य 'असुपः'

शुभंयिका—शुभं यातीति शुभंया, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति विच् । तस्मात् शुभंयाशब्दात् स्वार्थे कः 'केऽणः' इति ह्रस्वे टापि 'प्रत्ययस्थात्—' इति इत्वे सोर्हल्ङ्यादिलोपे उक्तं रूपं सिद्धम् । 'उदीचामातः स्थाने—' इति सूत्रार्थे स्त्रीप्रत्यय इत्यनुवृत्तौ तु अत्रापि इत्वविकल्पापत्तेः ।

भस्त्रैषाजाज्ञेति—अत्र सूत्रे 'आतः स्थाने' इत्यनुवृत्तस्य स्वशब्दस्यैव विशेषणमिति संज्ञोपसर्जनाभ्यामन्यत्र आत्मीयायाम् अकचि आतः स्थानिकत्वाऽभावात् 'स्विका' 'परमस्विका' इत्यत्र 'प्रत्ययस्थात्—' इति नित्यमेव इत्वं भवति । संज्ञोपसर्जनयोस्तु टापि अज्ञाते के 'केऽणः' इत्यनेन ह्रस्वे पुनष्टापि 'स्विका, स्वका, निःस्विका, निःस्वका, इत्यादौ विकल्पेनाऽनेन इत्वमिति ।

एषाद्वा एतयोस्तु—'भस्त्रेषाजाज्ञाद्वास्वानञ्पूर्वाणामपि' इति सूत्रस्य व्याख्यावसरे आह—'एषा द्वे'ति । अयम्भावः—यत्र भस्त्राशब्दोऽनुपसर्जनः तत्र 'अभाषितपुंस्काच्च' इति इत्वम् । उपसर्जने तु—'भस्त्रैषा' इत्यनेन इत्वम् । 'अनेषका' इत्यादौ इत्वं न सिद्धयति । तथा हि–'न सु' 'एतद् सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते' इति परिभाषया त्यदादित्वात् प्राक् सुपो लुकि ततस्त्यदादिसमासरूपप्रातिपदिकाट्टापि सुब्विशिष्टस्य समासत्वे जाते सति समासघटकसुप्पर एवायं टाप् इतीत्वमत्र न भवति, 'असुपः' इति प्रतिषेधात् । इह सूत्रे 'उदीचामातः स्थाने' इत्यस्मादातः स्थाने इत्यनुवर्तते । तच्च स्वशब्दाकारस्य विशेषणम् । द्वयेषयोस्तु सर्वनामत्वेन टेः प्रागकचि कृते ककारात् पूर्वं ह्रस्वाकारस्य विद्यमानत्वेन आतः स्थाने अकारस्याऽसम्भवात् । भस्त्रादीनां सर्वत्रैव आतः स्थानिन एव आकारस्य सम्भवेन व्यभिचाराऽभावात् । स्वशब्दस्तु यत्र आत्मीयरूपार्थस्य वाचकः, तत्रैव स्त्रीलिङ्गे वर्तते । एवं सति आकारस्थाने अकाराभावेन उदाहरणं न भवति । किन्तु यत्र उपसर्जनवाची स्यात्, तत्र सर्वनामत्वाभावेन कप्रत्यये कृते उदाहरणं सम्भवति । तथा च

इति प्रतिषेधात्। अनेषका। परमैषका। अद्वके। परमद्वके। स्वशब्दग्रहणं संज्ञोपसर्जनार्थम्। इह हि 'आतः स्थाने' इत्यनुवृत्तम् स्वशब्दस्यातो विशेषणम्, न तु द्वैपयोरसम्भवात्। नाप्यन्येषाम्, अव्यभिचारात्। स्वशब्दस्त्वनुपसर्जनमात्मीयवाची अकजर्हः। अर्थान्तरे तु न स्त्री। संज्ञोपसर्जनीभूतस्तु कप्रत्ययान्तत्वाद्भवत्युदाहरणम्। एवं चात्मीयायां 'स्विका' 'परमस्विका' इति नित्यमेवेत्वम्। निर्भस्त्रका-निर्भस्त्रिका। एषका-एषिका। कृतषत्वनिर्देशान्नेह विकल्पः-एतिके। एतिका। अजका-अजिका। ज्ञका-ज्ञिका। द्वके-द्विके। निःस्वका-निःस्विका। ४६८। **अभाषितपुंस्काच्च** ७।३।४८। एतस्माद्विहितस्य आतः स्थाने अत इद्वा स्यात्। गङ्गका—गङ्गिका। बहुव्रीहेर्भाषितपुंस्कत्वात्ततो विहित्स्य नित्यम्। अज्ञाता अखट्वा—अखट्विका। शैषिके कपि

स्वस्या निष्क्रान्ता इति विग्रहे उपसर्जनह्रस्वे टापि अज्ञाता निःस्वा 'निःस्विका' 'निःस्वका' इति रूपद्वयं सिद्धम्। आत्मीये स्विकेति नित्यमित्वमिति दिक्।

अद्वके (ई. ७०)—नञ्समासनिष्पन्नाद् अकच्त्रिशिष्टाद् अद्वकिशब्दात् त्यदाद्यत्वे पररूपे टापि औङः शीभावे 'आद्गुणः' इति गुणे 'अद्वके' इति। अत्र 'भस्त्रैषा' इति इत्वन्तु न, अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य 'असुपः' इति प्रतिषेधात्।

निर्भस्त्रिका-निर्भस्त्रका (ई. ६०, ६२)—भस्त्रायाः निष्क्रान्तेति विग्रहे 'निरादयः—' इति समासे 'गोस्त्रियोः—' इति ह्रस्वत्वे पुनष्टापि समासात् सौ कप्रत्यये 'केऽणः' इति ह्रस्वे निर्भस्त्रकशब्दात् पुनष्टापि सवर्णदीर्घे 'भस्त्रैषा—' इति विभाषया इत्वे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्। अत्र केन व्यवधानात् न सुपः परष्टाबिति।

गङ्गाका (ई. ५८, ५९,)—गङ्गाशब्दात् कप्रत्यये 'केऽणः' इति ह्रस्वे स्त्रीत्वविवक्षायां पुनष्टापि 'आदाचार्याणाम्' इत्यात्वे विभक्त्यादिकार्ये 'गङ्गाका' इति। पक्षे 'अभाषितपुंस्काच्च' इति विभाषया इत्वे विभक्तिकार्ये 'गङ्गिका' इति इत्वाभावे 'गङ्गका' इति।

अखट्विका (ई. ६८, ७०, ७१)—'न विद्यते खट्वा यस्याः' इत्यर्थे बहुव्रीहिसमासे सति 'शेषाद्विभाषा' इत्यस्य विकल्पपक्षे 'गोस्त्रियोः—' इति ह्रस्वे स्त्रीत्वविवक्षायां पुनष्टापि विभक्तिकार्ये 'अखट्वा' इति। तस्मात् अज्ञाता

तु विकल्प एव । ४६९ । आदाचार्याणाम् ७।३।४९ । पूर्वसूत्रविषये आद्वा स्यात् । गङ्गाका । उक्तपुंस्कात्तु शुभ्रिका । ४७० । अनुपजर्नात् ४।१।१४। अधिकारोऽयं 'यूनस्तिः' (सू ५३२) इत्यभिव्याप्य । अयमेव स्त्रीप्रत्ययेषु तदन्तविधिं ज्ञापयति ।

४७१ । टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः ४।१।२१५। अनुपसर्जनं यट्टिदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततः स्त्रियां ङीप् स्यात् । कुरुचरी । उपसर्जनत्वान्नेह—बहुकुरुचरा । नदट्—नदी । 'वक्ष्यमाणा' इत्यत्र टित्त्वादुगित्त्वाच्च ङीप्प्राप्तो यासुटो ङित्त्वेन 'लाश्रयमनुबन्धकार्यं नादेशा-

---

खट्वा इत्यर्थे कप्रत्यये 'केऽणः' इति ह्रस्वे पुनष्टापि बहुव्रीहेर्भाषितपुंस्कत्वात् ततो विहितस्यातः स्थानिकाकारस्य 'अभाषितपुंस्काच्च' इति विभाषया इत्वाप्राप्ते 'प्रत्ययस्थात्–' इति नित्येत्त्वे उक्तं रूपं सिद्धम् ।

शैषिके कपि तु विकल्प एव (ई. ५८)—अयम्भावः—न सु खट्वा सु इति स्थिते 'शेषाद्विभाषा' इति कपि सुब्लुकि प्रत्ययलक्षणेन भागद्वयस्य सुबन्तत्वात् समाससंज्ञायां 'समासान्ताः' इति शास्त्रबलेन कबन्तस्यैव समासत्वात् उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तसमासरूपप्रातिपदिकाभावात् 'गोस्त्रियोः' इति ह्रस्वत्वाभावेन 'केऽणः' इति प्राप्तह्रस्वस्य 'न कपि' इति निषेधेन 'आपोऽन्यतरस्याम्' इति ह्रस्वे कपः प्राग्वर्तिखट्वशब्दात्परस्य आपः अभाषितपुंस्काद्विहितत्वेन तत्स्थानिकाकारस्य 'अभाषितपुंस्काच्च' इति वैकल्पिकेत्त्वे विभक्तिकार्ये 'अखट्विका' 'अखट्वका' इति । ह्रस्वाभावे तु 'अखट्वाका' इति त्रिविधं रूपमत्र निर्बाधमिति दिक् ।

अनुपसर्जनात्-अधिकारोऽयमिति—अयम्भावः, 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' इति तदन्तविधिप्रतिषेधे 'टिड्ढाणञ्—' इत्यस्य टिद्रूपं यत्प्रातिपदिकमित्यर्थे अवयवेऽचरितार्था अनुबन्धा समुदायस्योपकारका भवन्तीति बलात् कुरुचरीति सिद्धौ, अनुपसर्जनाधिकारः किमर्थः, 'बहुकुरुचरा' इत्यत्र तु न दोषः, 'यं समुदायं यो न व्यभिचरति स तस्योपकारको भवति' इति स्वीकारादिति वाच्यम्, 'स्त्रीप्रत्यये समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' इत्यस्याप्रवृत्तिज्ञापनेन चारितार्थ्यात् ।

वक्ष्यमाणा (ई. ५७, ५९, ६८, ७०)—ननु 'न ल्यपि' इति सूत्रारम्भसामर्थ्येन अनुबन्धकार्ये कर्तव्येऽनल्विधाविति निषेधाभावेन स्थानिवत्त्वात्

नाम्' (प ७०) इति ज्ञापनान्न भवति, श्नः शानचः शित्त्वेन क्वचिदनुबन्ध-कार्येऽप्यनल्विधाविति निषेधज्ञापनाद्वा । सौपर्णेयी । ऐन्द्री । औत्सी । ऊरुद्वयसी । ऊरुदघ्नी । ऊरुमात्री । पञ्चतयी । आक्षिकी । लावणिकी । यादृशी । इत्वरी । 'ताच्छीलिके णेऽपि' (प ६८) चौरी । ८९ नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुण-तलुनानामुपसङ्ख्यानम् * । स्त्रैणी । पौंस्नी । शाक्तीकी । आढ्यङ्करणी । तरुणी । तलुनी । ४७२ । यञश्च ४।१।१६। यञन्तात्स्त्रियां ङीप्स्यात् । अकारलोपे कृते । ४७३ । हलस्तद्धितस्य ६।४।१५०। हलः परस्य तद्धित-यकारस्योपधाभूतस्य लोपः स्यादीति परे । गार्गी । अनपत्याधिकारस्थान्न ङीप् * । द्वीपे भवा द्वैप्या । अधिकारग्रहणान्नेह—देवस्यापत्यं दैव्या ।

टित्त्वधर्ममवलम्ब्य वक्ष्यमाणेत्यत्र ङीप् कथन्न स्यादिति चेत् न, याऽसुटो ङित्त्वेन लाश्रयमनुबन्धकार्यम् आदेशानां न भवतीति निषेधात् ।

न च 'पिच्च ङिन्न ङिच्च पिन्न' इति भाष्येण यासुटो ङित्त्वं तत्र सार्थक-मिति वाच्यम् । 'हलः श्नः शानज्झौ' इति सूत्रे शानचः शित्त्वेन क्वचिदनुबन्ध-कार्येऽपि 'अनल्विधौ' इति निषेधो भवतीति ज्ञापनात् । एवञ्चात्र स्थानिवद्भावो न भवतीति ङीपोऽप्रवृत्तिरिति भावः ।

पञ्चतयी (ई. ७२)—पञ्च अवयवाः यस्याः इति विग्रहे 'संख्याया अवयवे तयप्, इति तयपि 'टिड्ढाणञ्—' इति तयप्प्रत्ययान्तत्वात् ङीपि विभक्तिकार्ये 'पञ्चतयी' इति ।

इत्वरी (ई. ६३, ६५, ७२)—इण्धातोः 'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' इति क्वरपि 'ह्रस्वस्य—' इति तुकि 'इत्वर' इति । तस्माद् 'टिड्ढाणञ्—' इति ङीपि 'यस्येति च' इत्यकारलोपे विभक्तिकार्ये 'इत्वरी' इति ।

चौरी (ई. ५८)—चुरा शीलमस्या इति विग्रहे 'शीलं छत्रादिभ्यो णः' इति णप्रत्यये, वृद्धौ आकारलोपे 'ताच्छीलिके णेऽपि' इति वचनात् ङीपि चौरीति सिध्यति । उक्तवचने प्रमाणञ्च 'कार्मस्ताच्छील्ये' इति सूत्रम् । अन्यथा शीलार्थेऽण्प्रत्यये प्रकृतिभावविधायकस्य 'अन्' इति सूत्रस्याप्रवृत्तौ 'नस्तद्धिते' इति सूत्रेणैव टिलोपे सिद्धे टिलोपनिपातनार्थं 'कार्मस्ताच्छील्ये' इति सूत्रं व्यर्थमेवेति दिक् ।

द्वैप्या (ई. ५९)—'क्वरपोऽयनश्च' इति संहितापाठेन 'अपत्यग्रहणं कर्त-व्यम्' इति वार्तिकप्रत्याख्यानस्य फलैक्याय वार्तिके अपत्यपदम्—अपत्याधिकार-

'देवाद्यञञौ' (वा० २९५) इति हि यञ् प्राग्दीव्यतीयः, न त्वपत्याधिकारपठितः। ४७४। **प्राचां ष्फ तद्धितः** ४।१।१७। यञन्तात्ष्फो वा स्यात्स्त्रियाम्, स च तद्धितः। ४७५। **षः प्रत्ययस्य** १।३।६। प्रत्ययस्यादिः ष इत्स्यात्। ४७६। **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** ७।१।२। प्रत्ययादिभूतानां फादीनां क्रमादायन्नादय आदेशाः स्युः। तद्धितान्तत्वात्प्रातिपदिकत्वम्। षित्त्वसामर्थ्यात् ष्फेणोक्तेऽपि स्त्रीत्वे 'षिद्गौरा–' (सू ४९९) इति वक्ष्यमाणो ङीष्, गार्ग्यायणी। ४७७। **सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः** ४।१।१८ लोहितादिभ्यः कतशब्दान्तेभ्यो यञन्तेभ्यो नित्यं ष्फः स्यात्। लौहित्यायनी। कात्यायनी। ४७८। **कौरव्यमण्डूकाभ्यां च** ४।१।१९। आभ्यां ष्फः स्यात्। टाब्ङीषोरपवादः। 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' (सू ११७७) कौरव्यायणी। 'ढक् च मण्डूकात्' (सू ११२४) इत्यण्। माण्डूकायनी। ६१ **आसुरेरुपसङ्ख्यानम्** *। आसुरायणी। ४७९। **वयसि प्रथमे** ४।१।२०। प्रथमवयोवाचिनोऽ-

---

परम्, इत्यनुमीयते, तेन 'द्वीपे भवा द्वैप्या' इत्यत्र इव 'देवस्यापत्यं दैव्या' इत्यत्रापि 'यञश्च' इति ङीप् नेति। 'देवाद्यञञौ' इति हि यञ् प्राग्दीव्यतीयो न त्वपत्याधिकारपठित इति तत्त्वविदः।

गार्ग्यायणी (ई. ६४, ६६, ७१)—यञन्तात् गार्ग्यशब्दात् 'प्राचां ष्फस्तद्धिते' इति ष्फप्रत्यये 'षप्रत्ययस्य' इति षस्येत्संज्ञालोपयोः 'यस्येति च' इत्यलोपे 'आयनेयी'ति फस्यायन्नादेशे षित्त्वसामर्थ्यात् ष्फेणोक्तेऽपि स्त्रीत्वे 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायं बाधित्वा 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीषि णत्वे विभक्त्यादिकार्ये 'गार्ग्यायणी' इति। पक्षे 'यञश्च' इति ङीपि अकारलोपे 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपे विभक्तिकार्ये 'गार्गी' इति।

कात्यायनी (ई. ७३)—कतस्यापत्यं स्त्री कात्यायनी। गर्गादियञन्तात् कात्यशब्दात् 'सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः' इति नित्यं ष्फप्रत्यये षस्य इत्संज्ञायां लोपे च कृते फस्यायनि 'यस्येति च' इति यकारादकारस्य लोपे षित्वात् ङीषि विभक्तिकार्ये 'कात्यायनी' इति।

आसुरायणी (ई. ५९, ७०)—'प्राचां ष्फस्तद्धिते' इति सूत्रे तद्धितग्रहणात् क्वचिदन्योऽपि भवतीति ज्ञापनेन 'आसुरेरुपसंख्यानम्' इति सिद्धम्। तेन आसुरस्यापत्यं स्त्री इति विग्रहे आसुरशब्दात् ष्फप्रत्यये षस्येत्संज्ञायां लोपे च विहिते फस्यायन्नादेशे षित्वात् ङीषि णत्वे विभक्तिकार्ये आसुरायणी इति।

दन्तात्स्त्रियां ङीप्स्यात् । कुमारी । ९२ वयस्यचरम इति वाच्यम् * । वधूटी । चिरण्टी । वधूटचिरण्टशब्दौ यौवनवाचिनौ । 'अतः' किम् ? शिशुः । कन्याया न, 'कन्यायाः कनीन च' (सू ११२१) इति निर्देशात् । ४८० । द्विगोः ४।१।२१। अदन्ताद् द्विगोर्ङीप्स्यात् । त्रिलोकी अजादित्वात् त्रिफला । त्र्यनीका सेना । ४८१ । अपरिमाणविस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि ४।१।२२। अपरिमाणान्ताद्बिस्ताद्यन्ताच्च द्विगोर्ङीन्न स्यात्तद्धितलुकि सति । पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा । आर्हीयष्ठक् 'अध्यर्ध-' (सू १६९३) इति लुक् । द्वौ विस्तौ पचति द्विविस्ता । द्व्याचिता । द्विकम्बल्या । परिमाणान्तात्तु द्व्याढकी । 'तद्धितलुकि' किम् ? समाहारे पञ्चाश्वी । ४८२ । काण्डान्तात्क्षेत्रे ४।१।२३। क्षेत्रे यः काण्डान्तो द्विगुस्ततो न ङीप् तद्धितलुकि । द्वे काण्डे प्रमाणमस्या द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः । 'प्रमाणे द्वयसच्—' (सू १८३८) इति विहितस्य मात्रचः 'प्रमाणे लः' (वा ४५२) 'द्विगोर्नित्यम्' (वा ४५३) इति लुक् । 'क्षेत्रे' किम् ? द्विकाण्डी रज्जुः ।

४८३ । पुरुषात्प्रमाणेऽन्यतरस्याम् ४।१।२४। प्रमाणे यः पुरुषस्तदन्ताद् द्विगोर्ङीब्वा स्यात्तद्धितलुकि । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः सा द्विपुरुषी–द्विपुरुषा वा

त्रिलोकी (ई. ५९)—त्रयाणां लोकानां समाहारः इति विग्रहे समासनिष्पन्नात् त्रिलोकशब्दात् 'द्विगोः' इति ङीपि 'यस्येति च' इत्यलोपे विभक्तिकार्ये 'त्रिलोकी' इति ।

पञ्चाश्वा (ई. ५७)—पञ्चभिः अश्वैः क्रीतेति विग्रहे समासनिष्पन्नात् पञ्चाश्वशब्दात् 'द्विगोः' इति ङीपि प्राप्ते 'अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि' इति निषेधे टापि 'यस्येति च' इत्यलोपे विभक्तिकार्ये रूपं सिद्धम् ।

द्विकाण्डी (ई. ७०)—द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति समासे 'प्रमाणे द्वयसज्' इति विहितस्य मात्रचः 'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' इति लुकि 'द्विगोः' इति ङीपि द्विकाण्डीति, रज्जुरिति शेषः । 'काण्डान्तात् क्षेत्रे' इति ङीपो निषेधो न भवति, द्विकाण्डशब्दस्य क्षेत्रवृत्तित्वाऽभावात् । 'काण्डान्तात् क्षत्रे' इति सूत्रस्य 'क्षेत्रे' इत्यस्य प्रत्युदाहरण मे तत् । (षोडशहस्तप्रमाणो डण्डः काण्डमिति ।)

द्विपुरुषी (ई. ७२)—द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः इति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुसमासे 'प्रमाणे द्वयसज्–' इति विहितस्य मात्रचः 'प्रमाणे लो द्विगो-

परिखा। ४८४। ऊधसोऽनङ् ५।४।१३१। ऊधोऽन्तस्य बहुव्रीहेरनङादेशः स्यात्स्त्रियाम्। इत्यनङि कृते डाब्ङीब्निषेधेषु प्राप्तेषु। ४८५। बहुव्रीहेरूधसो ङीष ४।१।२५। ऊधोऽन्ताद्बहुव्रीहेर्ङीष् स्यात्स्त्रियाम्। कुण्डोध्नी। 'स्त्रियाम्' किम्? कुण्डोघ्नो धेनुकम्। इहानङपि न, तद्विधौ 'स्त्रियाम्' इत्युपसंख्यानात्। ४८६। संख्याऽव्ययादेर्ङीप् ४।१।२६। ङीपोऽपवादः। द्व्यूध्नी। अत्यूध्नी। बहुव्रीहेरित्येव, उधोऽतिक्रान्ता अत्यूधाः। ४८७। दामहायनान्ताच्च ४।१।२७। संख्यादेर्बहुव्रीहेर्दामान्ताद्धायनान्ताच्च ङीप्स्यात्। दामान्ते डाप्प्रतिषेधयोः प्राप्तयोर्हायनान्ते टापि प्राप्ते वचनम्। द्विदाम्नी। अव्ययग्रहणाननुवृत्तेः 'उद्दामा वडवा' इत्यत्र डाब्निषेधावपि पक्षे स्तः। द्विहायनी बाला। ९३ त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वं वाच्यम्*। ९४ वयोवाचकस्यैव हायनस्य ङीप णत्वं चेष्यते*। त्रिहायणी। चतुर्हायणी। वयसोऽन्यत्र-द्विहायना, चतुर्हायना शाला। ४८८। नित्यं संज्ञाछन्दसोः ४।१।२९। अन्नन्ताद्बहुव्रीहेरुपधालोपिनो ङीष्। सुराज्ञी नाम नगरी। अन्यत्र पूर्वेण विकल्प एव। वेदे तु शतमूर्ध्नी। ४८९। केवलमामकभागधेयपापाऽपरसमानार्यकृतसुमङ्गलभेषजाच्च ४।१।३०। एभ्यो नवभ्यो नित्यं ङीप्स्यात्संज्ञाछन्दसोः। 'अथो त इन्द्रः केवलीर्विशः'। मामकी। भागधेयी। पापी। अपरी। समानी आर्यकृती। सुमङ्गली। भेषजी। अन्यत्र 'केवला' इत्यादि। मामकग्रहणं नियमार्थम्,

---

नित्यम्' इति लुकि 'द्विपुरुष' इति। तस्मात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'पुरुषात् प्रमाणेऽन्यतरस्याम्' इति विभाषया ङीपि अलोपे विभक्तिकार्ये 'द्विपुरुषी' इति। पक्षे टापि 'द्विपुरुषे'ति।

अत्यूध्नी (ई. ७१, ७३)—अतिशयितमूधो यस्याः इति विग्रहे बहुव्रीहिसमासे सुब्लुगादिकार्ये यणि 'ऊधसोऽनङ्' इत्यनङि 'संख्याऽव्ययादेर्ङीप' इति ङीपि भत्वादल्लोपे प्रातिपदिकादिकार्ये 'अत्यूध्नी' इति। 'संख्याव्ययादेरि'त्यत्र बहुव्रीहेरित्यनुवर्तनात् ऊधोऽतिक्रान्तेति विग्रहे 'अत्यादयः' इति समासे तु अबहुव्रीहित्वात्—'अत्यूधाः' इत्येव स्यात्।

भेषजी (ई. ५८)—भिषज इयमित्यर्थेऽणि आदिवृद्धिं प्रबाध्य 'केवल' इति सूत्रे 'भेषज' इत्युपादानादेव निपातनादेकारादेशे 'केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्यकृतसुमङ्गलभेषजाच्च' इति ङीपि यस्येति चेत्यलोपे स्वादिकार्ये। 'भेषजी' इति। संज्ञाछन्दसोरिति नियमादन्यत्र 'भेषजा' इति।

अणन्तत्वादेव सिद्धेः । तेन लोकेऽसंज्ञायां—मामिका । ४६० । अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् ४।१।३२। एतयोः स्त्रियां नुक्स्यात् । 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (सू ३०६) । गर्भिण्यां जीवद्भर्तृकायां च प्रकृतिभागौ निपात्येते । तत्र अन्तः अस्त्यस्यां गर्भः इति विग्रहे अन्तश्शब्दस्याधिकरणशक्तिप्रधानतयाऽस्तिसामानाधिकरण्याभावादप्राप्तो मतुब्निपात्यते । 'पतिवत्नी' इत्यत्र तु वत्वं निपात्यते । अन्तर्वत्नी । पतिवत्नी । प्रत्युदाहरणं तु अन्तरस्त्यस्यां शालायां घटः । पतिमती पृथिवी । ४६१ । पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ४।१।३३। पतिशब्दस्य नकारादेशः स्याद्यज्ञेन सम्बन्धे । वसिष्ठस्य पत्नी तत्कर्तृकस्य यज्ञस्य फलभोक्त्रीत्यर्थः, दम्पत्योः सहाधिकारात् । ४६२ । विभाषा सपूर्वस्य ४।१।३४। पतिशब्दान्तस्य सपूर्वस्य प्रातिपदिकस्य नो वा स्यात् । गृहस्य पतिः गृहपतिः-गृहपत्नी । 'अनुपसर्जनस्य' इतीहोत्तरार्थमनुवृत्तमपि न पत्युर्विशेषणं, किं तु तदन्तस्य । तेन बहुव्रीहावपि, दृढपत्नी-दृढपतिः । वृषलपत्नी-वृषलपतिः । अथ 'वृषलस्य पत्नी' इति व्यस्ते कथमिति चेद् ? पत्नीव पत्नीत्युपचारात् । यद्वा, आचारक्विबन्तात्कर्तरि क्विप् ।

मामक इति (ई. ५६)—मामकशब्दस्य स्त्रीलिङ्गे टापि विभक्तिकार्ये 'मामका' इत्येव भवति । तथा हि—ममेयमित्यर्थे 'तस्येदम्' इत्यणि 'तवकममके'ति ममकादेशे आदिवृद्धौ अणन्तत्वात् 'टिड्ढाणञ्–' इति ङीपि सिद्धे 'केवलमामक–' इति सूत्रे मामकग्रहणं व्यर्थं सत् नियमयति—'अणन्तान्मामकशब्दाद्यदि ङीप् स्यात्तर्हि संज्ञाछन्दसोरेवे'ति तेन लोकेऽसंज्ञायां च 'मामके'ति ।

अन्तर्वत्नी (ई. ६३) अन्तर्वत्—शब्दस्य स्त्रियाम् 'अन्तर्वत्नी इति । तथाहि—अन्तरस्त्यस्यां गर्भं इति विग्रहे अन्तःशब्दस्याधिकरणशक्तिप्रधानतया अस्ति सामानाधिकरण्याभावात् 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इति निपातनात् मतुपि 'अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्' इति नुकि 'मादुपधायाश्च' इति मस्य वत्वे 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीपि विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् ।

दृढपत्नी (ई. ६८)—'विभाषा सपूर्वस्य' इति सूत्रे उत्तरत्रानुवृत्तयेऽनुवृत्तस्य 'अनुपसर्जनात्' इत्यस्य श्रुतत्वेन सपूर्वस्य पत्यन्तस्येति विशेषणात् दृढा पतिर्यस्येति बहुव्रीहावपि नुकि 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीपि अलोपे विभक्त्यादिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् ।

वृषलपत्नी (ई. ५६)—वृषलस्य पतिः स्त्री इति विग्रहः । वृषलस्य यज्ञे अधिकाराभावेन 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इत्यस्याप्रवृत्तौ 'विभाषा सपूर्वस्य'

अस्मिंश्च पक्षे 'पत्नियौ' 'पत्नियः' इतीयङ्विषये विशेषः। 'सपूर्वस्य' किम्? गवां पतिः स्त्री। ४६३। नित्यं सपत्न्यादिषु ४।१।३५। पूर्वविकल्पापवादः। समानस्य सभावोऽपि निपात्यते। समानः पतिर्यस्याः सा सपत्नी। एकपत्नी। वीरपत्नी। ४६४। पूतक्रतोरै च ४।१।३६। 'इयं त्रिसूत्री पुंयोग एवेष्यते' पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी। 'यया तु क्रतवः पूताः स्यात्पूतक्रतुरेव सा' ४६५। वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः ४।१।३७। एषामुदात्त ऐ आदेशः स्यान्ङीप् च। वृषाकपेः स्त्री वृषाकपायी। 'हरविष्णू वृषाकपी' इत्यमरः। 'वृषाकपायी श्रीगौर्योः' इति च। अग्नायी। कुसितायी। कुसिदायी। कुसिदशब्दो ह्रस्वमध्यो न तु दीर्घमध्यः। ४६६। मनो रौ वा ४।१।३८। मनुशब्दस्यौकारादेशः स्यादुदात्तैकारश्च वा, ताभ्यां सन्नियोगशिष्टो ङीप्च। मनोः स्त्री मनावी—मनायी—मनुः। ४६७। वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः ४।१।३९। वर्णवाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्तादनुपसर्जनात्प्रातिपदिकाद्वा ङीप्स्यात्, तकारस्य नकारादेशश्च। एनी—एता। रोहिणी—

इत्यनेनात्र नुकि 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीपि 'यस्येति च'ति अलोपे विभक्तिकार्ये 'वृषलपत्नी' इति। पक्षे 'वृषलपतिः' इति। (एवम् इयं स्त्री राष्ट्रपतिः, राष्ट्रपत्नी वा, इत्यपि भवति)

वृषलस्य पत्नीति व्यस्ते—अयम्भावः वृषलस्य यज्ञेऽधिकाराभावेन 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इति सूत्राप्रवृत्तिः। समासाभावेन विद्यमानपूर्वत्वात् 'विभाषा सपूर्वस्य' इ[illegible]स्यात्र [illegible]वृत्तिरिति न शङ्कनीयम्, पत्नीव पत्नीति समाधानात्। यथा पाणिगृहीती भार्यायां यज्ञाधिकारस्तथैव लक्षणया अस्या अपि यज्ञाधिकारः कल्पनीय इति 'पत्युर्नो यज्ञ' इति सूत्रेण सिद्धिः।

पूतक्रतायी (ई. ७२)—पूतः क्रतुः येन सः पूतक्रतुः, तस्य स्त्रीत्यर्थे 'पूतक्रतोरै च' इति ङीपि तकारादुकारस्यैकारे तस्य आयादेशे भत्वाद् अलोपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्।

अग्नायी (ई. ७०)—अग्निशब्दात् 'वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः' इति उदात्तैयादेशे ङीपि च कृते आयादेशे भत्वात् अलोपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्।

रोहिणी (ई. ६३, ६५)—रक्तवर्णपर्यायात् रोहितशब्दात् 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति ङीपि तकारस्य नत्वे च कृते णत्वे 'यस्येति च' इत्यलोपे प्रातिपदिकात् सौ सुलोपे उक्तं रूपं सिद्धम्।

रोहिता । 'वर्णानां तणतिनितान्तानाम्' (फि ३३) इति फिट्सूत्रेणाद्युदात्तः 'त्र्येण्या च शलल्या' इति गृह्यसूत्रम् । त्रीणि एतानि अस्या इति बहुव्रीहिः । 'अनुदात्तात्' किम् ? श्वेता । 'घृतादीनां च' (फि २१) इत्यन्तोदात्तोऽयम् । अत इत्येव । शितीः स्त्री । १५ पिशङ्गादुपसंख्यानम्* । पिशङ्गी-पिशङ्गा । ९६ असितपलितयोर्न* । असिता । पलिता । ९७ छन्दसि क्नमेके* । असिक्नी । पलिक्नी । अवदातशब्दस्तु न वर्णवाची, किं तु विशुद्धवाची । तेन 'अवदाता' इत्येव । ४९८ । अन्यतो ङीष् ४।१।४०। तोपधभिन्नाद्वर्णवाचिनोऽनुदात्तान्तात्प्रातिपदिकात्स्त्रियां ङीष्स्यात् । कल्माषी । सारङ्गी । 'लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः' (फि ४२) इति मध्योदात्तावेतौ । 'अनुदात्तान्तात्' किम् ? कृष्णा । कपिला । ४९९ । षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१। षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च ङीष् स्यात् । नर्तकी । गौरी । ९८ आमनडुहः स्त्रियां वा* । अनडुही-अनड्वाही । 'पिप्पल्यादयश्च' (ग) आकृतिगणोऽयम् । ५०० । सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः ६।४।१४९। अङ्गस्योपधाया यस्य लोपः स्यात्स चेद्यः सूर्याद्यवयवः । ९९ मत्स्यस्य ङ्याम् * । १०० सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च* । १०१ तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम् * । मत्सी । 'मातरि षिच्च' (वा ३२८) इति षित्त्वादेव सिद्धे गौरादिषु मातामहीशब्दपाठादनित्यः षितां ङीष्, दंष्ट्रा ।

'त्र्येण्या च शलल्या' इति गृह्यसूत्रम्—अयम्भावः—'वर्णादनुदात्तात्—' इति सूत्रे 'अनुपसर्जनात्' इत्यस्य गृह्यमाण (श्रुतवर्ण) विशेषणत्वमेव युक्तम्, ननु तदन्तविधिलभ्यवर्णान्तविशेषणत्वमिति चेन्न, 'त्र्येण्या च शलल्या' इति गृह्यसूत्रस्याऽसङ्गत्यापत्तेः, तथा हि—अनुपसर्जनादित्यस्य गृह्यमाणविशेषणत्वे सति त्रीणि एतानि अस्याः इति बहुव्रीहिनिष्पन्न 'त्र्येत' शब्दघटक 'एत' शब्दस्य वर्णवाचिनः उपसर्जनत्वात् ङीप्नत्वे न स्याताम् । वर्णान्तविशेषणत्वे तु त्र्येतशब्दस्य अनुपसर्जनत्वान्न दोषः । इति ।

अनड्वाही (ई. ७०)—अनडुह् शब्दस्य गौरादिगणे पाठात् 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीषि 'सावनडुहः स्त्रियां वा' इति वार्तिकेन आमि, यणादेशे विभक्त्यादिकार्ये 'अनड्वाही' आमभावे 'अनडुही' इति च बोध्यम् । (अनडुहः=वृषभस्तस्य स्त्री, अनो वहतीति यौगिको वा अनड्वाही—अनडुहीति) ।

५०१ । जानपदकुण्डगोणस्थलभाजनागकालनीलकुशकामुकक-बराद् वृत्त्यमत्रावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यवर्णानाच्छादनायोविकार-मैथुनेच्छाकेशवेशेषु ४।१।४२। एभ्य एकादशभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः क्रमाद् वृत्त्यादिष्वर्थेषु ङीप् स्यात् । जानपदी वृत्तिश्चेत् । अन्या तु जानपदी । उत्सा-दित्वादञन्तत्वेन 'टिड्ढा'–(सू ४७१) इति ङीप्याद्युदात्तः । कुण्डी अमत्रं चेत् । कुण्डा अन्या । 'कुडि दाहे' 'गुरोश्च हलः' (सू ३२८०) इत्यप्रत्ययः । यस्तु 'अमृते जारजः कुण्डः' इति मनुष्यजातिवचनस्ततो जातिलक्षणो ङीष् भवत्येव । अमत्रे हि स्त्रीविषयत्वादप्राप्तो ङीप् विधीयते न तु नियम्यते । गोणी आवपनं चेत् । गोणा अन्या । स्थली अकृत्रिमा चेत् । स्थला अन्या । भाजी श्राणा चेत् । भाजा अन्या । नागी स्थूला चेत् । नागा अन्या । गजवाची नागशब्दः स्थौल्य-गुणयोगादन्यत्र प्रयुक्त उदाहरणम् । सर्पवाची तु दैर्घ्यगुणयोगादन्यत्र प्रयुक्तः प्रत्यु-

---

जानपदी (ई. ६९)—जनपदे भवः जानपदः । तस्मात् 'जानपद–' इति सूत्रेण ङीषि भत्वादलोपे विभक्तिकार्यं 'जानपदी' इति । जानपदी, वृत्तिश्चेत्= जीविका गम्या चेदित्यर्थः । ननु उत्सादित्वादञन्तत्वेन 'टिड्ढाणञ्—' इति ङीपि सत्यपि 'जानपदी'ति सिद्धौ ङीप्विधानं किमर्थमिति चेन्न, ङीप्याद्यु-दात्तत्वम्, ङीषि तु प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तत्वमित्युभयोर्भेदात् ।

कुण्डी अमत्रं चेत्—ननु जानपदेति सूत्रे अमत्रग्रहणेन कुण्डशब्दादमत्रे एव ङीष् नान्यत्रेति नियमेन, 'अमृते जारजः कुण्डः' इति कुण्डशब्दाज्जाति-लक्षणो ङीष् कथमिति चेन्न, अमत्रेऽनुगतसंस्थानव्यंग्यरूपजातित्वाभावेनाप्राप्तौ नियमत्वासम्भवात् । स्त्रीविषयत्वादिति मूलस्य जातित्वाभावादित्यर्थं इति दिक् ।

गोणी (ई. ६४)–ओप्यते निःक्षिप्यते अस्मिन्नित्यर्थे आङ्पूर्वकात् वपेर्ल्युट् 'अवपनम्' इति । तस्मिन्नर्थे गोणशब्दात् 'जानपदे'ति ङीषि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये 'गोणी' इति ।

भाजी (ई. ५९)—'यवागूरुष्णिका श्राणा' इत्यमरः । तस्मिन् श्राणार्थे भाजशब्दात् 'जानपदे'ति ङीषि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये 'भाजी' इति ।

नागी स्थूला चेत् ननु नागशब्दस्य जातिवाचकत्वेन जातेरिति ङीषि-सिद्धे जानपदेति सूत्रे नागग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न, इयं स्त्री नागी (हस्तिनी) स्थौल्यगुणयोगादित्यत्र नागशब्दस्यैकव्यक्तिवृत्तित्वेन जातिवाचकत्वाभावेना-

दाहरणम् । काली वर्णश्चेत् । काला अन्या । नीली अनाच्छादनं चेत् । नीला अन्या । नील्या रक्ता शाटीत्यर्थः । 'नील्या अन्वक्तव्यः' (वा ३१७) इत्यन् । अनाच्छादनेऽपि न सर्वत्र, किन्तु १०२ नीलादोषधौ* । नीली । १०३ प्राणिनि च* । नीली गौः । १०४ संज्ञायां वा* । नीली-नीला । कुशी अयोविकारश्चेद् । कुशा अन्या । कामुकी मैथुनेच्छा चेत् । कामुका अन्या । कवरी केशानां सन्निवेशश्चेत् । कवरा अन्या चित्रेत्यर्थः । ५०२ । शोणात्प्राचाम् ४।१।४३। शोणी-शोणा । ५०३ । वोतो गुणवचनात् ४।१।४४। उदन्ताद् गुणवाचिनो वा ङीष्स्यात् । मृद्वी-मृदुः । 'उतः' किम् ? शुचिः । 'गुणः' इति किम् ? आखुः । १०५ खरुसंयोगोपधान्न* खरुः पतिवरा कन्या । पाण्डुः । ४०४ । बह्वादिभ्यश्च ४।१।४५। एभ्यो वा ङीष् स्यात् । बह्वी-बहुः । 'कृदिकारादक्तिनः' (ग) । रात्रिः-रात्री । 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके' (ग) । शकटिः-शकटी । 'अक्तिन्नर्थात्' किम् ? अजननिः । क्तिन्नन्तत्वादप्राप्ते विध्यर्थं पद्धतिशब्दो गणे पठ्यते । 'हिमकाषिहतिषु च' (सू ९९४) इति

सिद्धेः । न चात्र स्थूलग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम्, इयं स्त्री नागा सर्पिणी दैर्घ्यगुणयोगादित्यत्र दोषापत्तेः ।

नीलादोषधौ (ई. ७३)-'जानपद' इति सूत्रेण अनाच्छादने नीलशब्दस्य ङीष्विधाने नीला कुण्डी इत्यत्रापि ङीष् स्यादित्यत आह—'नीलादौषधौ' 'प्राणिनि च' नीलादनाच्छादनेऽपि भवन् ङीष् ओषधौ प्राणिनि चैव स्यात् न त्वन्यत्रेति वार्त्तिकार्थः । एवञ्च तत्रैव 'संज्ञायां वा' इत्यपि वार्तिकम् । संज्ञायामुक्तविषये तदन्यत्रापि ङीष् वा स्यादित्यर्थः । एवञ्च 'नीली-नीला' इति द्वयमपि साधु ।

उतः किं शुचिः (ई. ७२)—अयम्भावः—'वोतो गुणवचनात्' इति सूत्रे उत इति पदाभावेऽपि अत इत्यस्य सम्बन्धेनाकारान्तादेव ङीष् इति शुचिशब्देऽकारान्तत्वाभावेन ङीष् न स्यादिति न शङ्कनीयम् । 'खरुसंयोगोपधान्न' इति वार्तिकवैयर्थ्यात् ।

रात्रिः (ई. ७२)—औणादिकरात्रिप्रत्ययान्तात् 'कृदिकारादक्तिनः' इति बह्वाद्यन्तर्गणसूत्रात् विभाषया ङीषि सत्वादिकारलोपे विभक्तिकार्ये 'रात्री' इति । पक्षे 'रात्रिः' इति भवति ।

पद्भावः । पद्धतिः—पद्धती । ५०५ । पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८ । या पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते ततो ङीष् स्यात् । गोपस्य स्त्री गोपी । १०५ पालकान्तान्न * । गोपालिका । अश्वपालिका । १०७ सूर्याद्देवतायां चाप् वाच्यः* । सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या । 'देवतायाम्' किम् ? सूरी=कुन्ती, मानुषीयम् । ५०६ । इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ४।१।४९ । एषामानुगागमः स्यान्ङीष् च । इन्द्रादीनां षण्णां मातुलाचार्ययोश्च पुंयोग एवेष्यते । तत्र ङीषि सिद्धे आनुगागममात्रं विधीयते । इतरेषां चतुर्णामुभयम् । इन्द्राणी । १०८ हिमारण्ययोर्महत्त्वे* । महद्धिमं हिमानी । महदरण्यम् अरण्यानी । १०९ यवाद्दोषे* । दुष्टो यवो यवानी । ११० यवनाल्लिप्याम्* । यवनानां लिपिर्यवनानी । १११ मातुलोपाध्याययोरानुग्वा* । मातुलानी—मातुली । उपाध्यायानी—उपाध्यायी । ११२ या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष् वाच्यः* । उपाध्यायी—

पद्धतिः (ई. ७१)—पादाभ्यां हतिः इति विग्रहे तृतीयासमासे सति 'हतकाषिहतिषु च' इति सूत्रेण पादशब्दस्य पदादेशे पूर्वसवर्णे च कृते पद्धतिशब्दो निष्पन्नः । तस्मात् क्तिन्नन्तात् 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके' इत्यनेन ङीषि अप्राप्तौ बह्वादिगणे पद्धतिशब्दो पठ्यते । तेनात्र 'बह्वादिभ्यश्च' इति ङीषि भत्वादिलोपे विभक्तिकार्ये 'पद्धती' इति । पक्षे 'पद्धतिः' इति भवति ।

पुंयोगादिति (ई. ६८)—इह पुमिति लुप्तषष्ठीकं पृथक् पदं, तच्चावर्तते । पुंयोगादिति हेतौ पञ्चमी । आख्यायामिति तु पञ्चम्यर्थे सप्तमी तथा च या पुमाख्या (पुंवाचकः शब्दः) पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते ततो ङीष् स्यादित्यर्थः ।

गोपालिका (ई. ५९) – गाः पालयतीति गोपालः' गोपाल एव गोपालकः, तस्य स्त्री गोपालिका । अत्र 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीष्प्राप्ते 'पालकान्तान्न' इति निषेधे टापि 'प्रत्ययस्थात्—' इति इत्त्वे भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् ।

सुरी (ई. ६८)—सूर्यशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां षिद्गौरादिभ्य' इति गौरादित्वात् ङीषि 'सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः' इत्यनेन यकारस्य 'यस्येति च' इति अकारस्य च लोपे विभक्त्यादिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् । इयं सुरी=कुन्ती, मानुषी न तु देवता । तेन 'सूर्याद्देवतायामि' ति 'चाप्' न ।

उपाध्याया । ११३ आचार्यादणत्वं च* । आचार्यस्य स्त्री आचार्यानी । पुंयोग इत्येव । आचार्या, स्वयं व्याख्यात्री । ११४ अर्यक्षत्त्रियाभ्यां वा स्वार्थे* । अर्याणी—अर्या । स्वामिनी वैश्या वेत्यर्थः । क्षत्त्रियाणी—क्षत्त्रिया । पुंयोगे तु—अर्यी । क्षत्त्रियी । कथं 'ब्रह्माणी' इति ? ब्रह्माणमानयति जीवयतीति 'कर्मण्यण्' (सू २९१३) । ५०७ । क्रीतात्करणपूर्वात् ४।१।५० । क्रीतान्तादकारान्तात्करणादेः स्त्रियां ङीष् स्यात् । वस्त्रक्रीती । क्वचिन्न—धनक्रीता । ५०८ क्तादल्पाख्यायाम् ४।१।५१ । करणादेः

उपाध्याया (ई. ६६)—अत्र 'या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष् वाच्यः' इपि वार्तिकेन ङीषि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये 'उपाध्यायी' इति । पक्षे टापि 'उपाध्याया' इति च भवति । 'उपाध्यायस्य स्त्री' इति विग्रहे तु पुंयोगे ङीषि, आनुकि च सति 'उपाध्यायानी–उपाध्यायी' इति भवति ।

अर्याणी (ई. ६८)—अर्यशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'अर्यक्षत्त्रियाभ्यां वा स्वार्थे' इति वार्तिकेन ङीषि आनुकि च कृते भत्वादलोपे णत्वे विभक्तिकार्ये 'अर्याणी' इति । पक्षे टापि 'अर्या' इति । स्वामिनी वैश्या वेत्यर्थः । पुंयोगे तु अर्यस्य स्त्री–'अर्यी' इति भवति ।

ब्रह्माणी (ई. ६४)—ब्रह्माणम् आनयति=जीवयति इति विग्रहे ण्यन्तात् 'आनि' धातोः 'कर्मण्यण्' इत्यणि 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'आन' शब्देन ब्रह्माणमित्यस्य उपपदसमासे सुब्लुकि नलोपे सवर्णदीर्घे 'ब्रह्मान' शब्दात् 'टिड्ढाणञ्–' इति ङीपि 'यस्येति च' इत्यकारलोपे 'पूर्वपदात् संज्ञायाम्' इति णत्वे विभक्तिकार्ये ब्रह्माणी इति सिद्धम् । 'इन्द्रवरुण—' इति सूत्रे 'ब्रह्मन्' शब्दस्याग्रहणात् ब्रह्मणः स्त्री इत्यर्थे 'ब्रह्माणी' कथमिति प्रश्ने आह—कथं ब्रह्माणीति ।

वस्त्रक्रीती (ई. ७२)—अत्र 'क्रीतात् करणपूर्वात्' इति सूत्रेण ङीषि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये 'वस्त्रक्रीती' इति । ननु 'वस्त्रेण क्रीता' इति विग्रहे समासे सति अदन्तत्वाऽभावात् कथं ङीष् इति चेन्न, 'वस्त्र टा क्रीत' इति स्थिते 'गतिकारके'ति परिभाषया सुबुत्पत्तेः प्रागेव क्रीतशब्देन समासे सुब्लुकि वस्त्रक्रीतेति प्रातिपदिकस्य अदन्तत्वनिषेधादिति भाष्ये स्पष्टम् ।

धनक्रीता—ननु 'वस्त्रक्रीती' इतिवदत्रापि ङीष् कुतो नेति चेन्न, 'कर्तृकरणे कृता बहुलम्' इति सूत्रे बहुलग्रहणेन 'गतिकारकेति' परिभाषया अनित्य-

क्तान्तादन्तात्स्त्रियां ङीष् स्यादल्पत्वे द्योत्ये । अभ्रलिप्ती द्यौः । ५०९ बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात् ४।१।५२। बहुव्रीहेः क्तान्तादन्तोदात्तादन्तात्स्त्रियां ङीप् स्यात्। ११५ जातिपूर्वादिति वक्तव्यम् * । तेन बहुनञ्सुकालसुखादिपूर्वान्न । ऊरुभिन्नी । नेह–बहुक्रीता । ११६ जातान्तान्न* । दन्तजाता । ११७ पाणिगृहीती भार्यायाम् * । पाणिगृहीता अन्या ।

५१० अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा ४।१।५३ । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सुरापीती-सुरापीता । 'अन्तोदात्तात्' किम् ? वस्त्रच्छन्ना । 'अनाच्छादनात्' इत्युदात्तनिषेधः । अत एव पूर्वेणापि न ङीष् । ५११ स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ४।१।५४। असंयोगोपधमुपसर्जनं यत्स्वाङ्गं तदन्तादन्तात्प्रातिपदिकाद्वा ङीष् । केशानतिक्रान्ता अतिकेशी-अतिकेशा । चन्द्रमुखी–चन्द्रमुखा । संयोगोपधात्तु—सुगुल्फा । 'उपसर्जनात्' किम् ? शिखा । स्वाङ्गं त्रिधा— (१) 'अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्' । सुस्वेदा, द्रवत्वात् । सुज्ञाना, अमूर्तत्वात् । सुमुखा शाला, अप्राणिस्थत्वात् । सुशोफा विकारजत्वात् । (२) अतत्स्थं तत्र दृष्टं च–सुकेशी सुकेशा वा रथ्या, अप्राणिस्थस्यापि प्राणिनि दृष्टत्वात् । (३) तेन चेत्तत्तथायुतम् ।। सुस्तनी–सुस्तना वा प्रतिमा, प्राणि-

---

त्वज्ञापनात् सुबन्तेन समासात् पूर्वमेव धनेन क्रीतमित्यर्थे टापि ततः सुपि समासेऽदन्तत्वाऽभावात् 'क्रीतात्करणपूर्वात्' इत्यस्याप्राप्तेः ।

ऊरुभिन्नी (ई. ६४, ६८)—भिन्नौ असंयुक्तौ ऊरू यस्याः सेति विग्रहः । अत्र 'बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात्' इति सूत्रेण ङीषि भत्वादकारलोपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् ।

स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात् (ई. ६४, ६६, ७०)—इति सूत्रे 'स्वाङ्गपदेन स्वस्य=अवयवीभूतस्य, अङ्गं स्वाङ्गम्' इति कथने 'सुमुखा शाला' इत्यत्राऽपि ङीष् स्यात्–मुखस्य शालाङ्गत्वात् । किञ्च 'सुकेशी रथ्या' इत्यत्र ङीष् न स्यात्–केशानां प्राण्यङ्गत्वाऽभावात् । तस्मादव्याप्त्यतिव्याप्तिवारणाय उक्तसूत्रे भाष्योक्तं 'अद्रवमि'त्यादिना त्रिविधं स्वाङ्गं गृह्यते ।

(१) 'अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्'=न विद्यते द्रवो यस्य तद् अद्रवम्, अतः सु=शोभनः, स्वेदः=घर्मजः—उदकप्रस्रवो यस्याः सा 'सुस्वेदा' इत्यत्र ङीष् न । मूर्तिमत्=स्पर्शवद् द्रव्यपरिमाणं मूर्तिस्तद्वत् । अत एव 'सुज्ञाना' इत्यत्र ङीष् न । प्राणिस्थम्=प्राणिनि–प्राणवति जन्तौ

वत्प्राणिसदृशे स्थितत्वात्। ५१२ नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च ४।१।५५। एभ्यो वा ङीष् स्यात्। आद्ययोर्बह्वज्लक्षणो निषेधो बाध्यते, पुरस्तादपवादन्यायात्।ओष्ठादीनां पञ्चानां तु 'असंयोगोपधात्' इति पर्युदासे प्राप्ते वचनं, मध्येऽपवादन्यायात्। सहनञ्लक्षणस्तु प्रतिषेधः परत्वादस्य बाधकः। तुङ्गनासिकी-तुङ्गनासिका, इत्यादि। नेह—सहनासिका। अनासिका। अत्र वृत्तिः—'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्' स्वङ्गी-स्वङ्गा। इत्यादि। एतच्चानुक्तसमुच्चयार्थेन चकारेण सङ्ग्राह्यमिति केचित्। 'भाष्याद्यनुक्तत्वादप्रमाणम्' इति प्रामाणिकाः। अत्र वार्तिकानि—११८ पुच्छाच्च*। सुपुच्छी-

---

विद्यमानम्। अतः 'सुमुखा शाला' इत्यत्र ङीष् न। अविकारजम्=रोगादिविकाराजन्यम्। अतः सु=अधिकः, शोफः=श्वयथुः, यस्याः सा 'सुशोफा' इत्यत्र ङीष् न।

(२) अतत्स्थं तत्र दृष्टं च=अतत्स्थं=सम्प्रति अप्राणिस्थमपि, च=किन्तु, तत्र=प्राणिनि, दृष्टं=दृश्यमानं, यत्तदपि स्वाङ्गमित्यर्थः। अतः 'सुकेशी रथ्या' इत्यत्र ङीष् सिद्धः। रथ्यायां=वीथ्यां, विकीर्णः केशः सम्प्रति अप्राणिस्थेत्वेऽपि कदाचित् प्राणिस्थत्वादिति भावः।

(३) तेन चेत्तत्तथा युतम्=येनाङ्गेन प्राणिरूपं वस्तु यथायुतं, तेन तत्सदृशेन अङ्गेन सद्=अप्राणिरूपं वस्तु, तथा प्राणिवत्, युतं=युक्तं चेत्=स्यात्, तदपि प्राणिनि दृष्टं स्वाङ्गमित्यर्थः। अत एव 'सुस्तनी प्रतिमा' इत्यत्र ङीष् सिद्धः।

तुङ्गनासिकी (ई॰ ५०, ५६)—अत्र 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति सूत्रेण प्राप्तङीषः 'न क्रोडादिबह्वचः' इत्यनेन निषेधे प्राप्ते तं प्रबाध्य 'नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च' इति ङीष्विकल्पे 'तुङ्गनासिकी' अभावपक्षे 'तुङ्गनासिका' इति च बोध्यम्। नन्वेवं बह्वज्लक्षणस्य निरवकाशत्वापत्तिरिति चेन्न, सुजघनेत्यादौ सावकाशत्वात्। नचैवं 'सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च' इति निषेधस्य सकेशा, इत्यादौ सावकाशत्वेन 'सहनासिका' 'सहोदरा' इत्यादावप्यनेन ङीष्विकल्पः स्यादिति वाच्यम्। 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरान्' इति न्यायेन 'न क्रोडादिबह्वचः' इत्यस्यैव बाधसम्भवात्। तुङ्गः=उन्नतः। एवञ्च उन्नता नासिका यस्याः सेत्यर्थः।

सुपुच्छा। ११९ कबरमणिविषशरेभ्यो नित्यम्*। कवरं चित्रं पुच्छं यस्याः सा कबरपुच्छी मयूरी इत्यादि। १२० उपमानात्पक्षाच्च पुच्छाच्च*। नित्यमित्येव। उलूकपक्षी शाला। उलूकपुच्छी सेना। ५१३ न क्रोडादिबह्वचः ४।१।५६। क्रोडादेर्बह्वचश्च स्वाङ्गान्न ङीष्। कल्याणक्रोडा। अश्वानामुरःक्रोडा। आकृतिगणोऽयम्। सुजघना। ५१४ सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च ४।१।५७। सहेत्यादित्रिकपूर्वान्न ङीष्। सकेशा। अकेशा। विद्यमाननासिका। ५१५ नखमुखात् संज्ञायाम् ४।१।५८। ङीष् न स्यात्। शूर्पणखा। गौरमुखा। 'संज्ञायाम्' किम्? ताम्रमुखी कन्या। ५१६ दिक्पूर्वपदान्ङीप् ४।१।६०। दिक्पूर्वपदात्स्वाङ्गान्तात्प्रातिपदिकात्परस्य ङीषो ङीबादेशः स्यात्। प्राङ्मुखी। आद्युदात्तं पदम्। ५१७ वाहः ४।१।६१। वाहन्तात्प्रातिपदिकान्ङीष्स्यात्। ङीपे वानुवर्तते न ङीप्। 'दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे'। ५१८ सख्यशिश्वीति भाषायाम् ४।१।६२। इतिशब्दः प्रकारे 'भाषायाम्' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। तेन छन्दस्यपि क्वचित्। सखी। अशिश्वी। 'आ धेनवो धुनयन्तामशिश्वीः।' ५१९ जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ४।१।६३। जातिवाचि यन्न

सुजघना (ई. ४६, ५६)—सु=शोभनं, जघनं यस्याः इति विग्रहे स्त्रीत्वविवक्षायां 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद्' इति प्राप्तं ङीषं 'न क्रोडादिबह्वचः' इति बह्वच्कत्वान्निषेधे अदन्तत्वाट्टापि विभक्त्यादिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्।

शूर्पणखा (ई. ५१)—'शूर्पणखा' नाम राक्षसीति रामायणे प्रसिद्धा। शूर्पाणीव कररुहाः यस्या इति अस्वपदविग्रहः। संज्ञात्वेन नित्यसमासत्वात् 'नखमुखात् संज्ञायाम्' इति ङीष्निषेधे सति 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' इति णत्वे सुबाद्युत्पत्तिः। यदा तु शूर्पवन्नखानि यस्या इति योगमात्रं विवक्ष्यते न तु संज्ञा; तदा असंज्ञात्वात् न ङीन्निषेधो न वा णत्वं भवति।

जातेरस्त्रीति (ई. ५२, ५४)-'जातेरस्त्रीविषयात्' इति सूत्रे जातिपदेन त्रिधा जातिर्गृह्यते। तत्र प्रथमलक्षणम्—आकृतिग्रहणा जातिः' इति। आकृतिः-अवयवसन्निवेशविशेषः। ईदृशाकारो गौरित्युपदिष्टे पुच्छलाङ्गूलाद्याकृतिनिर्देशेन गवादिषु जातिर्गृह्यते, तदा ह्यनुगतेऽपि ह्यनुगतमेकाकारेण प्रतीतं यत्संस्थानम् अवयवसन्निवेशः, तेन व्यङ्ग्या या सा जातिरित्यर्थः। तथाहि—नद्यादीनां जलसमीपदेशो यत्र यत्र वर्तते, तत्र तत्र तट इति बुद्धिर्जायते, इति

च स्त्रियां नियतमयोपधं ततः स्त्रियां ङीष्स्यात्। 'आकृतिग्रहणा जातिः' अनुगतसंस्थानव्यङ्ग्येत्यर्थः। तटी। लिङ्गानाञ्च न सर्वभाक् सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या। 'असर्वलिङ्गत्वे सत्येकस्यां व्यक्तौ कथनाद्व्यक्त्यन्तरे कथनं विनाऽपि सुग्रहा जातिः' इति लक्षणान्तरम्। वृषली। 'सत्यन्तम्' किम्? शुक्ला। 'सकृत्'-इत्यादि किम्? देवदत्ता। 'गोत्रं च चरणैः सह' अपत्यप्रत्ययान्तः शाखाध्येतृवाची च शब्दो जातिकार्यं लभत इत्यर्थः। औपगवी। कठी। कह्वृची। 'ब्राह्मणी' इत्यत्र तु शार्ङ्गरवादिपाठान्ङीना ङीष्बाध्यते 'जातेः' किम्? मुण्डा। अस्त्रीविषयात् किम्? बलाका। 'अयोपधात्' किम्? क्षत्त्रिया। १२१ योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः*। हयी। गवयी। मुकयी। 'हलस्तद्धितस्य' (सू ४७३) इति यलोपः। मनुषी। 'मत्स्यस्य ङ्याम्' (९९) मत्सी।

तटशब्दादपि जातिलक्षणो ङीष् भवति। परञ्च एतत् लक्षण वृषलत्वादीनां जातित्वे साधकं न भवति। यथा -- हस्ताद्यवयवसन्निवेशो यथा ब्राह्मणादीनां वर्तते, तथा शूद्रस्यापि इति प्रथमलक्षणेन न गतार्थत्वम्, अत उच्यते-'लिङ्गानाञ्च न सर्वभाक्' इति। एकस्यां ब्राह्मणादिव्यक्तौ एकवारं कथनात्=उपदेशात्, द्वितीयव्यक्तौ कथनं विनापि जातेर्ज्ञानं सुलभमिति वृषलत्वादीनां जातित्वसिद्धिः। ननु एताभ्याम् औपगवी कठीत्यादेरसंग्रहः, अनुगतसस्थानव्यङ्ग्यत्वाभावात्, सर्वलिङ्गत्वाच्चेति चेद्? उच्यते-'गोत्रं च चरणः सह' इति। अपत्यप्रत्ययान्तः चकारात् शाखाध्येतृवाची च शब्दो जातिकार्यं लभत इत्यर्थः। एवम् 'औपगवी, 'कठी' इत्यादेः सिद्धिरिति दिक्।

वृषली (ई. ४४, ५८, ६०)—वृषलशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इत्यनेन ङीषि भत्वादलोपे विभक्त्यादिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्। जातित्वं चात्र 'लिङ्गानाञ्च न सर्वभाक्' इति।

औपगवी (ई. ४४, ५५, ५६)—उपगोरपत्यं स्त्रीत्यर्थे अपत्यार्थेऽणि वृद्धौ अवादेशे गोत्रप्रत्ययान्तस्यापि जातित्वस्वीकारात् 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीषि 'यस्येति च' इत्यलोपे सुलोपे उक्तं रूपं सिद्धम्।

मुकयी (ई. ५२)—चतुष्पाज्जातिविशेषस्य संज्ञेयम्। अत्र 'अयोपधात्' इति प्रतिषेधात् ङीष्प्राप्तौ 'योपधप्रतिषेधे हयगवय-' इति वार्तिकेन ङीषि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम्।

५२० पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलवालोत्तरपदाच्च ४।१।६४। पाकाद्युत्तरपदाज्जातिवाचिनः स्त्रीविषयादपि ङीष्स्यात् । ओदनपाकी । शङ्कुकर्णी । शालपर्णी । शंखपुष्पी । दासीफली । दर्भमूली । गोवाली । ओषधिविशेषे रूढा एते । ५२१ इतो मनुष्यजातेः ४।१।६५। ङीष्स्यात् । दाक्षी । योपधादपि । उदमेयस्यापत्यं स्त्री औदमेयी । 'मनुष्य' इति किम् ? तित्तिरिः । ५२२ ऊङुतः ४।१।६६। उकारान्तादयोपधान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियामूङ् स्यात् । कुरूः । 'कुरुनादिभ्यो ण्यः' (सू ११९२) तस्य 'स्त्रियामवन्ति—'(सू ११९७) इत्यादिना लुक् । 'ययोपधात्' किम् ? अध्वर्युः । १२२ अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनामुपसंख्यानम्* । रज्ज्वादिपर्युदासादुवर्णान्तेभ्य एव । अलाब्वा । कर्कन्ध्वा । अनयोर्दीर्घान्तत्वेऽपि ,नोङ्धात्वोः' (सू ३७२०) इति विभक्त्युदात्तत्वप्रतिषेध ऊङः फलम् । प्राणिजातेस्तु—कृकवाकुः । रज्ज्वादेस्तु रज्जुः । हनुः । ५२३ बाह्वन्तात्संज्ञायाम् ४।१।६७। स्त्रियामूङ् स्यात् । भद्रबाहूः । संज्ञायाम् किम् ? वृत्तबाहुः । ५२४ पङ्गोश्च ४।१।६८। पङ्गूः । १२३ श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च* । चादूङ् । पुंयोगलक्षणस्य ङीषोऽपवादः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स्वादयः । श्वश्रूः । ५२५ ऊरूत्तरपदादौपम्ये ४।१।६९। उपमानवाचिपूर्वपदमूरूत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तस्मादूङ् स्यात् । करभोरूः ।

कुरूः (ई ५३)—कुरुक्षेत्रस्य राजा कुरुः तस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थः । 'गोत्रं च चरणैः सह' इति जातित्वे 'ऊङुतः' इति कुरुशब्दात् ऊङि सवर्णदीर्घे स्वाद्युत्पत्तिः ।

अलाब्वा (ई. ४८)—अलाबूशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनामुपसंख्यानम्' इति वार्तिकेन ऊङि सवर्णदीर्घे अलाबूशब्दो निष्पन्नः । तस्मादलाबूशब्दात् टायां यणादेशे 'अलाब्वा' इति । (अलाबूशब्दस्य दीर्घान्तत्वेऽपि 'नोङ्धात्वो'रिति विभक्त्युदात्तत्वप्रतिषेध ऊङः फलम् ।)

श्वश्रूः (ई. ५५, ५६)—श्वशुरस्य स्त्रीति विग्रहे पुंयोगलक्षणे ङीषि तमपवाद्य 'श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च' इति वार्तिकेन ऊङि तत्सन्नियोगेन रेफादकारस्य शकारादुकारस्य च लोपे विभक्तिकार्ये 'श्वश्रूः' इति ।

करभोरूः (ई. ५२)—करभाविव ऊरू यस्या इति विग्रहः । करभोरुशब्दस्य 'आकृतिग्रहणे'ति त्रिविधजातित्वाऽभावात् 'ऊङुतः' इत्यस्याप्राप्त्या 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इति ऊङि सवर्णदीर्घे स्वाद्युत्पत्तिः ।

५२६ संहितशफलक्षणवामादेश्च ।४।१।७०। अनौपम्यार्थं सूत्रम् । संहितोरूः । सैव शफोरूः । शफौ=खुरौ ताविव संश्लिष्टत्वादुपचारात् । लक्षणशब्दादर्शआद्यच् । लक्षणोरूः । वामोरूः । १२४ सहित-सहाभ्यां चेति वक्तव्यम्* । हितेन सह सहितौ ऊरू यस्याः सा सहोरूः । यद्वा, विद्यमानवचनस्य सहशब्दस्य ऊर्वतिशयप्रतिपादनाय प्रयोगः । ५२७ संज्ञायाम् ४।१।७२। कद्रूकमण्डल्वोः संज्ञायां स्त्रियामूङ् स्यात् । कद्रूः । कमण्डलूः 'संज्ञायाम्' किम् ? कद्रुः । कमण्डलुः । अच्छन्दोऽर्थं वचनम् । ५२८ शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ४।१।७३। शार्ङ्गरवादेरञो योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन्स्यात् । शार्ङ्गरवी । बैदी । 'जातेः' इत्यनुवृत्तेः पुंयोगे ङीषेव । 'नृनरयोर्वृद्धिश्च' (ग) इति गणसूत्रम् । नारी । ५२९ यङश्चाप् ४।१।७४।

शफोरूः (ई. ५९)—शफौ=खुरौ, ताविव संश्लिष्टौ ऊरू यस्याः इति विग्रहे निष्पन्नात् शफोरुशब्दात् 'संहितशफलक्षणवामादेश्च' इति ऊङि सवर्णदीर्घे विभक्त्यादिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् ।

सहोरूः (ई. ५५)—'सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन ऊङि सवर्णदीर्घे गुणे प्रातिपदिककार्ये 'सहोरूः' इति । नच सहशब्दस्य विद्यमानत्वे 'सहोरूः' इत्यस्य सहशब्दप्रयोगो व्यर्थं इत्यत आह मूले सहेते (रतिकालिकमर्दनम्) इति सहौ, सहौ ऊरू यस्याः सा 'सहोरूः' इति । किञ्च विद्यमानवचनत्वेऽपि सहशब्दस्य न वैयर्थ्यम् । ऊर्वतिशयप्रतिपादनाय प्रयोगात् ।

शार्ङ्गरवी (ई. ६०)—शृङ्गरुशब्दादपत्येऽणि 'आदिवृद्धौ 'ओर्गुणः' इति गुणेऽवादेशे 'शार्ङ्गरव' इति तस्मात् जातित्वान्ङीषि प्राप्ते तम्प्रबाध्य 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' इति ङीनि भत्वादलोपे विभक्तिकार्ये तत्सिद्धिः ।

बैदी (ई. ५०)—विदस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थे 'अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ्' इत्यञि कृते गोत्रत्वेन जातित्वान्ङीषि प्राप्ते 'शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्' इति सूत्रेण ङीनि अल्लोपादिकार्ये 'बैदी' इति सिद्धम् ।

नारी (ई. ४३, ४७, ५८)—नृ-नरशब्दयोरुदाहरणं नारीति । तत्र नृशब्दात् 'नृनरयोर्वृद्धिश्च' इति गणसूत्रेण चकारात् ङीन्विधानेन पूर्वं ङीनि वृद्धौ रपरत्वे च 'नारी' इति । एवं नरशब्दात् पूर्वं ङीनि यस्येतिलोपे नकारादकारस्य वृद्धौ नारीति । न च यस्येति लोपात् प्रागलोन्त्यपरिभाषया नरशब्दा-

यङन्तात्स्त्रियां चाप्स्यात् । 'यङ' इति ञ्यङ्ष्यङोः सामान्यग्रहणम् । आम्बष्ठ्या । कारीषगन्ध्या । १२५ षाच्यञश्चाब्वाच्यः* । पौतिमाष्या । ५३० आवट्याच्च ४।१।७५। अस्माच्चाप्स्यात् । 'यङश्च' (सू ४७२) इति ङीपोऽपवादः । अवटशब्दो गर्गादिः । आवट्या । ५३१ तद्धिताः ४।१।७६। आपञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम् । ५३२ यूनस्तिः ४।१।७७। युवन्शब्दात्तिप्रत्ययः स्यात्, स च तद्धितः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया सिद्धे तद्धिताधिकार उत्तरार्थः । युवतिः । अनुपसर्जनादित्येव । बहवो युवानो यस्यां सा बहुयुवा । 'युवती' इति तु यौतेः शत्रन्तान्ङीपि बोध्यम् ।

इति स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् ।

न्ताकारस्य वृद्धिः कुतो नेति वाच्यम् । 'वर्णादाङ्गं बलीयः' इति परिभाषाबलेन अन्त्यस्याकारस्य यस्येतिलोपेनापहारात् । केचित्तु, नरस्य—अः नरः, ना च नरश्च तयोः नृनरयोः इति प्रश्लेषसामर्थ्यान्नकाराकारस्यैव वृद्धिः स्यादित्याहुः । न च नृशब्दात् पूर्वोक्तप्रकारेण नारीति सिद्धौ नरग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम्, नरत्वजातिवाचिनो नरशब्दात् स्त्रियां जातिलक्षणङीषि नरीति व्यावृत्त्यर्थं तस्यावश्यकत्वात् । वृद्धिविधानार्थं गणसूत्रमेतदिति बोध्यम् । 'नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः ।

कारीषगन्ध्या (ई. ५१, ५३, ५८)—करीषं गवादिपशुपुरीषं तस्य गन्ध इव गन्धो यस्य स करीषगन्धिः । करीषगन्धेः गोत्रापत्यं स्त्रीत्यर्थे अणि तस्य 'अणिञोरनार्षयो': इति ष्यङादेशे 'यस्येति' च इतीकारलोपे 'यङश्चाप्' इति चापि भत्वादकारलोपे विभक्तिकार्ये उक्तं रूपं सिद्धम् ।

युवतिः (५५, ५६, ६१)—युवन्शब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'यूनस्तिः' इति तिप्रत्यये 'स्वादिष्वि'ति पदत्वान्न लोपे विभक्तिकार्ये 'युवतिः' इति । दीर्घेकारान्तोऽपि स्त्रियां वर्तते, तत्तु युधातोर्लटः शतरि शपो लुकि उवङि उगित्वात् ङीपि 'युवती' इति । (यौति=पत्या सह आत्मानं मिश्रीकरोतीत्यर्थः) ।

इति स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् ।

अथ कारकप्रकरणम्

५३३ प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६।
नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्। उच्चैः। नीचैः। कृष्णः श्रीः। ज्ञानम्। अलिङ्गा, नियतलिङ्गाश्च 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' इत्यस्योदाहरणम्। अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्राद्याधिक्यस्य। तटः। तटी। तटम्। परि-

---

कारकस्य किं लक्षणम् (ई. ५९)—क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्। क्रियान्वयित्वं कारकत्वमित्येतावन्मात्रस्वीकारे 'ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति' इत्यत्र ब्राह्मणस्यापि कारत्वं स्यात्। साक्षात् क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' इति स्वीकारे तु 'मातुः स्मरति' इत्यत्र मातुः कारकत्वे षष्ठ्याः कारकत्वं नास्ति' इति वचनाऽसंगतिः स्यादतः 'क्रियाजनकत्वम्' अर्थात् क्रियाजनकत्वेनाऽन्वयित्वं तत्त्वमित्यवसेयम्।

प्रातिपदिकार्थेति—पदम्पदमिति प्रतिपदम्, प्रतिपदे भवं प्रातिपदिकम्, तस्यार्थः प्रातिपदिकार्थः, स च लिङ्गं च परिमाणं च वचनं चेति प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनानि, तान्येव प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रं तस्मिन्। 'द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते' इति भाष्योक्ते द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणमात्रपदस्य प्रत्येकमन्वयात् प्रातिपदिकार्थमात्र इत्याद्यर्थः सम्पद्यते। (१९६०)

नियतोपस्थितिक इति—नियता = व्यापिका, उपस्थितिर्यस्य स 'नियतोपस्थितिकः।' यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते सति यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः स नियतोपस्थितिकः। (१९६२)

नीचैः (ई. ५९)—'अव्ययादाप्सुपः' इति सूत्रे 'अव्ययग्रहणं व्यर्थमलिङ्गत्वात्' इति भाष्योक्तरीत्या अव्यये कस्यापि लिङ्गस्यानुपस्थितिरिति 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' इत्यनेनाऽत्र प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा भवति। (नन्वत्र अव्ययात् प्रथमोत्पत्तेः फलाभावः 'अव्ययादाप्सुपः' इति लुकोऽवश्यं प्रवृत्तेरिति चेन्न, पदत्वार्थं सुबुत्पत्तेरावश्यकत्वात्। तेन नीचैरित्यादौ रुत्वविसर्गौ 'नीचैस्तेऽसम्यग्भाषणम्' इत्यादौ तेमयादिसिद्धिश्च भवति।)

माणमात्रे–द्रोणो व्रीहिः। द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः। प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्य-परिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः। वचनं–संख्या। एकः। द्वौ। बहवः। इहोक्तार्थत्वाद्विभक्तेरप्राप्तौ वचनम्। ५३४ सम्बोधने च २।३।

(क) द्रोणो व्रीहिः इति (ई. ५२, ५३, ५६, ५८, ६०, ६२, ६८)–अयम्भावः—प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमासिद्धौ किमर्थं परिमाणग्रहणमिति चेत्, 'नामार्थद्वयोरभेदादतिरिक्तः सम्बन्धोऽव्युत्पन्नः' इति व्युत्पत्त्या 'द्रोणाऽभिन्नं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिः, इति मूलोक्तार्थानुपपत्तेः। परिमाणग्रहणसत्त्वे तु प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थः (द्रोणरूपार्थः) अभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावसम्बन्धेन व्रीहौ विशेषणमिति।

(ख)—ननु द्रोणादीनां परिमाणमर्थः, इति तेभ्यः प्रातिपदिकार्थमात्र एव प्रथमासिद्धौ प्रातिपदिकार्थेति सूत्रे परिमाणग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न, परिमाण-ग्रहणाभावे प्रातिपदिकार्थे प्रथमाविधानात् प्रातिपदिकार्थस्य प्रत्यायार्थत्वात् तत्र द्रोणस्य अभेदेन अन्वयः, प्रत्ययार्थस्य च तस्योक्तसम्बन्धेन व्रीहावन्वयः ततश्च द्रोणाभिन्नो व्रीहिरिति बोधः स्यात्—'नामार्थद्वयोरभेदातिरिक्तः सम्बन्धोऽव्युत्पन्नः' इति व्युत्पत्त्यनुरोधात्। तस्मादत्र परिमाणग्रहणमावश्यकम्। कृते हि परिमाणग्रहणे द्रोणशब्दात् प्रथमाविधानेन परिमाणस्य प्रत्ययार्थत्वात् तत्र प्रकृत्यर्थस्य द्रोणस्याऽभेदेन (अर्थात् 'इतरसम्बन्धावच्छिन्नविशेषणविशेष्य-भावसम्बन्धेन) अन्वयः प्रत्ययार्थस्य (परिमाणस्य) परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहावन्वयः। तथा च—द्रोणाऽभिन्नं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिः' इति फलतीति दिक्।

एकः द्वौ बहवः (ई. ५६, ६४)—'प्रातिपदिकार्थलिंगपरिमाणवचन-मात्रे प्रथमा' इति सूत्रेण वचनमात्रेऽत्र 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' इत्येकवाक्य-तया क्रमेण प्रथमैकवचनादिविभक्त्युत्पत्तौ स्वादिकार्ये एकः, द्वौ, बहवः इति त्रयाणां क्रमेण सिद्धिर्भवति।

इहेति–नन्वत्र प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमासिद्धौ सूत्रे वचनग्रहणं किमर्थमिति चेन्न, 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति निषेधात् 'एकः' इत्यादौ प्रथमाऽनापत्तेः। अन्या विभक्तिस्तु न सम्भवति अन्वितार्थकविभक्तिकल्पनापेक्षया अनुवादक-विभक्तेरेव न्याय्यत्वादिति।

४७। इह प्रथमा स्यात् । हे राम । इति प्रथमा विभक्तिः ।

५३५ कारके १।३।२३। इत्यधिकृत्य । ५३६ कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४९। कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् । 'कर्तुः' किम् ? माषेष्वश्वं बध्नाति । कर्मण ईप्सिता माषाः, न तु कर्तुः । तमब्ग्रहणं किम् ?

हे राम (ई. ५४, ५९)—अत्र 'सम्बोधने च' इति सूत्रेण सम्बोधने अधिके गम्येऽपि रामशब्दात् 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' इत्येकवाक्यतया प्रथमैकवचनसुप्रत्यये 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्युकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति सुलोपे 'हे राम' इति । मां पाहीति शेषः । सम्बोधनम्—'अभिमुखीकृत्य ज्ञापनम्' इति । इह रामं प्रति मद्रक्षणं ज्ञाप्यम् ।

कर्तुरिति (ई० ६३)—कारके इत्यनुवर्तते तच्च प्रथमया विपरिणम्यते । कर्तुरिति 'क्तस्य च वर्तमाने' इति कर्तरि षष्ठी । आप्तुमिष्यमाणमीप्सितम्, अतिशयेनेप्सितमीप्सिततमम् । धातूपात्तव्यापाराश्रयः कर्ता । केनाप्तुमित्याकाङ्क्षायां कर्तृविशेषणीभूतव्यापारेणेत्यार्थाल्लभ्यते । ततश्च—कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यादित्यर्थः सम्पद्यते ।

कर्तुः किमपि (ई. ५४, ५८, ५९)—ननु कारकाधिकारात् कारकवृत्तिव्यापारप्रयोज्यं यत्फलं तादृशफलवत्त्वप्रकारिकेच्छानिरूपितविषयताश्रयः कारकं सत् कर्मसंज्ञं भवतीत्यर्थेनैव 'हरिं भजति' इत्यादौ कर्मत्वे सिद्धे कर्तुः ग्रहणं किमर्थमिति चेन्न, माषेषु प्रसक्तमश्वं माषविनाशो मा भूदित्यन्यत्र बध्नातीत्यर्थके 'माषेष्वश्वं बध्नाति' इत्यत्र अश्ववृत्तिव्यापारप्रयोज्यगलाधःसंयोगाश्रयत्वेन माषाणां कर्मत्वापत्तेः, कृते च तस्मिन् कर्तृग्रहणसामर्थ्यात् प्रकृतधातूपात्तप्रधानीभूतव्यापाराश्रयस्यैव कर्तुर्ग्रहणेनादोषात् ।

तमब्ग्रहणं किम् (ई. ५०, ५७, ६३, ६७, ६८)—अवयवद्वारा समुदाये प्रश्नः—'कर्तुरुद्देश्यं कर्म' इत्येव सिद्धे ईप्सिततमग्रहण किमर्थमिति चेन्न; यदा कृतभोजनोऽपि देवदत्तः पयोलोभेन पुनरोदनभोजने प्रवर्तते, तदा 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' इत्यत्र पयसः कर्मत्वापत्तेः । नचैवमपि ईप्सितमित्येव सिद्धे तमब्ग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम्, 'अग्नेर्माणवकं वारयति' इत्यत्र वारिधातुवाच्यसंयोगरूपफलाश्रयत्वेन अग्नेरपि कर्मत्वापत्तौ 'वारणार्थानामीप्सितः' इत्यस्य

पयसा ओदनं भुङ्क्ते। 'कर्म' इत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्यर्थम्। अन्यथा 'गेहं प्रविशति' इत्यत्रैव स्यात्। ५३७ अनभिहिते २।३।१। इत्यधिकृत्य। ५३८ कर्मणि द्वितीया २।२।२। अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' इति प्रथमैव। अभिधानं च प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। तिङ्—हरिः सेव्यते। कृत्—लक्ष्म्या सेवितः। तद्धितः—शतेन क्रीतः शत्यः। समासः—प्राप्तः आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः। क्वचिन्निपातेनाभिधानम्। यथा—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्'। साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः। ५३९ तथा युक्तं चानीप्सितम् १।४।५०। ईप्सिततमवत्क्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति। ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते।

अनवकाशतया माणवकादपि पञ्चम्यापत्तेः। कृते तु तस्मिन् ईप्सिततमे अस्य प्रवृत्तिरिति। 'पयः पिबति' इत्यादौ तु पयसः ईप्सिततमत्वेन कर्मसंज्ञा भवत्येवेति दिक्।

हरिं भजति (ई. ५८, ६०)—अत्र हरिशब्दस्य 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति सूत्रेण (भजकर्तृवृत्तिक्रियाजन्यप्रीतिरूपफलाश्रयत्वेनेच्छोद्देश्यतया) कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति 'द्व्येकयोः—' इत्येकवाक्यतया द्वितीयैकवचनेऽमिपूर्वरूपे 'हरिम्' इति सिद्धम्।

हरिः सेव्यते—अत्र हरिशब्दस्य सेवकवृत्तिसेवारूपक्रियाजन्यप्रीतिरूपफलाश्रयत्वेन—इच्छोद्देश्यतया 'कर्तुरीप्सित—' इति कर्मत्वेऽपि तस्य 'सेव्यते' इति कर्मतिङाऽभिहितत्वेन 'अनभिहिते' इत्यधिकारेण द्वितीयाप्रवृत्तौ हरित्व-हरि-पुंस्त्वरूपाणां त्रयाणामेवार्थानां प्रतिपादने 'प्रातिपदिकार्थ—' इति सूत्रेण प्रथमैवेति 'हरिः सेव्यते' इति सिद्धम्।

ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति (ई. ५४)—अत्र स्पृश्यमानस्य तृणस्य ईप्सिततमत्वाभावेऽपि 'गंगां स्पृशति' इत्यादौ स्पृश्यमानस्य ईप्सिततमस्य गंगादेरिव क्रियाजन्यसंयोगात्मकफलाश्रयत्वात् 'तथायुक्तं चानीप्सितम्' इत्यनेन कर्मत्वात् 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति। ग्रामस्य तु 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इत्यनेन कर्मत्वं बोध्यम्।

ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते (ई. ५१, ५८, ६०)—अत्र विषस्य द्वेष्यतया ईप्सिततमत्वाभावेपि 'ओदनं भुङ्क्ते' इत्यादौ भुज्यमानस्य ईप्सितत-

५४० अकथितं च १।४।५१। अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

'दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम्।
कर्मयुक्स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्'।

'दुह्यादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्म' इति परिगणनं कर्तव्यमित्यर्थः।

गां दोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। अविनीतं विनयं याचते।

मस्य ओदनादेरिव क्रियाजन्यगलविवरप्रवेशात्मकफलाश्रयत्वात् 'तथायुक्तं चानीप्सितम्' इति कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति। ओदनस्य तु 'कर्तुरीप्सिततमं कर्मे'ति कर्मत्वं ज्ञेयम्।

अकथितञ्च (ई० ५०)—यदा अपादानत्वादिविशेषात्मना न विवक्षितं, किन्तु सम्बन्धसामान्यात्मनैव, तदा तत्कर्मसंज्ञकमिति सूत्रार्थः। न चैवमपादानस्य सम्बन्धित्वेन विवक्षितत्वात् सर्वत्र कर्मसंज्ञाऽपत्तिः स्यादिति चेदत्र वार्तिककृता श्लोकेन परिगणितम् 'दुह्, याच्-पच्-दण्ड्' इत्यादिनामूले। उदाहरणानि चात्र—गां दोग्धि पयः, गोः सकाशात् पयः क्षारयतीत्यर्थः। अत्र क्षरणे गोरपादानत्वात् प्राप्तां पञ्चमीं बाधित्वा 'अकथितञ्चेति' कर्मत्वे द्वितीया। 'बलिं याचते वसुधाम्' बलिकर्तृकं वसुधाकर्मकं दानं प्रार्थयते इत्यर्थः। अत्र कर्तुः कर्मत्वविवक्षायां द्वितीया। यद्वा बलिसम्बन्धिवसुधाकर्मकयद्दानं तत्प्रार्थयते इत्यर्थः। गर्गान् शतं दण्डयति। ताडनादिना गर्गेभ्यः सुवर्णशतं गृह्णातीत्यर्थः। ग्रहणं हि परकीयद्रव्यस्य परस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं स्वीकरणम्। तत्र स्वत्वविश्लेषे गर्गाणामवधित्वादपादानत्वम्। अपादानत्वमनादृत्य कर्मत्वविवक्षायां द्वितीया।

गां दोग्धि पयः (ई. ५८, ६७)—गोः सकाशात् पयः क्षारयतीत्यर्थः। अत्र क्षरणे गोरपादानत्वात् प्राप्तां पञ्चमीं बाधित्वा 'अकथितञ्चे'ति कर्मत्वे कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति। पयसस्तु 'कर्तुरीप्सिततमं कर्मे'ति कर्मत्वं बोध्यम्।

बलिं याचते वसुधाम् (ई० ५२, ५४, ५८)—अत्र बलेरित्यस्य 'अकथितञ्च' इत्यनेन कर्मत्वात् द्वितीया। बलिकर्तृकं वसुधाकर्मकं दानं प्रार्थयते इत्यर्थः। वसुधायास्तु 'कर्तुरि'ति कर्मत्वम्।

तण्डुलानोदनं पचति। गर्गान् शतं दण्डयति। व्रजमवरुणद्धि गाम्। माणवकं पन्थानं पृच्छति। वृक्षमवचिनोति फलानि। माणवकं धर्मं ब्रूते, शास्ति वा। शतं जयति देवदत्तम्। सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्राममजां नयति हरति, कर्षति, वहति वा। अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति। १२६ अकर्म-

---

अविनीतं विनयं याचते (ई० ५२, ५४, ५९, ६२)—अविनीतकर्तृकं विनयकर्मकमभ्युपगमं प्रार्थयत इत्यर्थः। अत्र 'अकथितञ्च' इति कर्तुः कर्मत्वविवक्षायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति। विनयस्य तु 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'ति कर्मत्वं बोध्यम्।

व्रजमवरुणद्धि गाम् (ई० ६०, ६१, ६३)—गां निर्गमप्रतिबन्धपूर्वकं व्रजे चिरस्थितिकां करोतीत्यर्थः। अत्र चिरस्थितिं प्रति व्रजस्याधिकरणमुपेक्ष्य गोद्वारा तत्स्थित्याश्रयतया 'अकथितञ्च' इति कर्मत्वविवक्षायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया। गोरित्यस्य तु 'कर्तुरि'ति कर्मत्वम्।

वृक्षमवचिनोति फलानि (ई० ५९)—वृक्षात् प्रच्याव्य फलान्यादत्ते इत्यर्थः। अत्र प्रच्याव्यादानविषयत्वात् फलानि प्रधानकर्म, प्रच्यवावधित्वात् वृक्षोऽपादानम्। तस्य अपादानमुपेक्ष्य 'अकथितञ्च' इति कर्मत्वविवक्षायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया।

माणवकं धर्मं ब्रूते (ई० ५८)—माणवकाय धर्मं बोधयतीत्यर्थः। व्यापारप्रयोज्यबोधविषयत्वाद् धर्मः प्रधानकर्म। बोधविषयेण कर्मणाऽभिप्रेयमाणत्वात् माणवकः सम्प्रदानम्। तस्य सम्प्रदानत्वमुपेक्ष्य 'अकथितञ्च' इत्यनेन कर्मत्वविवक्षायां 'कर्मणि द्वितीया' इत्यनेन द्वितीया भवति।

सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति—(ई० ६४)—क्षीरोदधेः सकाशात् सुधां मन्थानदण्डभ्रमणेनोद्भावयतीत्यर्थः। अत्र सुधा प्रधानकर्म, क्षीरोदधिस्तु उद्भवं प्रत्यपादानम्। तस्य 'अकथितञ्च' इत्यनेन कर्मत्वविवक्षायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति।

बलिं भिक्षते वसुधाम् (ई० ६५)—अहमपीदमचोद्यं चोद्ये' इति 'तद्राजस्य बहुषु' इति सूत्रस्थभाष्यात् 'अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा' इति ज्ञायते। तथा च दुहाद्यर्थकधात्वन्तरयोगेऽपि द्विकर्मकत्वं लभ्यते। तेन 'बलिं भिक्षते वसुधाम्' इत्यादावपि 'अकथितं च' इत्यनेन गौणे कर्मणि द्वितीया भवति।

कधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्* । कुरून् स्वपिति । मासमास्ते । गोदोहमास्ते । क्रोशमास्ते । ५४१

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ १।४।५२।

गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात् ।

शत्रूनगमयत् स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत् ।

(नव्यास्तु परिगणितातिरिक्तानां येषां द्विकर्मकत्वमिष्टं तेषां व्यापाराद्वयार्थकत्वेन 'कर्तु'रित्येव कर्मत्वमिति वदन्ति । अत एव 'दुहि-याचि-रुधि-प्रच्छि-भिक्षि-चिञाम्' इति भाष्योक्तपरिगणनेन भिक्षिग्रहणं चरितार्थमिति वदन्ति ।)

कुरून् स्वपिति (ई. ५९, ६१)—कुरुषु निद्रां करोतीत्यर्थः । कुर्वादेरनुद्देश्यत्वादत्र 'कर्तु'रित्यनेन कर्मत्वाभावात् 'अकर्मकधातुभिर्योगे' इति वार्तिकेन कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति । ग्रामसमूहात्मककुरुपञ्चालाऽवन्त्यादिपरोऽत्रदेशशब्दः, न तु ग्रामादिरपि । तेन 'ग्रामे स्वपति' इत्यत्र न द्वितीया ।

क्रोशमास्ते (ई. ६९)—अत्र 'कालाध्वनोः–' इति वार्तिकेन कर्मत्वात् 'कर्मणि द्वितीया' इत्यनेन द्वितीया भवति । अत्र वार्तिके गन्तव्यत्वेनाऽध्वनो विशेषितत्वात् नियतपरिमाणः क्रोशादिरेव गृह्यते । तेन 'अध्वन्यास्ते' इत्यत्र द्वितीया न भवति ।

गतिबुद्धि (ई. ६०, ६८)—गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाऽणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यादिति सूत्रार्थः । 'शत्रूनगमयत् स्वर्गम्' इत्याद्युदाहरणानि । शत्रवः स्वर्गमगच्छन् हरिस्तान् प्रैरिरदिति-शत्रूनगमयत् स्वर्गम् । गत्यर्थस्योदाहरणमिदम् । स्वे =स्वकीयाः, वेदार्थमविदुः, तान् हरिः वेदार्थमवेदयदिति-वेदार्थं स्वानवेदयत् । बुद्ध्यर्थस्योदाहरणमिदम् । देवाः अमृतमाश्नन्, तान् हरिः आशयदिति—आशयच्चामृतं देवान् । प्रत्यवसानार्थस्योदाहरणमिदम् । विधिः वेदमधीतवान्, तं हरिः अध्यापयदिति-वेदमध्यापयद्विधिम् । शब्दकर्मः उदाहरणमेतत् । सलिले पृथ्वी आस्ते, तां हरिः आसयदिति–आसयत् सलिले पृथ्वीम् ।. अकर्मकस्योदाहरणमेतत् । (यः स मे श्रीहरिर्गतिरिति प्रतिवाक्यमन्वयः) ।

शत्रूनगमयत् स्वर्गम् (ई. ५७, ५९, ६०)—'गतिबुद्धि–' सूत्रस्थगत्यर्थस्योदाहरणमिदम् । शत्रवः (युद्धे मृताः) स्वर्गमगच्छन् तान् हरिः प्रैरिरदिति–

आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयद् विधिम् ॥
आसयत् सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः ।

'गति' इत्यादि किम् ? पाचयत्योदनं देवदत्तेन । 'अण्यन्तानाम्' किम् ? गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तं, तमपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः । १२७ नीवह्योर्न* । नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन ।

१२८ नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः* । वाहयति रथं वाहान् सूतः ।

१२९ आदिखाद्योर्न* । आदयति स्वादयति वा अन्नं वटुना ।

१३० भक्षेरहिंसार्थस्य न* । भक्षयत्यन्नं वटुना । 'अहिंसार्थस्य' किम् ? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम् । १३१ जल्पतिप्रभृतीनामुपसङ्ख्यानम्* । जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः १३२ दृशेश्च* । दर्शयति हरिं भक्तान् । सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणं, नतु तद्विशेषार्थानामिति

हरिः शत्रून् स्वर्गमगमयत् । शत्रुनिष्ठं यद् गमनं तदनुकूलो यान्निष्ठो व्यापारः स हरिर्मे गतिरस्तु, इति वाक्यार्थः । ननु शत्रूनगमयदित्यादौ 'कर्तुः–' इति सूत्रेणैव कर्मत्वे सिद्धे 'गतिबुद्धि–' इति सूत्रं व्यर्थमिति चेन्न, 'णिजर्थव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयाणां यदि कर्मत्वं स्यात् तर्हि गत्याद्यर्थकानामेव' इति नियमार्थत्वात् । तेन 'पाचयत्योदनं देवदत्तेन यज्ञदत्तः' इत्यादौ देवदत्तस्य कर्मत्वं नेति ।

वेदमध्यापयद्विधिम् (ई. ५८, ६२)—'गतिबुद्धि–' सूत्रस्थशब्दकर्मणः उदाहरणमेतत् । विधिः=ब्रह्मा, वेदमधीतवान्, तं हरिः अध्यापयदित्यर्थः । अत्र प्रयोज्यकर्तुर्विधेः कर्मत्वम् ।

आसयत् सलिले पृथ्वीम् (ई. ६०)—'गतिबुद्धि–' सूत्रस्थाऽकर्मकस्योदाहरणमिदम् । सलिले पृथ्वी आस्ते, तां हरिः आसयदित्यर्थः । अत्र पृथिव्याः प्रयोज्यकर्त्र्याः कर्मत्वम् ।

नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन (ई. ५५, ६०)—भृत्यो भारं नयति वहति वा, तमधिपतिः प्रेरयतीत्यर्थः । अत्र 'नीवह्योर्न' इति वार्तिकेन निषेधात् भृत्यस्य 'गतिबुद्धि–' इति कर्मत्वं न भवति ।

दर्शयति हरिं भक्तान् (ई. ५६, ६३, ६९)—हरिं भक्ताः पश्यन्ति तान् गुरुः प्रेरयतीत्यर्थः । अत्र 'दृशेश्च' इति वार्तिकेन अण्यन्तकर्तुः कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इत्यनेन द्वितीया भवति । नन्वत्र बुद्ध्यर्थत्वादेव कर्मत्वे सिद्धे 'दृशेश्चे'ति वार्तिकं किमर्थमिति चेन्न' 'गतिबुद्धि–' इति सूत्रे ज्ञानसामान्यार्था-

अनेन ज्ञाप्यते। तेन 'स्मरति' 'जिघ्रति' इत्यादीनां न। स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन। १३३ शब्दायतेर्न*। शब्दाययति देवदत्तेन। धात्वर्थसंगृहीत-कर्मत्वेनाकर्मकत्वात् प्राप्तिः। येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न सम्भवति तेऽत्रा-कर्मकाः, न त्वविवक्षितकर्माणोऽपि। तेन 'मासमासयति देवदत्तम्' इत्यादौ कर्मत्वं भवत्येव। 'देवदत्तेन पाचयति' इत्यादौ तु न। ५४२ हृक्रोरन्यतर-स्याम् १।४।५३ हृक्रोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्मसंज्ञः स्यात्। हारयति कारयति वा भृत्यं—भृत्येन वा कटम्। १३४ अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्* अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा। ५४३ अधिशीङ्स्थासां कर्म १।४।४६ अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात्। अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः। ५४४ अभिनिविशश्च १।४।४७ अभिनीत्येतत्सङ्घातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात्। अभिनिविशते सन्मार्गम्। 'परिक्रयणे सम्प्रदानम्'—(सू ५८१) इति सूत्रादिह मण्डूकप्लुत्या अन्यतरस्यांग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् क्वचिन्न। पापेऽभिनिवेशः। ५४५ उपान्वध्याङ्वसः १।४।४८ उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात्। उपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा वैकुण्ठं हरिः। १३५ अभु-

---

नामेव ग्रहणं न तु तद्विशेषार्थानामिति ज्ञापनार्थत्वात्। तेन स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेनेत्यत्र कर्मत्वं नेति।

मासमासयति (ई. ६१, ६४, ६५)—अयम्भावः, धातोरर्थान्तरे वृत्ते धात्वर्थेनोपसंग्रहात्। प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इत्युक्त्या अविवक्षितकर्मत्वेन अकर्मकत्वात् 'पाचयति देवदत्तेन' इत्यत्र कर्मत्वं कुतो नेति चेन्न, अकर्मकग्रहणसामर्थ्यात् 'येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न सम्भवति तेऽत्राऽकर्मकाः, नत्वविवक्षितकर्माणोऽपि' इत्यर्थबोधनेनादोषात्। तेन 'मासमासयति देवदत्तम्' इत्यत्र कर्मत्वं भवति। 'देवदत्तेन पाचयति' इत्यादौ तु नेति दिक्।

अधितिष्ठति वैकुण्ठं हरिः (ई. ६५)—अत्र 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति सूत्रेण कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इत्यनेन द्वितीया भवति। अधिस्त्वत्र सप्तम्यर्थस्याधारस्य द्योतकः। वैकुण्ठे हरिः तिष्ठतीत्यर्थः।

उपवसति, अधिवसति वा वैकुण्ठं हरिः (ई. ५६, ६१) – 'उपान्व-

क्त्यर्थस्य न* वने उपवसति। १३६ उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु। द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते* ॥

उभयतः कृष्णं गोपाः। सर्वतः कृष्णम्। धिक् कृष्णाभक्तम्। उपर्युपरि लोकं हरिः। अध्यधि लोकम्। अधोऽधो लोकम्।

१३७ अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि*। अभितः कृष्णम्। परितः कृष्णम्। ग्रामं समया। निकषा लङ्काम्। हा कृष्णाभक्तम्। तस्य शोच्यत इत्यर्थः। बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्। ५४६ अन्तराऽन्तरेण युक्ते २।३।४ आभ्यां योगे द्वितीया स्यात्। अन्तरा त्वां मां हरिः। अन्तरेण हरिं न सुखम्।

५४७ कर्मप्रवचनीयाः १।४।८३ इत्यधिकृत्य। ५४८ अनुर्लक्षणे १।४।८४ लक्षणे द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात्। गत्युपसर्गसंज्ञाऽपवादः। ५४९

ध्याङ्वसः' इत्यनेनात्र कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति। वैकुण्ठे हरिः वसतीत्यर्थः। उपसर्गावत्राधारद्योतकाविति।

सर्वतः कृष्णम् (ई. ५९, ६२)—(कृष्णस्य सर्वेषु पार्श्वेषु गोपाः इत्यर्थः।) अत्र 'उभसर्वतसोः इति श्लोकवार्तिकेन द्वितीया भवति।

उभसर्वतसोरिति—उभशब्दसर्वशब्दप्रकृतिकतसन्तयोः प्रयोगे सति, धिक्-शब्दस्य प्रयोगे सति, कृतद्विर्वचनेषु उपर्यादिषु त्रिषु प्रयुज्यमानेषु ततः उक्त-प्रदेशेभ्योऽन्यत्रापि द्वितीयेत्यर्थः।

धिक् कृष्णाभक्तम् (ई. ६८)—धिक् निन्दायाम्। कृष्णाऽभक्तस्य निन्देत्यर्थः। अत्र 'उभसर्वतसोः–' इति द्वितीया भवति।

उपर्युपरि लोकं हरिः (ई. ६१)—'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' इति द्विर्वचनम्। लोकस्य समीपे उपरि हरिरस्तीत्यर्थः। 'उभसर्वतसोः–' इत्यनेनात्र द्वितीया।

ग्रामं समया (ई. ५७, ६७)—ग्रामस्य समीपे इत्यर्थः। 'अभितः परितः इति वार्तिकेनात्र द्वितीया। 'ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति प्रागुक्तस्यैव प्रपञ्चोऽयं वार्तिकः।

अन्तरा त्वां मां हरिः (ई. ५९)—तव मम च मध्ये हरिरित्यर्थः। 'अन्तराऽन्तरेण युक्ते' इति सूत्रेणात्र द्वितीया भवति।

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया २।३।८ एतेन योगे द्वितीया स्यात्। जपमनु प्रावर्षत्। हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः। परापि 'हेतौ' (सू ५६९) इति तृतीया अनेन बाध्यते, 'लक्षणेत्थम्भूत'—(सू ५५३) इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात्। ५५० तृतीयार्थे १।४।८५ अस्मिन् द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात्। नदीमन्ववसिता सेना। नद्या सह सम्बद्धेत्यर्थः। 'षिञ् बन्धने' क्तः। ५५१ हीने १।४।८६ हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत्। अनु हरिं सुराः। हरेर्हीना इत्यर्थः। ५५२ उपोऽधिके च १।४।८७ अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्संज्ञं स्यात्। अधिके सप्तमी वक्ष्यते। हीने उप हरिं सुराः। ५५३ लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः १।४।९० एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः। लक्षणे–वृक्षं प्रति, परि, अनु वा विद्योतते विद्युत्। इत्थम्भूताख्याने–भक्तो विष्णुं प्रति, परि, अनु वा। भागे–लक्ष्मीर्हरिं प्रति,

---

जपमनु प्रावर्षत् (ई. ५३, ५५, ६०, ६४, ६८)—कदा पर्जन्योऽवर्षदिति प्रश्ने उत्तरमिदम्। अत्र 'अनुर्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीयायां जपमनु इति वाक्यघटकजपमित्यस्य सिद्धिः। सम्बन्धश्चात्र लक्ष्यलक्षणभावः।

लक्षणत्वञ्च—'ज्ञानजनकज्ञानविषयत्वम्'। लक्ष्यत्वञ्च—'ज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वम्' ज्ञानं वर्षणज्ञानं तज्जनकं ज्ञानं जपज्ञानं तद्विषयता जपे। ज्ञानं जपज्ञानं तज्जन्यं ज्ञानं वर्षणज्ञानं तद्विषयता वर्षणे इति लक्षणसमन्वयः। ननु यदैव ब्राह्मणद्वारा जपो जातस्तदैव देवकर्तृकं वर्षणमपि जातमिति वर्षणे जपो हेतुर्भवति, तथा च 'हेतौ' इति परत्वात् तृतीया स्यादिति चेन्न, 'लक्षणेत्थम्–' इत्यादिना कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानेन सिद्धे पुनः कर्मप्रवचनीयसंज्ञाविधानसामर्थ्यान्नेति। नच विजातीयया संज्ञया तृतीयायाः विभक्तेर्बाधः कर्तुं न शक्यः इति वाच्यम्, संज्ञाविधानबोधितद्वितीयाविधानसामर्थ्यात्।

उप हरिं सुराः (ई. ५९)—हरेर्हीनाः इत्यर्थः। अत्र 'उपोऽधिके च' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीया।

भक्तो विष्णुं प्रति (ई. ५२, ५३)—अत्र 'लक्षणेत्थम्भूताख्यान' इति प्रतीत्यस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीया भवति। विष्णुविषयकभक्तिमानित्यर्थः। इत्थम्भूताख्यानस्योदाहरणमेतत्।

लक्ष्मीर्हरिं प्रति (ई. ५८)—अत्र 'लक्षणेत्थम्–' इति प्रतेः कर्मप्रव-

परि, अनु वा । हरेर्भाग इत्यर्थः । वीप्सायाम्—वृक्षं वृक्षं प्रति, परि, अनु वा सिञ्चति । अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम् । 'एषु' किम् ? परिषिञ्चति । ५५४ अभिरभागे १।४।९१ भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात् । हरिमभि वर्तते । भक्तो हरिमभि । देवं देवमभिसिञ्चति । 'अभागे' किम् ? यदत्र ममाभिष्यात्तद्दीयताम् । ५५५ अधिपरी अनर्थकौ १।४।९३ उक्तसंज्ञौ स्तः । कुतोऽध्यागच्छति । कुतः पर्यागच्छति । गतिसंज्ञाबाधात् 'गतिर्गतौ' (सू ३९७७) इति निघातो न । ५५६ सुः पूजायाम् १।४।९४ सुसिक्तम् । सुस्तुतम् । अनुपसर्गत्वान्न षः । 'पूजायाम्' किम् ? सुषिक्तं किं तवात्र ? क्षेपोऽयम् । ५५७ अतिरतिक्रमणे च १।४।९५। अतिक्रमणे, पूजायां च अतिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । अति देवान् कृष्णः ।

५५८ । अपिः पदार्थसम्भावनाऽन्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु १।४।९६ एषु द्योत्येष्वपिरुक्तसंज्ञः स्यात् । सर्पिषोऽपि स्यात् । अनुपसर्गत्वान्न षः ।

चनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीया भवति । भागस्योदाहरणमिदम् । स्वामित्वं द्वितीयार्थः, प्रत्यादिद्योत्यः । तदुक्तं मूले हरेर्भाग इत्यर्थः ।

वृक्षं वृक्षं प्रति (ई. ६८, ७१)—अत्र 'लक्षणेत्थम्–' इति सूत्रेण वीप्सार्थे प्रतेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां तद्योगे द्वितीया भवति । नच सेचने वृक्षस्य कर्मत्वादेव द्वितीयासिद्धेः किमिह कर्मप्रवचनीयसंज्ञयेति चेत् सत्यम्, कर्मप्रवचनीयसंज्ञया उपसर्गसंज्ञायाः बाधात् 'उपसर्गात् सुनोति–' इति षत्ववारणाय तस्यावश्यकत्वात् । द्वित्वन्तु 'नित्यवीप्सयोः' इति बोध्यम् । वृक्ष वृक्षं प्रति सिञ्चति = कृत्स्नं वृक्षं सिञ्चतीत्यर्थः ।

अति देवान् कृष्णः (ई. ६५, ६६, ७२)—लोकसंरक्षणविषये देवेभ्योऽधिकः कृष्णः इत्यर्थः । देवानां पूज्य इति वार्थः । अत्र 'अतिरतिक्रमणे च' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीया ।

सर्पिषोऽपि स्यात् (ई. ५५, ६८)—सर्पिरवयवबिन्दुरपि स्यादित्यर्थः । स्यादिति सम्भावनायां लिङ्, अपिशब्दस्य कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तदौर्लभ्यत्वसम्बन्धेन स्यात् क्रियया सह सम्बन्धः । अप्रयुज्यमानबिन्दुरूपार्थमपिशब्दो द्योतयतीति बिन्दुना योगे सर्पिषः इत्यवयवावयविभावसम्बन्धे षष्ठी । कर्मप्रवचनीयद्योत्य-

सम्भावनायां लिङ्। तस्या एव विषयभूते भवने कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्नपिशब्दः स्यादित्यनेन सम्बध्यते। 'सर्पिषः' इति षष्ठी तु अपिशब्द बलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवयवावयविभावसम्बन्धे। इयमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थद्योतकता नाम। द्वितीया तु नेह प्रवर्तते, सर्पिषो बिन्दुना योगो न त्वपिनेत्युक्तत्वात्। अपि स्तुयाद्विष्णुम्। सम्भावनं शक्त्युत्कर्षमाविष्कर्तुमत्युक्तिः। अपि स्तुहि। अन्ववसर्गः कामचारानुज्ञा। धिग्देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम्, गर्हा। अपि सिञ्च। अपि स्तुहि—समुच्चये। ५५९ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे २।३।५ इह द्वितीया स्यात्। मासं कल्याणी। मासमधीते। मासं गुडधानाः। क्रोशं कुटिला नदी। क्रोशमधीते। क्रोशं गिरिः। 'अत्यन्तसंयोगे' किम्? मासस्य द्विरधीते। क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः। इति द्वितीया विभक्तिः।

५६० स्वतन्त्रः कर्ता १।४।५४ क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्।

सम्बन्धप्रतियोगित्व कर्मप्रवचीययुक्तत्वम्' इति लक्षणेन सम्बन्धस्य प्रतियोगी बिन्दुरेव नतु सर्पिरिति सर्पिष्शब्दात् द्वितीया नेति।

अपि स्तुयाद् विष्णुम् (ई. ५८)—सम्भावनद्योतकस्याऽपिशब्दस्योदाहरणमेतत्। स्यादित्यत्र 'सम्भावनेऽलमिति चेत् सिद्धाप्रयोगे' इति लिङ्। 'उपसर्गात् सुनोति' इति षत्वन्तु न, 'अपिः पदार्थ—' इति कर्मप्रवचनीयत्वे उपसर्गत्वबाधाद्। अवाङ्मनसगोचरं विष्णुमपि स्तुयादित्यर्थः। अत्युक्तिरियम्, अवाङ्मनसगोचरस्य विष्णोः केनापि स्तोतुमशक्यत्वात्।

अपि स्तुहि (ई. ६१)—अन्ववसर्गद्योतकस्याऽपिशब्दस्योदाहरणमेतत्। अन्ववसर्गः कामचारानुज्ञा। विष्णुं स्तुहि वा, न वा, यथेष्टं कुर्वित्यर्थः। स्तुहीत्यत्र 'प्रैषातिसर्ग—' इति लोट्। 'उपसर्गात् सुनोति—' इति षत्वं तु न 'अपिः पदार्थ—' इति कर्मप्रवचनीयत्वे उपसर्गत्वबाधात्।

मासं कल्याणी (ई. ६५, ६८)—'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इत्यस्य गुणक्रियाद्रव्यैः कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया स्यादित्यर्थः। सा च कालाध्वभ्यामेव भवति श्रुतत्वात्। ततश्च गुणात्यन्तसंयोगस्योदाहरणमेतत्। त्रिंशद्दिनात्मके कालेऽविच्छिन्नमङ्गलवानित्यर्थः।

५६१ साधकतमं करणम् १।४।४२ क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारक करणसंज्ञं स्यात्। तमब्ग्रहणं किम्? गङ्गायां घोषः। ५६२ कर्तृकरणयोस्तृतीया २।३।१८ अनभिहिते कर्तरि, करणे च तृतीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो वाली। १३८ प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम् *। प्रकृत्या चारुः। प्रायेण याज्ञिकः। गोत्रेण गार्ग्यः। समेनैति। विषमेणैति। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति। सुखेन दुःखेन वा याति। इत्यादि। ५६३ दिवः कर्म च १।४।४३ दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्याच्चात् करणसंज्ञम्। अक्षैरक्षान् वा दीव्यति। ५६४ अपवर्गे तृतीया २।३।६ अपवर्गः=फलप्राप्तिः, तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात्। अह्ना, क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः। 'अपवर्गे' किम्? मासमधीतो नायातः। ५६५ सहयुक्तेऽप्रधाने २।३।१९ सहार्थेन युक्तेऽप्रधाने तृतीया स्यात्। पुत्रेण सहागतः पिता। एवं साकंसार्धं-

---

तमब्ग्रहणं किं (ई. ५४, ५६, ५७, ६०)—अयम्भावः, करणमिति महासंज्ञया साधके लब्धे साधकग्रहणमेव साधकतमार्थं भविष्यतीति 'साधकतमं करणम्' इति सूत्रे तमब्ग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न, 'अस्मिन् कारकाधिकारे शब्दसामर्थ्यगम्यः प्रकर्षो नाश्रीयते' इति ज्ञापनार्थत्वात्। तेन 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गौणाधारेऽपि सप्तमी सिद्धा। अन्यथा अधिकरणमिति महासंज्ञयैव आधारे लब्धे आधारग्रहणात् सर्वावयवव्याप्त्या य आधारस्तस्यैव ग्रहणापत्तौ तिलेषु तैलम्, दध्नि सर्पिः, इत्यादावेव सप्तमी स्यान्नतु गङ्गायां घोषः इत्यादौ। अत्र गङ्गापदस्य तत्तीरे लक्षणा बोध्या।

रामेण बाणेन हतो वाली—अत्र वालिवधानुकूला धनुराकर्षणादिरूपा क्रिया हन्धात्वर्थः, तत्र स्वातन्त्र्येण विवक्षितत्वाद् रामस्य 'स्वतन्त्रः कर्ता' इति कर्तृसंज्ञा, बाणनिष्ठा क्रिया लक्ष्यवेधनं, तदव्यवधानेन वालिवधसिद्धेर्विवक्षिततया बाणस्य 'साधकतमं करणम्' इति करणसंज्ञा, 'ततश्च 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इत्यनेनोभयत्र तृतीयायां तत्सिद्धिः।

अक्षैरक्षान् वा दीव्यति (ई. ५०, ५६, ६२, ६३)—अत्र 'दिवः कर्म च' इति दिवः साधकतमस्याऽक्षस्य कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायां सत्याम् 'अक्षान् दीव्यति' इति भवति। चात्करणसंज्ञायां सत्यां तु 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इति तृतीयायाम् 'अक्षैर्दीव्यति' इति च भवति।

पुत्रेण सहागतः पिता (ई. ६१, ६३)—'सहयुक्तेऽप्रधाने' इति सूत्रेण

समंयोगेऽपि। विनापि तद्योगं तृतीया, 'वृद्धो यूना—' (सू ९३३) इत्यादिनिर्देशात्। ५६६ येनाङ्गविकारः २।३।२० येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात्। अक्ष्णा काणः। अक्षिसम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः। 'अङ्गविकारः' किम्? अक्षि काणमस्य। ५६७ इत्थम्भूतलक्षणे २।३।२१ किञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात्। जटाभिस्तापसः। जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः। ५६८ संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि २।३।२२ सम्पूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात्। पित्रा पितरं वा सञ्जानीते। ५६९ हेतौ २।३।२३ हेत्वर्थे तृतीया स्यात्। द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापारसाधारणं च हेतुत्वम्। करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च। दण्डेन घटः। पुण्येन दृष्टो हरिः। फलमपीह हेतुः। अध्ययनेन वसति। गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका। अलं श्रमेण। श्रमेण साध्यं नास्तीत्यर्थः। इह साधनक्रियां प्रति श्रमः करणम्। शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः। शतेन परिच्छिद्येत्यर्थः। १३९ अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे

अत्र तृतीया भवति। पितुरत्रागमनक्रियासम्बन्धः शाब्दः। पुत्रस्य तु तत्साहित्यगम्य आर्थिक इति तस्याप्राधान्यम्।

अक्ष्णा काणः (ई. ५०, ५१, ६५)—अत्र 'येनाङ्गविकारः' इति सूत्रेण तृतीया भवति। काणशब्दोऽत्र काणत्ववति वर्तते। सम्बन्धश्चात्र तृतीयार्थः। अक्षिसम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः। अक्षिविकारप्रयुक्तकाणत्ववानिति यावत्।

जटाभिस्तापसः (ई. ४७, ५०, ५४, ५६)—'इत्थंभूतलक्षणे' इति सूत्रेणाऽत्र तृतीया भवति। लक्ष्यलक्षणभावोऽत्र तृतीयार्थस्तदाह मूले—जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः। न च ज्ञाने करणत्वादेव तृतीया सिद्धेति वाच्यम्, करणत्वाऽविवक्षायां लक्ष्यलक्षणभावमात्रविवक्षायां तृतीयार्थत्वादिति।

अध्ययनेन वसति (ई. ५१, ५५, ५८)—अत्र 'हेतौ' इति सूत्रेण तृतीया भवति। नचात्र अध्ययनस्य गुरुकुलवासम्प्रति न हेतुत्वं प्रत्युत अध्ययनस्यैव वाससाध्यत्वमिति चेन्न, 'फलमपि हेतुरि'ति मूले उक्तत्वात्। तादर्थ्यविवक्षायां तु 'अध्ययनाय वसति' इत्यपि भवितुमर्हतीति तत्त्वविदः।

हेतु-करणयोर्भेदः—परिशिष्टे द्रष्टव्यः।

तृतीया*। दास्या संयच्छते कामुकः। धर्म्ये तु—भार्यायै संयच्छति। इति तृतीया विभक्तिः।

५७० कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् १।४।३२ दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात्। ५७१ चतुर्थी सम्प्रदाने २।३।१३ विप्राय गां ददाति। अनभिहित इत्येव। दानीयो विप्रः। १४० क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्*। पत्ये शेते। १४१ यजेः कर्मणः करणसंज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा*। पशुना रुद्रं यजते। पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः। ५७२ रुच्यर्थानां प्रीयमाणः १।४।३३ रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात्। हरये रोचते भक्तिः। अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः, हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्री। 'प्रीयमाणः' किम्? देवदत्ताय रोचते

विप्राय गां ददाति (ई. ५६)—विप्रमुद्दिश्य गां ददातीत्यर्थः। अत्र 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' इति सम्प्रदानसंज्ञायां 'चतुर्थी सम्प्रदाने' इति चतुर्थी भवति।

पत्ये शेते (ई. ६६)—पतिमुद्दिश्य शेत इत्यर्थः। अत्र 'क्रियया यमभिप्रैति' इति वार्तिकेन सम्प्रदानसंज्ञायां 'चतुर्थी सम्प्रदाने' इति चतुर्थी भवति। नन्वेवम् 'ओदनं पचति' इत्यत्रापि सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी कुतो नेति चेन्न, अकर्मकस्थले सावकाशायाः सम्प्रदानसंज्ञायाः सकर्मकस्थले कर्मसंज्ञया बाधात्।

पशुना रुद्रं यजते (ई. ५५, ५८, ६०)—पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः। अत्र 'यजेः कर्मणः' इति वार्तिकेन कर्मणः पशोः करणसंज्ञायां सम्प्रदानस्य रुद्रस्य च कर्मसंज्ञायां क्रमेण तृतीयाद्वितीये भवतः।

हरये रोचते भक्तिः (ई. ६१, ६३)—भक्तिः स्वविषयां प्रीतिं हरौ जनयतीत्यर्थः। अत्र भक्तिगतव्यापारप्रयोज्यप्रीत्याश्रयत्वात् हरेः कर्मत्वं प्राप्तं तम्प्रबाध्य 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी भवति। नन्वेवं 'हरिर्भक्तिमभिलष्यती'त्यत्राऽपि रुच्यर्थत्वात् सम्प्रदानत्वं कुतो नेति चेन्न, अभिलष्यतिकर्त्रपेक्षया यदन्यदभिलष्यतिकर्म तत्कर्तृकस्यैव रुच्यर्थकस्य ग्रहणेनादोषात्। अत एवोक्तं मूले हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्रीति।

अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः (ई. ५०, ५६, ५९)—'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति सूत्रे 'अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः'। अर्थात् अन्यो नाम अभि-

मोदकः पथि। ५७३ **श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः** १।४।३४ एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात्। गोपी स्मरात्कृष्णाय श्लाघते, ह्नुते, तिष्ठते, शपते वा। 'ज्ञीप्स्यमानः' किम्। देवदत्ताय श्लाघते पथि। ५७४ **धारेरुत्तमर्णः** १।४।३५ धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसंज्ञः स्यात्। भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः। उत्तमर्णः किम्? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे। ५७५ **स्पृहेरीप्सितः** १।४।३६ स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात्। पुष्पेभ्यः स्पृहयति। 'ईप्सितः' किम्? पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति। ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा। प्रकर्षविवक्षायां तु परत्वात् कर्मसंज्ञा। पुष्पाणि स्पृहयति। ५७६ **क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः** १।४।३७ क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसंज्ञः स्यात्। हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति। 'यं प्रति कोपः' किम्? भार्यामीर्ष्यति-मैनामन्योऽद्राक्षीदिति। क्रोधोऽमर्षः। द्रोहोऽपकारः। ईर्ष्या अक्षमा। असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्। द्रोहादयोऽपि कोपप्रभवा गृह्यन्ते। अतो विशेषणं सामान्येन 'यं प्रति कोपः' इति। ५७७ **क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म** १।४।३८ सोपसर्गयोरनयोर्यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। क्रूरमभिक्रुध्यति। अभिद्रुह्यति। ५७८ **राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः** १।४।३९ एतयोः कारकं सम्प्रदानं स्यात्। यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते। कृष्णाय राध्यति, ईक्षते वा। पृष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः। ५७९ प्रत्या-

---

लष्यतिकर्म तत्कर्ता यस्य स अन्यकर्तृकः, एवम्भूतोऽभिलापो रुच्धात्वर्थः, इत्यर्थः। एवं च 'हरये रोचते भक्तिः' इत्यत्र रुच्धातुयोगे भक्तिपदं कर्तृ भवति। हरिर्भक्तिमभिलष्यति' इत्यत्र तु अभिपूर्वकलष्धातुयोगे भक्तिपदं कर्म भवतीति नोभयत्र विरोध इति दिक्।

पुष्पेभ्यः स्पृहयति (ई. ५४)—अत्र 'स्पृहेरीप्सितः' इति ईप्सितमात्रे सम्प्रदानसंज्ञायां 'चतुर्थी सम्प्रदाने' इति चतुर्थी। प्रकर्षविवक्षायां तु 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'ति परत्वात् कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायां सत्यां 'पुष्पाणि स्पृहयति' इत्यपि भवति।

क्रूरमभिक्रुद्ध्यति (ई. ५९, ६०, ६७)—अत्र 'क्रुधद्रुह' इति प्राप्तसम्प्रदानसंज्ञां प्रबाध्य 'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म' इति कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीया भवति।

ङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता १।४।४० आभ्यां परस्य शृणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तन-रूपव्यापारस्य कर्ता सम्प्रदानं स्यात् । विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा । विप्रेण 'मह्यं देहि' इति प्रवर्तितः प्रतिजानीते इत्यर्थः । ५८० अनुप्रतिगृणश्च १।४।४१ आभ्यां गृणातेः कारकं पूर्वव्यापारस्य कर्तृभूतमुक्तसञ्ज्ञं स्यात् । होत्रेऽनुगृणाति, प्रतिगृणाति । होता प्रथमं शंसति, तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः ।

५८१ परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् १।४।४४ नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणम्, तस्मिन्साधकतमं कारकं सम्प्रदानसंज्ञं वा स्यात् । शतेन-शताय वा परिक्रीतः । १४२ तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या* । मुक्तये हरिं भजति । १४३ क्लृपि सम्पद्यमाने च* । भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते, सम्पद्यते, जायते । इत्यादि । १४४ उत्पातेन ज्ञापिते च* । वाताय कपिला विद्युत् । १४५ हितयोगे च* । ब्राह्मणाय हितम् ।

५८२ क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः २।३।१४ क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात् । फलेभ्यो याति । फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः । नमस्कुर्मो नृसिंहाय । नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः । एवं 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' इत्यादावपि । ५८३ तुमर्थाच्च भाववचनात् २।३।१५ 'भाववचनाश्च' (सू ३१८२) इति सूत्रेण यो विहितस्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात् । यागाय याति यष्टुं यातीत्यर्थः । ५८४ नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च २।३।१६ एभिर्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः । 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' (प १०३) । नमस्करोति

विप्राय गां प्रतिशृणोति (ई. ६१, ६३)—विप्रेण मह्यं गवादिद्रव्यं देहीति प्रवर्तितस्तत्प्रतिजानीत इत्यर्थः । अत्र 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता' इति सम्प्रदानसंज्ञायां 'चतुर्थी सम्प्रदाने' इति चतुर्थी भवति ।

क्रियार्थोपपदस्य च (ई. ५१)—क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्य सा क्रियार्था सा क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यादित्यर्थः ।

नमस्कुर्वो नृसिंहाय (ई. ५६)—नृसिंहमनुकूलयतुमित्यर्थः । अत्र 'क्रियार्थोपपदस्य चे'ति चतुर्थी । 'नमःस्वस्ति–' इति सूत्रेणात्र चतुर्थी तु न, उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति चतुर्थी प्रबाध्य द्वितीयापत्तेः ।

नमस्करोति देवान् (ई. ५८)—करशिरस्संयोगादिना तोषयतीत्यर्थः ।

देवान् । प्रजाभ्यः स्वस्ति । दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः, समर्थः, शक्त इत्यादि । प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि साधुः, 'तस्मै प्रभवति—' (सू १७६५) 'स एषां ग्रामणीः' (सू १८७८) इति निर्देशात् । तेन 'प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' इति सिद्धम् । वषडिन्द्राय । चकारः पुनर्विधानार्थः । तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषि–' (सू ६३२) इति षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति, स्वस्ति गोभ्यो भूयात् ।

५८५ मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु २।३।१७ प्राणिवर्जे 'मन्यतेः' कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्तिरस्कारे । न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा । श्यना निर्देशात्तानादिकयोगे न । न त्वां तृणं मन्ये । १४६ अप्राणिष्वित्यपनीय नौकाकान्नशुकशृगालवर्जेष्विति वाच्यम् * । तेन 'न त्वां नावमन्नं वा मन्ये' इत्यत्राप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न । 'न त्वां शुने मन्ये' इत्यत्र प्राणित्वेऽपि भवत्येव । ५८६ गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि २।३।१२ अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मण्येते स्तश्चेष्टायाम् । ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति । 'चेष्टायाम्' किम् ? मनसा हरिं व्रजति । 'अनध्वनि' इति किम् ? पन्थानं गच्छति । गन्त्राऽधिष्ठितेऽध्वन्येवायं निषेधः । यदा तूत्पथात्पन्था एवाक्रमितुमिष्यते तदा चतुर्थी भवत्येव, उत्पथेन, पथे गच्छति । इति चतुर्थी विभक्तिः ।

अत्र 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति परिभाषाबलात् 'नमः-स्वस्ति–' इति सूत्रं प्रबाध्य कर्मत्वात् द्वितीयैव भवति, नतु चतुर्थीति ।

स्वस्ति गोभ्यो भूयात् (ई. ५६)—अत्र 'नमः स्वस्ति' इति चतुर्थी । नन्वत्र 'चतुर्थीचाशिष्या' इति चतुर्थी, पक्षे षष्ठी च कुतो नेति चेन्न, 'नमः स्वस्ति–' इति सूत्रे चकारस्य पुनर्वृद्धिविधानार्थत्वेनाश्रयणादत्र आशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषी'ति षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवतीति दिक् ।

न त्वां शुने मन्ये (ई. ६७)--हे देवदत्त ! त्वां श्वत्वेनापि न मन्ये इत्यर्थः । अत्र प्राणित्वात् 'मन्यकर्मणि–' इति चतुर्थी विकल्पो न स्यादित्यव्याप्तिवारणाय तत्र सूत्रे अप्राणिष्वित्यपनीय 'नौकाकान्नेति' वार्तिकं विहितं तेनात्र प्राणित्वेऽपि चतुर्थी सिद्ध्यति ।

उत्पथेन पथे गच्छति (ई. ५५)—अयम्भावः, 'गत्यर्थकर्मणि द्वितीया-चतुर्थ्यौ' इति सूत्रे 'अनध्वनि' इत्युक्तम् । तेन 'पन्थानं गच्छति' इत्यादौ चतुर्थी न भवति । अत्र मूले 'गन्त्राऽधिष्ठितेऽध्वन्येवाऽयं निषेधः' इत्युक्तं तेन प्रकृते

५८७ ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४ अपायो विश्लेषः, तस्मिन्साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात्। ५८८ अपादाने पञ्चमी २।३।२८ ग्रामादायाति। धावतोऽश्वात्पतति। 'कारकम्' किम्? वृक्षस्य पर्णं पतति। १४७ जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसङ्ख्यानम *। पापाज्जुगुप्सते, विरमति। धर्मात्प्रमाद्यति। ५८९ भीत्रार्थानां भयहेतुः १।४।२५ भयार्थानां, त्राणार्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादानं स्यात्। चोराद्बिभेति। चोरात् त्रायते। 'भयहेतुः' किम्? अरण्ये बिभेति, त्रायते वा। ५९० पराजेरसोढः १।४।२६ पराजेः प्रयोगेऽसह्योऽर्थोऽपादानं स्यात्। अध्ययनात्पराजयते। ग्लायतीत्यर्थः। 'असोढः' किम्? शत्रून्पराजयते। अभिभवतीत्यर्थः। ५९१ वारणार्थानामीप्सितः १।४।२७ प्रवृत्तिविघातो वारणम्। वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽर्थोऽपादानं स्यात्। यवेभ्यो गां वारयति। 'ईप्सितः' किम्? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे। ५९२ अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति १।४।२८ व्यवधाने सति यत्कर्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात्। मातुर्निलीयते

चतुर्थी भवति। पक्षे द्वितीया चेति। उत्पथेनेत्यन्तरं गन्तुमशक्तः इति शेषः। उत्पथेन काशीं प्राप्तुमशक्तः उत्पथं परित्यज्य काशीमार्गं प्रवेष्टुं तदीयं मार्गमनुसरतीत्यर्थः।

पापाज्जुगुप्सते विरमति (ई. ५४, ६०)—पापविषये 'कुत्सितत्वबुद्ध्या न रमत इत्यर्थः। विरमतीत्यत्र पापादित्यनुषज्यते। पापविषये न प्रवर्तत इत्यर्थः। अत्र 'जुगुप्सा' इति वार्तिकेन अपादानात् पञ्चमी बोध्या।

चोराद् बिभेति (ई. ५०)—अत्र भयार्थकभीधातुप्रयोगे चोरस्य भयजनकत्वेन 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानसंज्ञायाम् 'अपादाने पञ्चमी' इति पञ्चमी।

अध्ययनात् पराजयते (ई. ५४)—अत्र 'पराजेरसोढः' इत्यपादानत्वात् पञ्चमी बोध्या। 'पराजयते' इत्यस्य ग्लायतीत्यर्थः। असहनादिति शेषः। यदा असहनान्निवर्तत इत्यर्थ आश्रीयते तदा 'ध्रुवमपाये—' इत्यपादानत्वादेव सिद्धमिति भाष्ये उक्तम्।

मातुर्निलीयते कृष्णः (ई. ५१, ५८, ६१, ६३, ६५)—कृष्णः मातृकर्तृकत्वविषयकदर्शनविरहाय कुड्यादिना प्रच्छन्नो भवतीत्यर्थः। अत्र व्यवधान-

कृष्णः । 'अन्तर्धौ' किम् ? चौरान्न दिदृक्षते । 'इच्छति' ग्रहणं किम् ? अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात् । ५९३ आख्यातोपयोगे १।४।२९ नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात् । उपाध्यायादधीते । 'उपयोगे' किम् ? नटस्य गाथां शृणोति । ५९४ जनिकर्तुः प्रकृतिः १।४।३० जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात् । ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते । ५९५ भुवः प्रभवः १।४।३१ भवनं भूः । भूकर्तुः प्रभवस्तथा । हिमवतो गङ्गा प्रभवति । तत्र प्रकाशत इत्यर्थः । १४८ ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च* । प्रासादात्प्रेक्षते । आसनात्प्रेक्षते । प्रासादमारुह्य, आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः । श्वशुराज्जिह्रेति । श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः । १४९ गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तीनां निमित्तम् * । कस्मात्त्वम् ? नद्याः । १५० यतश्चाध्वकालनिर्माण तत्र पञ्चमी * । १५१ तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ * । १५२ कालात्सप्तमी च वक्तव्या * । वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा । कार्तिक्या आग्रहायणी मासे । ५९६ अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते २।३।२९ एतैर्योगे पञ्चमी स्यात् । 'अन्य'—इत्यर्थग्रहणम् । 'इतर' ग्रहणं प्रपञ्चार्थम् । अन्यो, भिन्न, इतरो वा कृष्णात् । आराद्वनात् । ऋते कृष्णात् । पूर्वो ग्रामात् । दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः । तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति, चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः । अवयववाचियोगे तु न, 'तस्य परमा-

---

कृष्णेनेष्यमाणतया 'अन्तर्धौ' येनाश्रित्य मातृकर्तृकस्वविषयकदर्शनविरहस्य दर्शनमिच्छति' इति मातुरपादानत्वाद् 'अपादाने' पञ्चमी' इति पञ्चमी ।

उपाध्यायादधीते (ई. ५२, ५६)—नियमविशेषपूर्वकमुपाध्यायस्योच्चारणमनुच्चारयतीत्यर्थः । अत्र 'आख्यातोपयोगे' इति सूत्रेण अपादानसंज्ञायाम् 'अपादाने पञ्चमी' इति पञ्चमी भवति ।

चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः (ई. ५३, ५५, ६०)—अयम्भावः, 'अन्यारादितरर्ते' इति सूत्रे दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्द इति दिक्शब्दस्य व्याख्यायां यः शब्दः कदाचित् दिशाया वाचकः स्यात्—प्रयोगकाले दिशाया वाचको भवेन्न भवेत्तथापि तद्योगे पञ्चमी भवत्येव । तथा च 'चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः' इत्यादौ पूर्वशब्दः कालस्य वाचको वर्तते न तु दिशायाः, तथापि तद्योगे चैत्रादिति पञ्चमी सिद्धा ।

म्रेडितम्' (सू ८३) इति निर्देशात् । पूर्वं कायस्य । अञ्चूत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेऽपि 'षष्ठ्यतसर्थ'–(सू ६१०) इति षष्ठीं बाधितुं पृथग्ग्रहणम् । प्राक्, प्रत्यग्वा ग्रामात् । आच् दक्षिणा ग्रामात् । आहि–दक्षिणाहि ग्रामात् । 'अपादाने पञ्चमी' (सू ५८८) इति सूत्रे 'कार्तिक्याः प्रभृति' इति भाष्य-प्रयोगात्प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी । भवात्प्रभृति, आरभ्य वा सेव्यो हरिः । 'अपपरि-बहिः'—(सू ६६७) इति समासविधानात् ज्ञापकाद् बहिर्योगे पञ्चमी, ग्रामाद् बहिः । ५९७ अपपरी वर्जने १।४।८८ एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः । ५९८ आङ् मर्यादावचने १।४।८९ आङ् मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात् । वचनग्रहणादभिविधावपि । ५९९ पञ्चम्यपाङ्परिभिः २।३।१० एतैः कर्म-प्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात । अप हरेः, परि हरेः संसारः । परिरत्र वर्जने ।

प्राक् प्रत्यग् वा ग्रामात् (ई. ५७, ५८)—अयम्भावः, 'अन्यारादि-तरर्ते' इति सूत्रे अञ्चूत्तरपदस्य प्राक् प्रत्यक् इत्यादेरपि दिशावाचकत्वाद् दिक्-शब्दत्वेनैव तद्योगे पञ्चम्यां सिद्धायां पुनरञ्चूत्तरपदग्रहणं 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन' इति सूत्रविहितषष्ठ्याः बाधनार्थम् । तथा च 'प्राक्' 'प्रत्यग्' इत्यादौ 'दिक्-शब्देभ्यः' इत्यादिसूत्रविहितस्य अस्तातिप्रत्ययस्य 'अञ्चेर्लुक्' इति लुकि तद्योगे षष्ठी न भवति, किन्तु पञ्चम्येव ।

दक्षिणाहि ग्रामात् (ई. ५६, ६२)—ग्रामावधिकायां दक्षिणस्यां दिशि दूर इत्यर्थः । अत्र 'आहि च दूरे' इति आहिप्रत्ययः, ततश्च 'अन्यारादितरर्ते' इत्यनेन आहिप्रत्ययान्तयोगे पञ्चमी सिद्ध्यति ।

ग्रामाद् बहिः (ई. ६६)—अयम्भावः, वर्जनार्थयोरपपर्योः कर्म-प्रवचनीयसंज्ञायां तयोर्योगे 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति सूत्रेण पञ्चम्येव भवि-ष्यतीति तयोः साहचर्येण अञ्चूत्तरपदयोगेऽपि पञ्चम्या एव सिद्धत्वेन पञ्च-म्यन्तेन समासे सिद्धे 'अपपरिबहि—' इति सूत्रे पञ्चमीपदं व्यर्थं सत् बहिर्योगे पञ्चमी भवतीति ज्ञापयति तेन 'ग्रामाद् बहिः' इति सिद्धम् ।

परि हरेः संसारः (ई. ५८, ६८, ६४)—हरिं वर्जयित्वा जनिमृति-चक्रात्मकं संसरणमित्यर्थः । अत्र 'आङ्मर्यादावचने' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति कर्मप्रवचनीययोगे हरिशब्दात् पञ्चमी । अत्र सूत्रे वर्जनार्थकेनापेन साहचर्यात् परिरपि वर्जनार्थक एव गृह्यते । अन्यथा 'वृक्षं प्रति विद्योतते,' 'भक्तो हरिं प्रति' इत्यादावपि परत्वादपवादत्वाच्च द्वितीयां

लक्षणादौ तु—हरिं परि। आमुक्तेः संसारः। आसकलाद् ब्रह्म। ६०० प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः १।४।९२ एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात्। ६०१ प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् २।३।११ अत्र कर्मप्रवचनीययोगे पञ्चमी स्यात्। प्रद्युम्नः कृष्णात्प्रति। तिलेभ्यः प्रति यच्छति माषान्। ६०२ अकर्तर्यृणे पञ्चमी २।३।२४ कर्तृवर्जितं यदृणं हेतुभूतं ततः पञ्चमी स्यात्। शताद् बद्धः। 'अकर्तरि' किम्? शतेन बन्धितः। ६०३ विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् २।३।२५ गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात्। जाड्यात्—जाड्येन वा बद्धः। 'गुणे' किम्? धनेन कुलम्। 'अस्त्रियाम्' किम्? बुद्ध्या मुक्तः। 'विभाषा' इति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित्, धूमादग्निमान्। नास्ति घटोऽनुपलब्धेः। ६०४ पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् २।३।३२ एभिर्योगे तृतीया स्यात्पञ्चमीद्वितीये च। अन्यतरस्यांग्रहणं समुच्चयार्थम्। पञ्चमी-द्वितीये चानुवर्तेते पृथग् रामेण-रामात्-रामं वा। एवं विना, नाना। ६०५ करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य २।३।३३ एभ्योऽद्रव्यवचनेभ्यः करणे तृतीयापञ्चम्यौ स्तः। स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः। द्रव्ये तु स्तोकेन विषेण हतः। ६०६ दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च २।३।३५ एभ्यो द्वितीया स्याच्चात्पञ्चमीतृतीये। प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम्। ग्रामस्य दूरम्—दूरात्—दूरेण वा, अन्तिकम्—अन्तिकात्—अन्ति-

---

बाधित्वा अनेन पञ्चमी दुर्वारा स्यात्। लक्षणादौ तु 'हरिं परि' इति बोध्यम्।

आमुक्तेः संसारः (ई. ५७, ६२)—मुक्तेः प्रागिति यावत्। अत्र 'आङ्मर्यादावचने' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इति कर्मप्रवचनीययोगे मुक्तिशब्दात् पञ्चमी।

तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् (ई. ५९, ६३)—ऋणत्वेन गृहीतान् तिलान् स्वरूपेण मूल्याद्यात्मना वा प्रत्यर्पयतीत्यर्थः। अत्र 'प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्' इति पञ्चमी।

जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः—अत्र बन्धने जाड्यस्य हेतुत्वाद् गुणत्वाच्च 'विभाषागुणेऽस्त्रियाम्' इत्येन जाड्यशब्दात् पञ्चमी। तदभावे 'हेतौ' इति तृतीया।

केन वा । 'असत्त्ववचनस्य' इत्यनुवृत्तेर्नेह-दूरः पन्थाः । इति पञ्चमी विभक्तिः ।

६०७ षष्ठी शेषे २।३।५० कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषः, तत्र षष्ठी स्यात् । राज्ञः पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव : सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति । एधोदकस्योपस्कुरुते । भजे शम्भोश्चरणयोः । फलानां तृप्तः । ६०८ षष्ठी हेतुप्रयोगे २।३।२६ हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात् । अन्नस्य हेतोर्वसति । ६०९ सर्वनाम्नस्तृतीया च २।३।२७ सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात्षष्ठी च । केन हेतुना वसति । कस्य हेतोः । १५३ निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम् * । किं निमित्तं वसति, केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय, इत्यादि । एवं 'किं कारणम्' 'को हेतुः' 'किं प्रयोजनम्' इत्यादि । प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः । ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः । ज्ञानाय निमित्ताय । इत्यादि । ६१० षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन २।३।३० एतद्योगे षष्ठी स्यात् । '—दिक्छब्द—' (सू ५९६) इति पञ्चम्या अपवादः । ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्टात् । ६११ एनपा द्वितीया २।३।३१ एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यात् । 'एनपा' इति योगविभागात्षष्ठ्यपि । दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा । एवम् उत्तरेण । ६१२ दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् २।३।३४ एतैर्योगे षष्ठी स्यात्पञ्चमी च । दूरं, निकटं ग्रामस्य—ग्रामाद्वा । ६१३ ज्ञोऽविदर्थस्य करणे २।३।५१ जानातेरज्ञानार्थस्य करणे

सर्पिषो जानीते—करणत्वविवक्षायां सर्पिषा उपायेन प्रवर्तत इत्यर्थः । अत्र ज्ञाधात्वर्थप्रवृत्तौ सर्पिषो वस्तुतः करणत्वेऽपि तदविवक्षायां सम्बन्धमात्रे 'षष्ठी शेषे' इति षष्ठी ।

ज्ञानेन निमित्तेन (ई. ६५)—'निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्' इति वार्तिकम् । निमित्तपर्यायाणां प्रयोगे तेभ्यस्तत्समानाधिकरणेभ्यश्च सर्वासां विभक्तीनां प्रायेण प्रयोगो भवतीत्यर्थः । तेन 'किं निमित्तं, केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय वा वसति, इत्याद्युपपद्यते । अत्र वार्तिके प्रायग्रहणात् प्रकृतप्रयोगे असर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः । तेन 'ज्ञानं निमित्तं हरिः सेव्यः' इति केषाञ्चिन्मतं नोपपन्नम् ।

शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात्। सर्पिषो ज्ञानम्। ६१४ अधीगर्थदयेशां कर्मणि २।३।५२ एषां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। मातुः स्मरणम्। सर्पिषो दयनम्, ईशनं वा। ६१५ कृञः प्रतियत्ने २।३।५३ कृञः कर्मणि शेषे षष्ठी स्याद् गुणाधाने। एधो दकस्योपस्करणम्। ६१६ रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः २।३।५४ भावकर्तृकाणां ज्वरिवर्जितानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। चौरस्य रोगस्य रुजा। १५४ अज्वरिसन्ताप्योरिति वाच्यम् *। रोगस्य चौरज्वरः, चौरसन्तापो वा। रोगकर्तृकं चौरसम्बन्धि ज्वरादिकमित्यर्थः। ६१७ आशिषि नाथः २।३।५५ आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। सर्पिषो नाथनम्। 'आशिषि' इति किम्? माणवकनाथनम्।

सर्पिषो ज्ञानम् (ई. ५२)—वस्तुतः करणीभूतं यत् सर्पिः तत्सम्बन्धिनी प्रवृत्तिरित्यर्थः। अत्र 'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे' इति षष्ठी।

अयम्भावः—'ज्ञोऽविदर्थस्य करणे' इत्याद्यष्टसूत्रीविषये शेषत्वेन विवक्षिते 'षष्ठी शेषे' इति षष्ठ्यां सिद्धायाम् अष्टसूत्री व्यर्था सती—'अष्टसूत्र्या या या षष्ठी विधीयते सा सा षष्ठ्येव स्यान्न तु कैश्चिद् ज्ञानादिभिः सुबन्तैः सह तस्याः समासः' इति ज्ञापयति। तेन 'सर्पिषो ज्ञानम्' इत्याद्यसमस्तान्युदाहरणानि साधूनि भवन्ति। अतः 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते' इति वार्तिकमपि फलितम्।

चौरस्य रोगस्य रुजा (ई. ४७, ५१, ५४, ५८)—रुजेत्यत्र व्याधिकृतसन्तापादिपीडोच्यते। रोगः चौरं सन्तापादिना पीडयतीति पर्यवसितोऽर्थः। अत्र 'रुजार्थानां भाववचनानामज्वरे' इति चौरस्य शेषत्वविवक्षाया षष्ठी।

रोगस्य चौरज्वरः (ई. ५५)—रोगकर्तृकं चौरसम्बन्धिज्वरादिकमित्यर्थः। 'रुजार्थानां भाववचनामज्वरे' इत्यत्र 'अज्वरि सन्तापयोरिति वाच्यम्' इत्युक्तं वार्तिककृता, तेन 'ज्वरिसन्ताप्योः' रुजार्थकत्वाद् रोगात्मकत्वाभावकर्तृकत्वाच्च तत्कर्मणश्चौरस्य शेषत्वविवक्षायां नाऽनेन षष्ठी, किन्तु कृद्योगे, षष्ठी शेषे वा षष्ठी भवति। ततश्च 'चौरज्वरः' इति समासो भवत्येवेति।

सर्पिषो नाथनम् (ई. ५९, ६७, ६८)—वस्तुतः कर्मीभूतसर्पिःसम्बन्धि आशासनमित्यर्थः। अत्र ऋकारेत्संज्ञक 'नाथ' धातुः याच्ञोपतापैश्वर्याशिषु

तत्सम्बन्धिनी याच्ञेत्यर्थः। ६१८ जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् २।३।५६ हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। चौरस्योज्जासनम्। निप्रौ संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा। चौरस्य निप्रहणनम्, प्रणिहननम्, निहननम्, प्रहणनं वा। 'नट अवस्कन्दने' चुरादिः। चोरस्योन्नाटनम्। चौरस्य क्राथनम्? वृषलस्य पेषणम्। 'हिंसायाम्' किम्? धानापेषणम्। ६१९ व्यवहृपणोः समर्थयोः २।३।५७ शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता। शतस्य व्यवहरणं पणनं वा। 'समर्थयोः' किम्? शलाकाव्यवहारः। गणनेत्यर्थः। ब्राह्मणपणनम्। स्तुतिरित्यर्थः। ६२० दिवस्तदर्थस्य २।३।५८ द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात्। शतस्य दीव्यति। तदर्थस्य किम्? ब्राह्मणं दीव्यति। स्तौतीत्यर्थः।

६२१ विभाषोपसर्गे २।३।५९ पूर्वयोगापवादः। शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति। ६२२ प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने २।३।६१ देवतासम्प्रदानेऽर्थे वर्तमानयोः प्रेष्यब्रुवोः कर्मणो हविर्विशेषस्य वाचकाच्छब्दात्षष्ठी स्यात्। अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य, अनुब्रूहि वा। ६२३ कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे २।३।६४ कृत्वोऽर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात्। पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम्। द्विरह्नो भोजनम्। 'शेषे' किम्? द्विरहन्यध्ययनम्। ६२४ कर्तृकर्मणोः कृति २।३।६५ कृद्योगे कर्तरि, कर्मणि च षष्ठी स्यात्। कृष्णस्य कृतिः। जगतः कर्ता कृष्णः। १५५ गुणकर्मणि वेष्यते *। नेता अश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा। 'कृति' किम्? तद्धिते मा भूत्। कृतपूर्वी कटम्। ६२५ उभयप्राप्तौ कर्मणि २।३।६६ उभयोः प्राप्तिर्य-

---

वर्तते इति आशिषि अर्थे 'आशिषि नाथः' इति सर्पिरित्यस्य शेषत्वविवक्षायां षष्ठी भवति।

चौरस्य क्राथनम् (ई. ६८)—क्रथ हिंसायामिति घटादौ वर्तत इति हिंसार्थे 'जासिनिप्रहण' इति सूत्रेण चौरस्य शेषत्वविवक्षया षष्ठी। वस्तुतः कर्मीभूतचौरसम्बन्धिहननमित्यर्थः।

कृतपूर्वीकटम् (ई. ५६, ५८, ६०, ६३, ६५, ७०)—अयम्भावः, कर्तृकर्मभ्यां क्रियाया आक्षेपात् क्रियावाची च धातुरेव धातोश्च तिङ्कृतोर्विधानेऽपि तिङ्योगे 'न लोके' ति निषेधात् कृद्योगे एव भविष्यतीति व्यर्थं

स्मिन्कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात् । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन । १५६ स्त्रीप्रत्यययोरककारयोर्नायं नियमः * । भेदिका, बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः । १५७ शेषे विभाषा * । स्त्रीप्रत्यय इत्येके । विचित्रा जगतः कृतिर्हरेः—हरिणा वा । केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति । शब्दानामनुशासनमाचार्येण—आचार्यस्य वा । ६२६ क्तस्य च वर्तमाने २।३।६७ वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । 'न लोक—' (सू ६२८) इति निषेधस्यापवादः । राज्ञां मतो, बुद्धः, पूजितो वा । ६२७ अधिकरणवाचिनश्च २।३।६८ क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । इदमेषामासितं, शयितं, गतं, भुक्तं वा । ६२८ न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् २।३।६९ एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात् । लादेशः—कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः । उः—हरिं दिदृक्षुः, अलङ्करिष्णुर्वा । उक—दैत्यान्घातुको हरिः । १५८ कमेरनिषेधः * । लक्ष्म्याः कामुको हरिः । अव्ययम्—

कृद्ग्रहणं—कृदन्तमात्रनिष्ठशक्तिग्रहप्रयोज्योपस्थितिविषयीभूतक्रियानिरूपितकर्तृकर्मणोर्यथा स्यात्, तद्धितान्तनिष्ठशक्तिग्रहप्रयोज्योपस्थितिविषयीभूतक्रियानिरूपितकर्तृकर्मणोर्माभूदिति ज्ञापयति । तेन 'कृतपूर्वीकटम्, इत्यत्र न । अत्र कर्मणोऽविवक्षया भावे क्ते कृतं पूर्वमनेनेति विग्रहे 'सुप्सुपे'ति समासे 'पूर्वाच्चे'ति इनिः पुनः कर्मयोगविवक्षायां 'कृतपूर्वीकटम्' इति बोध्यम् ।

शेषे विभाषा (ई. ५५) – 'शेषे विभाषे'ति वचनतात्पर्यमित्थम्–एकस्मिन् कृति उभयोः (कर्तृकर्मणोः) षष्ठीप्रसक्तौ कर्मण्येव षष्ठी स्यात्, न तु कर्तरीत्यर्थः, 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति सूत्रे वार्तिककृता 'स्त्रीप्रत्यययोरकाकारनायं नियमः' इति वार्तिकमुक्त्वा 'शेषे विभाषा' इति वचनान्तरमुक्तम् । अकारप्रत्ययव्यतिरिक्तप्रत्यययोगे 'उभयप्राप्तवि'ति नियमो विकल्प्यत इत्यर्थः ।

राज्ञां मतो, बुद्धः, पूजितो वा (ई. ५३)—राजकर्तृकवर्तमानेच्छाविषयः, राजकर्तृकवर्तमानज्ञानविषयः, राजकर्तृकवर्तमानपूजाविषयः इति क्रमेणार्थः । अत्र 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति विहितवर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे राज्ञामित्यत्र षष्ठी ।

हरिं-दिदृक्षुः (ई. ५७, ५९)—हरिकर्मकदर्शनेच्छावानित्यर्थः । 'दिदृक्षुः' इति दृशेः सन्नन्तात् 'सनाशंसभिक्ष उः' इति उप्रत्ययान्तनिष्पन्नकृदन्तः । अत एवात्र 'न लोके'ति निषेधात् कर्मणि षष्ठी न ।

जगत्सृष्ट्वा । सुखं कर्तुम् । निष्ठा—विष्णुना हता दैत्याः । दैत्यान् हतवान्विष्णुः । खलर्थाः—ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा । 'तृन्' इति प्रत्याहारः, 'शतृशानचौ' इति तृशब्दादारभ्य आ तृनो नकारात् । शानन्—सोमं पवमानः । चानश्—आत्मानं मण्डयमानः । शतृ—वेदमधीयन् । तृन्—कर्ता लोकान् । १५९ द्विषः शतुर्वा * । मुरस्य—मुरं वा द्विषन् । सर्वोयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः । शेषे षष्ठी तु स्यादेव । ब्राह्मणस्य कुर्वन् । नरकस्य जिष्णुः । ६२९ अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः २।३।७० भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात् । सतः पालकोऽवतरति । व्रजं गामी । शतं दायी । ६३० कृत्यानां कर्तरि वा २।३।७१ षष्ठी वा स्यात् । मया मम वा सेव्यो हरिः । 'कर्तरि' इति किम् ? गेयो माणवकः साम्नाम् 'भव्यगेय–' (सू २८९४) इति कर्तरि यद्विधानादनभिहितं कर्म । अत्र योगो विभज्यते । 'कृत्यानाम्' । 'उभयप्राप्तौ' इति 'न'

सोमं पवमानः (ई. ५५)—'न लोकाऽव्यय–' इति सूत्रे 'तृन्' इति प्रत्याहारः—'शतृशानचा'विति 'तृ' शब्दारभ्य तृनो नकारात् । तेन शानच्प्रत्ययान्तेऽपि परे सोमशब्दात्र कर्मणि षष्ठी न ।

ब्राह्मणस्य कुर्वन् (ई. ५६, ५८)—मुखतो ब्राह्मसम्बन्धिसृष्ट्यनुकूलव्यापारवानित्यर्थः । अत्र शेषत्वविवक्षायां 'शेषे षष्ठी' इति षष्ठी । कर्मत्वविवक्षायां तु द्वितीयैव । 'न लोकाव्यय' इत्यनेनात्र षष्ठीनिषेधस्तु न, 'अनन्तरस्ये'ति न्यायेन 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' इति प्राप्तषष्ठ्या एव तेन प्रतिषेधात् ।

सतः पालकोऽवतरति—सज्जनान् पालयिष्यन् हरिः प्रादुर्भवतीत्यर्थः । अत्र पालधातोः 'तुमुन्ण्वुलौ–' इति भविष्यत्यर्थे ण्वुलो विधानात् यद्योगे 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' इति प्राप्तकर्मषष्ठ्याः 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति निषेधे कर्मणि द्वितीया बहुवचनम् ।

व्रजं गामी (ई. ५०)—गोष्ठं गमिष्यन्नित्यर्थः । अत्र 'गमेरिनिः' इत्यौणादिकसूत्रेण इनिः । स च भविष्यति विहितः । तेनात्र 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति निषेधात् षष्ठी न ।

शतं दायी (ई. ५८)—ऋणत्वेन गृहीतं शतं प्रत्यर्पयतीत्यर्थः । अत्र 'आवश्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' इत्याधमर्ण्ये णिनिः । तेनात्र 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' इति निषेधात् षष्ठी न ।

इति चानुवर्तते । तेन-नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन । ततः 'कर्तरि वा' । उक्तोऽर्थः । ६३१ तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् २।३।७२ तुल्यार्थैर्योगे तृतीया वा स्यात् पक्षे षष्ठी । तुल्यः, सदृशः, समो वा कृष्णस्य-कृष्णेन वा । 'अतुलोपमाभ्यां' किम् ? तुला, उपमा वा कृष्णस्य नास्ति । ६३२ चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः २।३।७३ एतदर्थैर्योगे चतुर्थी वा स्यात्पक्षे षष्ठी आशिषि । आयुष्यं चिरञ्जीवितं कृष्णाय-कृष्णस्य वा भूयात् । एवं मद्रं, भद्रं, कुशलम्, निरामयं, सुखं, शम्, अर्थः, प्रयोजनं, हितं, पथ्यं वा भूयात् । आशिषि' किम् ? देवदत्तस्यायुष्यमस्ति । व्याख्यानात्सर्वत्रार्थग्रहणम् । भद्रमद्रयोः पर्यायत्वादन्यतरो न पठनीयः । इति षष्ठी विभक्तिः ।

६३३ आधारोऽधिकरणम् १।४।४५ कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात् । ६३४ सप्तम्यधिकरणे च २।३।३६ अधिकरणे सप्तमी स्यात्, चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते, स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन्नात्मास्ति । वनस्य दूरे, अन्तिके वा । 'दूरान्तिकार्थेभ्यः-' (सू ६०६) इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः । १६० क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम् * । अधीती व्याकरणे । अधीतमनेनेति विग्रहे 'इष्टादिभ्यश्च' (सू १८८८) इति कर्तरीनिः । १६१ साध्वसाधुप्रयोगे च * । साधुः कृष्णो मातरि । असाधुर्मातुले । १६२ निमित्तात्कर्मयोगे * । निमित्तमिह फलम् । योगः संयोगसमवायात्मकः ।

'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ॥'

सर्वस्मिन्नात्मास्ति (ई. ५९)—अभिव्यापकस्याधारस्योदाहरणमेतत् । व्यापकरूपेण सर्वत्र आत्मा वर्तत इत्यर्थः । 'आधारोऽधिकरणम्' इत्यनेनात्र अधिकरणसंज्ञायां 'सप्तम्यधिकरणे च' इति सप्तमी ।

अधीती व्याकरणे (ई. ५१, ५२, ६६, ७०)—पूर्वं कर्माविवक्षया भावे क्तप्रत्यये अधीतशब्दात् कर्तरि 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्यये ततः कर्मविशेषजिज्ञासायां कर्मत्वेन सम्बद्धात् व्याकरणात् 'क्तस्येन्विषयस्ये'ति वार्तिकेन सप्तमी ।

सीम्नि पुष्कलको हतः (ई. ५५)—'निमित्तात् कर्मयोगे' इति वार्तिके

हेतौ तृतीयाऽत्र प्राप्ता तन्निवारणार्थमिदम्। सीमा अण्डकोषः। पुष्कलको गन्धमृगः। 'योगविशेषे' किम्? वेतनेन धान्यं लुनाति। ६३५ यस्य च भावेन भावलक्षणम् २।३।३७ यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात्। गोपु दुह्यमानासु गतः। १६३ अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च *। सत्सु तरत्सु असन्त आसते। असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति। सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति। असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति। ६३६ षष्ठी चानादरे २।३।३८ अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्। रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः। ६३७ स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च २।३।३९ एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनम्। गवां—गोषु वा स्वामी। गवां—गोषु वा प्रसूतः। गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः। ६३८ आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् २।३।४० आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे। आयुक्तो व्यापारितः। आयुक्तः—कुशलो वा हरिपूजने—हरिपूजनस्य वा। 'आसेवायाम्' किम्? आयुक्तो गौः शकटे। ईषद्युक्त इत्यर्थः। ६३९ यतश्च निर्धारणम् २।३।४१ जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। नृणां—नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। गवां—गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा। गच्छतां—गच्छत्सु वा धावञ्छीघ्रः। छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः। ६४० पञ्चमी विभक्ते २।३।४२ विभागो

निमित्तं फलम्। योगः संयोगसमवायात्मकः। प्रकृतप्रयोगे हेतौ तृतीया, तादर्थ्ये चतुर्थी च प्राप्ता ते प्रबाध्य अनेन सप्तमी। सीमा=अण्डकोशः। पुष्कलकः=गन्धमृगः। अत्र पुष्कलकेन कर्मणा सीम्नः समवाय एव।

गोषु दुह्यमानासु गतः (ई. ५१, ५९)—देवदत्तः कदा गतः, इति प्रश्ने उत्तरमिदम्। अत्र 'यस्य च भावेन' इति सप्तमी। गोदोहनदशायां गतः इत्युत्तरम्।

रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत् (ई. ५४, ५८)—कदा संन्यस्तवानिति प्रश्ने उत्तरमिदम्। अत्र 'षष्ठी चानादरे' इति सूत्रेण षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः।

छात्राणां छात्रेषु वा (ई. ५२, ५४)-छात्रसमुदायैकदेशभूतो मैत्रनामा स्वेतरव्यावृत्तपटुत्वधर्मक इत्यर्थः। अत्र 'यतश्च निर्धारणम्' इति सूत्रेण षष्ठीसप्तम्यौ स्तः।

विभक्तम् ।' निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी स्यात् । माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः । ६४१ साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः २।३।४३ आभ्यां योगे सप्तमी स्यादर्चायाम्, न तु प्रतेः प्रयोगे । मातरि साधुः, निपुणो वा । 'अर्चायाम्' किम् ? निपुणो राज्ञो भृत्यः । इह तत्त्वकथने तात्पर्यम् । १९४ अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् * । साधुः, निपुणो वा मातरं प्रति, परि, अनु वा ।

६४२ प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च २।३।४४ आभ्यां योगे तृतीया स्याच्चात्सप्तमी । प्रसित उत्सुको वा हरिणा—हरौ वा । ६४३ नक्षत्रे च लुपि २।३।४५ नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमानात्तृतीयासप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे । 'मूलेनावाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्' । मूले श्रवणे इति वा । 'लुपि' किम् ? पुष्ये शनिः । ६४४ सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये २।३।७ शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यामेते स्तः । अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे—द्व्यहाद्वा भोक्ता । कर्तृशक्त्योर्मध्येऽयं कालः । इहस्थोऽयं क्रोशे—क्रोशाद्वा लक्ष्यं विध्येत् । कर्तृकर्मशक्त्योर्मध्येऽयं देशः । अधिकशब्देन योगे सप्तमीपञ्चम्याविष्येते, 'तदस्मिन्नधिकम्'—(सू १८४६) इति 'यस्मादधिकम्'—(सू ६४६) इति च सूत्रनिर्देशात् । लोके—लोकाद्वा अधिको हरिः । ६४५ अधिरीश्वरे १।४।९७ स्वस्वामिसम्बन्धे अधिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । ६४६ यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी २।३।९ अत्र कर्मप्रवचीययुक्ते सप्तमी स्यात् । उप परार्धे हरेर्गुणाः । परार्धादधिका इत्यर्थः । ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी, अधि भुवि रामः—

यस्मादिति (ई. ७२)—अत्र ईश्वरवचनमित्यत्र ईश्वरशब्दो भावप्रधानः । तथा च ईश्वरत्वमुच्यते इति विग्रहः । यस्येति षष्ठ्याश्च निरूपितत्वं निष्ठत्वञ्चार्थः । एवं च यन्निरूपितमीश्वरत्वमुच्यते तद्वाचकात् सप्तमी । अथ च यन्निष्ठमीश्वरत्वमुच्यते तद्वाचकात्सप्तमीत्यर्थद्वयं जायते । तथा च-यन्निरूपितमीश्वरत्वमुच्यते इति व्याख्याने भूशब्दात् सप्तमी सिद्ध्यति । यन्निष्ठमीश्वरत्वमुच्यते इति व्याख्याने तु रामशब्दात् सप्तमी । तथा च 'अधि भुवि रामः' 'अधि रामे भूः' इति प्रयोगद्वयं सिद्धं भवति ।

अधि भुवि रामः, अधि रामे भूः (ई. ५१, ६१, ६६, ७१, ७३)—'यस्मादधिकम्' इत्यस्य व्याख्यानादर्थद्वयं विवक्षितं भवति—यन्निरूपितमीश्व-

अधि रामे भूः। 'सप्तमी शौण्डैः' (सू ७१८) इति समासपक्षे तु 'रामाधीना'। 'अषडक्ष'–(सू २०७९) इत्यादिना खः। ६४७ विभाषा कृञि १।४।९८ अधिः करोतौ प्राक्संज्ञो वा स्यादीश्वरेऽर्थे। यदत्र मामधिकरिष्यति। विनियोक्ष्यत इत्यर्थः। इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते। अगतित्वात् 'तिङि चोदात्तवति' (सू ३९७८) इति निघातो न। इति सप्तमी विभक्तिः।

इति कारकप्रकरणम्।

रत्वमुच्यते तद्वाचकात् सप्तमी, अथ च–यन्निष्ठत्वमीश्वरत्वमुच्यते तद्वाचकात् सप्तमीति। तथा च यन्निरूपितमिति व्याख्याने भूशब्दात् सप्तमी सिद्धयति। यन्निष्ठमिति व्याख्याने तु रामशब्दात् सप्तमी सिद्धयतीति।

यदत्र मामधिकरिष्यति (ई. ५५)—अस्मिन् विषये मामधिकरिष्यतीति यत्तद्युक्तमित्यर्थः। अत्र 'विभाषा कृञि' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीया भवति। अधिकरिष्यतीत्यस्य 'विनियोक्ष्यते' इत्यर्थः। ननु तर्हि कर्मत्वादेवात्र द्वितीया सिद्धौ किं कर्मप्रवचनीयत्वेनेति चेन्न, गतिसंज्ञाबाधनार्थत्वेन तस्यावश्यकत्वात्।

इति 'मिथिला' महीमण्डलान्तर्गत 'तरौनी' ग्रामवासि प० रामचन्द्रझा-व्याकरणाचार्यविरचितं 'इन्दुमती' व्याख्यासहितं कारकप्रकरणं समाप्तम्

परिशिष्टम्

(परिशिष्ट में छात्रोपयोगी मुख्य-मुख्य विषयों का ही प्रतिपादन किया गया है)

संज्ञा प्रकरण

सन्धिकार्यार्थं उपयोगिनी सञ्ज्ञाओं का प्रकरण 'संज्ञाप्रकरण' कहा जाता है। (टिसंज्ञा, घिसंज्ञा आदि आगे कहे जायेंगे)। महर्षि पाणिनि ने ४१ प्रमुख प्रत्याहारों की सिद्धि के लिये सर्वप्रथम १४ माहेश्वर सूत्रों की रचना की है। इन्ही चतुर्दश सूत्रों से अण्, अक् इत्यादि प्रत्याहारों की सिद्धि होती है। यथा–

'अ इ उ ण्' सूत्र घटक 'अण्' प्रत्याहार में अन्त्य इत्संज्ञक 'ण्' 'इ उ' के सहित उच्चारित आदि वर्ण हुआ 'अ-ण्' वह (अ-ण्) अपने बीच के का तथा अपना अर्थात् 'अ' का भी बोधक होता है। (एवं अन्यत्रापि)

ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद से स्वर (अच्=अ, इ उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ) १८ प्रकार के होते हैं। (दे० आमुख के टेबिल)

अकारादि हकारान्त वर्णों के उच्चारण स्थान – कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त, ओष्ठ तथा नासिका है। (दे० आमुख के टेबिल)

वर्ण तीन प्रकार के होते हैं—एक-मात्रिक (ह्रस्व), द्वि-मात्रिक (दीर्घ) और त्रि-मात्रिक (प्लुत)—

मुर्गा का शब्द "कु-कू-कू३" में एक दो, तीन मात्राओं का उपचय क्रमिक स्पष्ट प्रतीत होता है, अतः पाणिनि ने उकार ही दृष्टान्त रूप में दिया है (दे० 'ऊकालोऽज्झस्वदीर्घप्लुतः' सू० ४)

एकमात्रो भवेद् ह्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यंजनं चार्धमात्रिकम् ॥

जीभ के अग्र (चोटी), उपाग्र (अग्र के समीपस्थ प्रदेश), मध्य (बीच) और मूल (आदि) भाग द्वारा उपर्युक्त कण्ठ, ताल्वादि प्रभृति स्थानों को स्पर्श करके 'क'वर्गादि–'म'कारान्त वर्गों का उच्चारण होता है, अतः इनका नाम 'स्पर्श' वर्ण है (कादयो मावसानाः स्पर्शाः)।

यण् (य, व, र, ल) वर्ण स्वर और व्यंजन के बीच के हैं, अतः अन्तस्थ (बीच वाले) कहलाते हैं (यणोऽन्तस्थाः)।

शल् (श, ष, स, ह) वर्ण ऊष्मा कहलाते हैं। (शल् ऊष्माणः)। जिन वर्णों के उच्चारण में गर्म वायु का प्राधान्य होता है उसे ऊष्म वर्ण कहते हैं।

जिह्वामूलीय—ᳵक ᳵख, यहाँ ककार और खकार से पूर्व विसर्गार्ध (ᳵ) के समान जो ध्वनि होती है, उसे जिह्वामूलीय कहते हैं।

उपध्मानीय—ᳶप ᳶफ, यहाँ पकार और फकार से पूर्व विसर्गार्ध के समान जो ध्वनि होती है उसे उपध्मानीय कहते हैं।

अं, अः—यहाँ अकार से पर जो ं, ः ध्वनि है, वह यथाक्रम से अनुस्वार और विसर्ग का वाचक है। ('न' और 'म' के स्थान में अनुस्वार तथा रेफ के स्थान में विसर्ग होता है, अतः अनुस्वार या विसर्ग पृथक् वर्णों में नहीं गिने जाते हैं।)

यत्नो द्विधा—यत्न दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और बाह्य।

वर्णोच्चारण के पूर्व हृदय में जो यत्न (प्रयत्न) करना पड़ता है, उसे आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं, इसका अनुभव वर्णोच्चारण करने वाले को ही होता है। दूसरा प्रयत्न मुख से वर्ण निकलते समय होता है, इसका अनुभव सुनने वाले को भी होता है, अतः यह बाह्यप्रयत्न कहा जाता है। इसका प्रयोग सवर्णसंज्ञा में नहीं होता, किन्तु आन्तरतम्य परीक्षा अर्थात् कई वर्णों में परस्पर अत्यन्त समानता का गवेषण करने पर इसकी आवश्यकता पड़ती है।

सन्धि-प्रकरण

दो या दो से अधिक वर्ण परस्पर अत्यन्त निकटवर्ती होने से जो मिल जाते हैं, उसी मिलन का नाम सन्धि है। वह सन्धि—

एक पद में, धातु—उपसर्ग में तथा समस्त पद में नित्य होती है, किन्तु वाक्य में वक्ता की इच्छा पर ही निरभर रहती है। कहा भी है—

'संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे, वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते॥'

[१] अच्-सन्धि

अच् (स्वर) वर्ण के साथ अच् वर्ण की जो सन्धि होती है, उसे 'अच्-सन्धि' कहते हैं।

(१) इको यणचि—असमान अच् वर्ण के परे रहते इवर्ण[1] के स्थान में 'य्' उवर्ण के स्थान में 'व्', ऋवर्ण के स्थान में 'र्' और लृकार के स्थान में 'ल्' हो जाता है। यथा—अत्याचारः, लघ्वाचारः पित्रर्थम्, लाकृतिः, इत्यादि।

(२) आद्गुणः—अवर्ण के बाद इवर्ण रहे तो दोनों मिलकर 'ए', उवर्ण रहे तो 'ओ', ऋवर्ण रहे तो 'अर्' और लृकार रहे तो 'अल्' हो जाता है। यथा—उपेन्द्रः, सूर्योदयः, देवर्षिः, तवल्कारः, इत्यादि।

नोट—कहीं कहीं पररूप से या वृद्धि से गुण का बाध भी हो जाता है। यथा—

(क) पररूप से—हल+ईषा=हलीषा (दे० 'सकन्ध्वादिषु०' वा० १६)

(ख) वृद्धि से—स्व+ईरः=स्वैरः (दे० 'स्वादीरेरिणोः' वा० ११)

अक्ष + ऊहिनी=अक्षौहिणी (दे० 'अक्षादूहिन्यामुप' वा० १०)

प्र + ऊहः=प्रौहः (दे० 'प्रादूहोढो०' वा० १२)

प्रष्ठ+ऊहः=प्रष्ठौहः (दे० 'एत्येघत्यूठ्सु' सू० ७३)

सुख+ऋतः=सुखार्तः (दे० 'ऋते च तृतीयासमासे' वा० १३)

प्र + ऋणम्=प्रार्णम् (दे० 'प्रवत्सतर०' वा० १४)

प्र + ऋच्छति=प्रार्च्छति (दे० 'उपसर्गा०' सू० ७४)

(३) वृद्धि रेचि—अवर्ण के बाद ए या ऐ रहे तो दोनों मिलकर 'ऐ', और ओ या औ रहे तो दोनों मिलकर 'औ', हो जाता है। यथा—अद्यैव, देवैश्वर्यम्, गङ्गौघः, इत्यादि।

नोट—(क) अवर्णान्त उपसर्ग से पर यदि एकारादि या ओकारादि धातु रहे तो दोनों मिल कर एक हो जाता है। यथा—प्र+एजते=प्रेजते, उप+ओषति=उपोषति। (दे० 'एङि पररूपम्'[2] सू० ७८)

---

१. इवर्ण, उवर्ण तथा ऋवर्ण से यथाक्रम इ-ई, उ-ऊ, ऋ-ॠ का किन्तु लृकार से केवल 'लृ' मात्र का ग्रहण होता है (दे० 'वर्णात् कारः') एवं-अत्-इत् उत् से केवल अ-इ-उ मात्र का ग्रहण होता है, (दे० 'तपरस्तत्कालस्य' सू० १५

२. पररूप होने पर पूर्व वर्ण का पर वर्ण के समान रूप हो जाता है।

(ख) जहाँ जहाँ वृद्धि की प्राप्ति होती है वहाँ वहाँ गुण की भी प्राप्ति रहती ही है, ऐसी स्थिति में यदि गुण हो जायगा तो 'वृद्धि-रेचि' सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा ('आद्गुणः' तो 'उपेन्द्रः' में चरितार्थ है—वहाँ वृद्धि की प्राप्ति नहीं होती) अतः 'आद्गुणः' का अपवाद 'वृद्धिरेचि' है ('निरवकाशो विधिरपवादः' प०) ।

(४) 'अकः सवर्णे दीर्घः—अवर्ण के बाद अवर्ण रहे तो दोनों मिल कर 'आ' इसी प्रकार इवर्ण के बाद इवर्ण रहे तो 'ई', उवर्ण के बाद उवर्ण रहे तो 'ऊ', ऋवर्ण के बाद ऋवर्ण रहे तो 'ॠ', लृकार के बाद ऋवर्ण या [1]लृकार रहे तो 'ॠ' हो जाता है । यथा-विद्यार्थी, कवीन्द्रः, भानूदयः, होतॄकारः इत्यादि ।

नोट—कहीं अवर्ण के बाद अवर्ण रहने पर भी दीर्घ नहीं होता, यथा—शक+अन्धुः=शकन्धुः (दे० 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' वा० १६)

(५) 'एचोऽयवायावः—स्वर वर्ण के परे रहते 'ए' के स्थान में 'अय्' 'ऐ' के स्थान में 'आय्', 'ओ' के स्थान में 'अव्' तथा 'औ' के स्थान में 'आव्' हो जाता है और अयादि होने पर अयादि का अवर्ण पर्व वर्ण से और य् और व् पर वर्ण से मिल जाता है । यथा-शे+अनम्=शयनम्, विनायकः, भवनम्, भावुकः, इत्यादि ।

नोट—(क) पदान्त गोशब्दावयव ओकार के स्थान में अदन्त 'अव' आदेश भी होता है । यथा—गो+ईशः=गव+ईशः=गवेशः । (दे० 'अवङ् स्फोटायनस्य' सू० ८८, तथा 'इन्द्रे च' सू० ८९)

(ख) यकारादि प्रत्यय परे रहने पर भी गोशब्द के स्थान में अव् होता है, यथा—गो+यूतिः=गव्यूतिः (दे० 'वान्तो यि प्रत्यये' सू० ६३)

स्वरसन्धि निषेध (प्रकृति भाव) प्रकरण

(१) ओकारान्त तथा एकस्वरमात्र अव्यय की सन्धि नहीं होती, यथा-अहो ईशाः, आ एवम्, (दे० 'ओत्' सू० १०४ तथा 'निपात एकाजनाङ्' सू० १०३)

---

१. दे० 'ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्' वा० १

नोट—१–सीमा (मर्यादा), २–व्याप्ति और ३–ईषत् अर्थ के बोध होने पर और ४–क्रिया के साथ योग होने पर 'आ' अव्यय की भी सन्धि हो जाती है, यथा—

१–आ + एकदेशात् = ऐकदेशात् । २—आ + अध्ययनात् = आध्ययनात् ३–आ + उष्णम् = ओष्णम् । ४–आ + इहि = एहि ।

(२) द्विवचनान्त–ई, ऊ, ए के बाद स्वर वर्ण रहने पर कोई भी सन्धि नहीं होती, यथा–कवी इमौ, इत्यादि । (दे० 'ईदूदेद् द्विवचनं०' सू० १००)

(३) प्लुत स्वर की भी सन्धि नहीं होती, यथा–एहि कृष्ण३ अत्र । (दे० 'दूराद्धूते च' सू० ९५)

(४) ईकारान्त और ऊकारान्त अदस् शब्द के पदों की सन्धि नहीं होती, यथा—अमी अर्भकाः । अमू आसाते (दे० 'अदसो मात्' सू० १०१)

[२] व्यञ्जन-सन्धि

व्यञ्जन वर्ण के साथ स्वर या व्यञ्जन वर्णों की सन्धि को व्यञ्जन सन्धि कहते हैं ।

(१) स्तोश्चुनाश्चुः[१]—सकार या तवर्ग के स्थान में शकार या चवर्ग का (पूर्व या पर में) योग रहने पर 'स्' के स्थान में 'श्' और तवर्ग के स्थान में चवर्ग हो जाता है । यथा—तपश्चिनोति, तरोश्छाया, सच्चरित्रम्, तच्छिवः, उज्ज्वलनम्, तज्झणत्कारः, श्रीमाञ्जयतु, पश्यञ्झटिति, याच् + ना = याच्ञा ('याञ्चा' अशुद्ध है), यज् + नः = यज्ञः । इत्यादि ।

नोट—शकार से पर तवर्ग को श्चुत्व नहीं होता । यथा–विश्नः । प्रश्नः । (दे० 'शात्' सू० ११५)

(२) ष्टुना ष्टुः[२]—सकार या तवर्ग के स्थान में षकार या टवर्ग का (पूर्व या पर में) योग रहने पर 'स्' के स्थान में 'ष्' और 'तवर्ग' के स्थान

---

१. अत्र सूत्रे स्थान्यादेशयोरेव यथासंख्यं, नतु योगस्येति । तेन सकारस्य तवर्गस्य च शकारेण चवर्गेण वा यथासम्भवे योगे सति सस्य शः तस्य चः, दस्य जः, नस्य ञः—इत्याद्येव श्चुत्वमिह भवति ।

२. अत्र सूत्रेऽपि स्थान्यादेशयोरेव यथासंख्यं न तु योगस्य, तेन सस्य षः, तस्य टः, थस्य ठः, दस्य डः, नस्य णः इत्याद्येव ष्टुत्वं निष्पन्नं भवति ।

में 'टवर्ग' हो जाता है। यथा—धनुष्टङ्कारः, स्थिरष्ठक्कुरः, देवष्षण्ठः; तट्टीका, महड्ढक्कुरः, उड्डीनः, जगड्ढक्का, महाण्ठक्कुरः, महाण्डमरुः, हृष्टः, अधिष् + थाता = अधिष्ठाता। इत्यादि।

(३) झलां जशोऽन्ते[1]—पदान्त में स्थित 'झल्' के स्थान में 'जश्' हो जाता है। यथा—दिगन्तः, दिग्गजः, धिग्याचकम्, द्विषदन्तः, तद्गहनम्, श्रीमाण्ढीकते, हृष् + तः=हृष्टः। त्वद्यानम्। वाग्भ्याम्, अज्भ्याम्। इत्यादि।

नोट—(१) पदान्त 'झल्' के परे कोई भी वर्ण नहीं रहे तो झल् के स्थान में विकल्प से 'चर' हो जाने पर दो-दो रूप हो जाते हैं, यथा—वाक्-वाग्, अच्-अज्, इत्यादि। (दे० 'वाऽवसाने' सू० २०६)

(२) 'सुप्' प्रत्यय से लेकर 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त सर्वनामस्थान से भिन्न प्रत्ययों के पर में रहने पर पूर्व की पदसंज्ञा होती है इसी लिये 'वाग्भ्याम्, अज्भ्याम्' आदि में जश्त्व होता है। (दे० 'स्वादिष्व०' सू० २३०)

(४) यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा—चवर्ग को छोड़ कर वर्गों का पञ्चम वर्ण (ङ्, ण्, न्, म्) बाद में रहे तो पदान्त में वर्तमान वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्ण (क्-ग्, ट्-ड्, त्-द्, प्-ब्) के स्थान में उसी वर्ग का पंचम वर्ण विकल्प से होता है। (विकल्प पक्ष में 'झलांजशोऽन्ते' से तृतीय वर्ण हो जाता है। यथा—दिङ्नागः-दिग्नागः, प्राङ्मुखः-प्राग्मुखः, इत्यादि।

नोट—अनुनासिकादि प्रत्यय के परे (लौकिक प्रयोग में) पदान्त में वर्तमान प्रथम वर्ण के स्थान में पंचम वर्ण नित्य ही होता है जैसे—दिङ्मात्रम्, चिन्मयम्, इत्यादि। (दे० 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' वा०)

(५) छश्छोऽटि—पदान्त में स्थित 'झय्' के बाद शकार हो तो शकार के स्थान में विकल्प से छकार होजाता है—'अट्' के परे। यथा—वाक्छूरः-वाग्शूरः, जगच्छरण्यः-जगच्शरण्यः। इत्यादि।

---

१ अत्र सूत्रे 'झल्' इति पञ्चमवर्णवर्ज-कवर्ग-चवर्ग-टवर्ग-तवर्गाणाम् ऊष्मणां च प्रत्याहारः। 'जश्' इति तु वर्गतृतीयानां (ग-ज-ड-द-बानां) प्रत्याहारः। ऊष्मणां मध्ये तु 'व्रश्चभ्रस्जे'ति शस्य षत्वे, 'ससजुषो रुः' इति सस्य रुत्वे, 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे च विधाने षकारः एक एव अवशिष्यते, तस्य च मूर्धस्थानसाम्यात् डकारो भवति। तद्यथा—नश् + नप्=नड्। इत्यादि।

नोट—कहीं 'अम्' प्रत्याहार के परे भी 'श्' को 'छ्' होता है। यथा—तच्छ्लाघ्यः, इत्यादि। (दे० 'छत्वममीति वाच्यम्' वा० २८)

(६) खरि च[1]—'खर्' के परे ग् ज् ड् द् व् के स्थान में यथाक्रम से क् च् ट् त् प् हो जाते हैं। यथा—पदान्ते–दिक्पालः, अच्सन्धिः। अपदान्ते–लिट्सु, लप्स्यते, इत्यादि।

नोट—पदान्त में (किसी वर्ग के आगे नहीं रहने पर) झल् (ग् ज् ड् द् ब) के स्थान में विकल्प से चर् (क् च ट् त् प्) हो जाता है। यथा—वाक्–वाग्, राट्–राड्, इत्यादि। (दे० 'वाऽवसाने, सू० २०६)

(७) मोऽनुस्वारः—पदान्त मकार के बाद कोई भी व्यंजन वर्ण रहे तो 'म्' के स्थान में अनुस्वार (ं) हो जाता है। यथा—पुस्तकं पठति शत्रुं हन्ति, हरिं वन्दे, इत्यादि।

नोट—(क) कवर्गादि वर्गों के परे अनुस्वार के स्थान में अग्रिम वर्ण का पंचम वर्ण विकल्प से हो जाता है। यथा–त्वङ्करोषि, त्वं करोषि, (दे० 'वा पदान्तस्य' सू० १२५)

(ख) क्विवन्त 'राज्' धातु के परे 'सम्' के मकार को अनुस्वार नहीं होता। यथा—सम्राट्। (दे० 'मो राजि समः क्वौ' सू० १२६)

(ग) य, व, ल परक संयुक्त हकार के परे 'किम्' स्थानिक 'म्' के स्थान में सानुनासिक यँ वँ लँ आदेश विकल्प से हो जाता है। यथा—किय्ँ ह्यः–किं ह्यः, इत्यादि। (दे० 'यवलपरे यवलावा' वा० २९)

(घ) मकारपरक संयुक्त हकार के परे 'किम्' के मकार के स्थान में अनुस्वार विकल्प से होता है। यथा—किं ह्मलयति–किम् ह्मलयति, इत्यादि। (दे० 'हे मपरे वा' सू० १२७)

(ङ) नकार परक संयुक्त हकार के परे 'किम्' के 'म्' के स्थान में विकल्प से 'न्' होता है और अभाव पक्ष में 'म्' को अनुस्वार हो जाता है। यथा—किन्ह्नुते–किं ह्नुते, इत्यादि। (दे० 'नपरे नः' सू० १२८)

(८) नश्चापदान्तस्य झलि—श, ष, स, ह अथवा कवर्ग, टवर्ग या भवर्ग के परे पदमध्यस्थ 'न्' और 'म्' के स्थान में अनुस्वार हो जाता है। यथा दन् + शनम् = दंशनम्, सम् + शयः = संशयः, इत्यादि।

---

१. इदं सूत्रं पदान्ते अपदान्ते च प्रवर्तते, अतः 'झलां जशोऽन्ते' इति विहितं जश्त्वं खरि परे न प्रवर्तते, तत्रानेन चर्त्वमेव भवति।

नोट—कवर्गादि के परे विहित पदमध्यस्थ अनुस्वार के स्थान में अग्रिम वर्ण का पञ्चम वर्ण हो जाता है। यथा—आशं+कते=आशङ्कते, गं + गा=गङ्गा, गन्ता, इत्यादि। (दे० 'अनुस्वारस्य०' सू० १२४)

(९) तोर्लि—लकार के परे रहते 'त्' या द् के स्थान में 'ल्' हो जाता है। यथा—तत् + लयः = तल्लयः, यद् + लिखति = यल्लिखति, इत्यादि।

[३] विसर्गसन्धि

विसर्ग के साथ स्वर या व्यंजन वर्ण की जो सन्धि होती है, उसे विसर्ग सन्धि कहते हैं।

विसर्ग दो प्रकार का होता है— १–सजात और २–रजात।

१. सजात–शब्द, विभक्ति या प्रत्ययसम्बन्धी 'स्' के स्थान में जो विसर्ग होता है, उसे सजात विसर्ग कहते हैं। यथा—शब्द–निस्=निः, दुस्=दुः। विभक्ति—रामस् = रामः, पठामस् = पठामः। प्रत्यय—एकसस्=एकसः, वहुसः, इत्यादि।

२. रजात—स्वाभाविक या ऋकारस्थानिक 'र्' के स्थान में जो विसर्ग होता है, उसे रजात विसर्ग कहते हैं। यथा—

स्वाभाविक—स्वर् =स्वः, अन्तर्=अन्तः, प्रातः, आदि।

ऋकारस्थानिक—गीर्=गीः, पूर् =पूः, मातः, पितः, इत्यादि।

नोट—क्वचित् 'ष्' तथा 'न्' जात भी विसर्ग होता है। यथा—सजुष्-सजूः, अहन्=अहः। (दे० 'ससजुषो रुः' सू० १६२ और 'अहन्' सू०४४४)

(१) विसर्जनीयस्य सः—च–छ, ट–ठ तथा त–थ के परे विसर्ग के स्थान में 'स्' होने पर संभावना रहने से श्चुत्व भी हो जाता है। यथा—मीतश्चलति, रवेश्छविः, धनुष्टङ्कारः, स्थिरष्ठक्कुरः, नद्यास्तीरम्, रामस्थाता, इत्यादि।

नोट–श, ष, या स के परे रहते विसर्ग के स्थान में यथाक्रम से श्, ष् स्, विकल्प से होता है। यथा—रामश्शेते, देवष्षष्ठः, इत्यादि। (दे० 'वा शरि' सू० १५१)

(२) ससजुषो रुः—स्वर वर्ण अथवा वर्ग का तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम किंवा य, ल, व, ह पर में रहे तो अ, आ से भिन्न स्वर वर्ण के परस्थित

विसर्ग के स्थान में 'र्' हो जाता है। यथा—हरिरयम्, गुरुरुवाच, हरिर्गच्छति, बहिर्डंकारः। इत्यादि।

(३) अतो रोरप्लुतादप्लुते—यदि अकार के बाद विसर्ग और विसर्ग के बाद 'अ' रहे तो अकार और विसर्ग के स्थान में (रुत्व, उत्व, गुण होकर) 'ओ' हो जाता है। यथा—कोऽयम्, यशोऽभिलाषी, इत्यादि।

नोट—यदि अ, इ या उ के बाद रजात विसर्ग रहे तथा विसर्ग के बाद स्वर वर्ण अथवा वर्ग का तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम किंवा य, ल, व या ह रहे तो रजात विसर्ग के स्थान में रेफ होता है। यथा—पुनरपि, पुनर्गच्छ; पुनर्हसति, इत्यादि।

(४) हशि च—यदि अकार के बाद विसर्ग रहे और विसर्ग के बाद वर्ग का तृतीय, चतुर्थ, पंचम या य, र, ल, व अथवा ह, रहे तो अकार और विसर्ग के स्थान में 'ओ' हो जाता है। यथा—रामो गच्छति, मनो रथः इत्यादि।

नोट—(क) यदि अकार के बाद विसर्ग रहे और विसर्ग के बाद अकारभिन्न स्वर वर्ण रहे तो विसर्ग का लोप हो जाता है। यथा—कुत आगतः, बाल इव, पीत ओष्ठः, इत्यादि। (दे० 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' सू० १६७ तथा 'लोपः शाकल्यस्य' सू० ६७)

(ख) यदि आकार के बाद विसर्ग और विसर्ग के बाद स्वर वर्ण अथवा वर्ग का तृतीय, चतुर्थ, पंचम किंवा य, र, ल, व, या ह, रहे तो आकार के परस्थित विसर्ग का लोप हो जाता है। यथा—बालका अमी, तारा उदिता, इत्यादि। (दे० 'लोपः शाकल्यस्य' सू० ६७ तथा 'हलि सर्वेषाम्' सू० १७१)

(ग) रेफ के परे रहते विसर्ग (विसर्ग स्थानी रेफ) का लोप हो जाता है और लोप होने पर उसका पूर्व स्वर दीर्घ हो जाता है यथा—पिता रक्ष, हरी राजते, अन्ता राष्ट्रियः, इत्यादि। (दे० 'रो रि' सू० १७३, तथा 'ढ्रलोपे पूर्वस्य०' सू० १७४)

(घ) यदि अकार से भिन्न स्वर अथवा व्यंजन वर्ण पर में रहे तो 'सः' और 'एषः' इन दोनों पदों के विसर्ग का लोप हो जाता है। यथा—स आगतः, स इच्छति, एष धावति, इत्यादि। (दे० 'एतत्तदोः'० सू० १७६ तथा 'सोऽचि लोपे०' सू० १७७)

(५) विसर्ग के बाद क, ख, या प, फ रहे तो विसर्ग का विसर्ग ही रह जाता है। यथा—कः करोति, कः खनति, कः पचति, कः फलति, इत्यादि। (दे० 'कुप्वोः' सू०. १४२)

(६) क्वचित् (समासस्थल में) विसर्ग के बाद क, ख, या प, फ, रहने पर अकार से पर विसर्ग के स्थान में 'स्' और इकार से पर विसर्ग के स्थान में 'ष्' हो जाता है। यथा—अधस्पदम्, निष्कृतम्, इत्यादि।

सन्धि प्रकरण समाप्त

सुबन्त-प्रकरण

'सु' से लेकर 'सुप्' पर्यन्त २१ विभक्तियों को 'सुप्' कहते हैं और वह सुप् (विभक्ति) जिसके अन्त में रहता है, वह सुवन्त कहा जाता है।

नोट—'सुप्' से यहां प्रत्याहार लिया जाता है, और वह प्रत्याहार 'स्वौजसमौट्०' सूत्र के आदि वर्ण 'सु' से लेकर अन्तिम 'सुप्' के 'प्' तक से बनता है

अनुशीलनी कारिका—

सुबन्तं च तिङन्तं च पदमित्यभिधीयते।
सुप्-तिङन्त-चयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता॥

लिङ्गानुशासन

पुंल्लिङ्गाधिकार—

सामान्यतः—घञ्, अप् तथा (भय, लिंग, भग और पद शब्द को छोड़ कर–) घ और अच् प्रत्ययान्त शब्द नित्य पुंल्लिङ्ग होते हैं। यथा—

अंश (हिस्सा)	क्रतु	पट (चटाई)	रवि (सूर्य)
अक्षत (नि. बहु.)	क्षुर (छूरा)	पथिन्	राशि (ढेर)
अङ्कुर	खड्ग	पल्लव	रेफ
अञ्जलि	खुर	पल्वल (छो. ज.)	लाज (नि. बहु.)
अतिथि	गज	पाक	वंश
अन्त	गण	पाणि (हाथ)	वायस (कौआ)

अमित्र
अर्घ
असु (प्राण नि. बहु.)
असुर
आधि
इन (फेन)
उपल (पत्थर)
उष्ट्र
ऋत्विक्
ऋभुक्षिन् (इन्द्र)
ऋषि
कंस (पनवट्टी)
कटाह (कड़ाही)
कण्ठ
कन्द
कपि
कपोल
कफ
कम्बल
कर
कलश
कवि
कुक्षि
कुन्त (बर्छी)
कुम्भ (घट)
कुसूल (खंता)
कृमि (कीड़ा)
केश (बाल)

गन्ध
गरुत् (पंख)
गिरि
गुल्फ (घुट्ठी)
ग्रन्थि
घट
चय (समूह)
चूत (आम-वृक्ष या योनि)
तरङ्ग
ताल
तुरङ्ग (घोड़ा)
तूल (रूई)
दन्त
दार (नि. व.)
दीप
दूत
दृति (मच्छर)
देव
देवल (पुजारी)
दैत्य
धूर्त
ध्वज (पताका)
ध्वनि
नख
नितम्ब
निधि (खज़ाना)
निर्व्यूह (खूंटी)
पङ्क

पाषाण
पुंख
पुंज (ढेर)
पूग (सुपारी)
पुत्र
पुरुष
पुरोडाश (हवन-सामग्री)
वस्ति (मूत्र)
बुद्बुद (बुलबुला)
भीम
भुज (बांह)
मठ
मणि (पु. स्त्री.)
मथिन् (मथनी)
मन्त्र
मरुत् (वायु)
महानस (र. घर)
मुंज
मुनि
मुहूर्त (२ घंटा)
मृदङ्ग
मेघ
मेढ्र
मेरु (पर्वत)
मौलि (मस्तक)
यज्ञ
यूथ
रथ

विधि (विधान),
विस्तर (विस्तार बिछौना)
वृक्ष, वृत्र
वृष (बैल)
वृषल (शूद्र)
व्रात (समूह)
शर
शुक्र (देवता)
शेफ (लिंग)
सङ्ग
समय
समुद्र
सर्प
सारथि (सूत)
सुर
सूत (सारथि)
सेतु (बांध)
सोम (चन्द्र)
स्कन्ध
स्तन
स्तबक (गुच्छा)
स्तम्ब (खंभा)
स्वर्ग
हय
हर्ष
हस्त
ह्रद (तालाब)
इत्यादि

नपुंसकलिङ्गाधिकार—

सामान्यतः—ल्युट्, क्त, क्तवतु, त्व, यत्, ढक् यक्, अञ्, अण्, वुञ् और छ प्रत्ययान्त शब्द नित्य नपुंसकलिंग होते हैं। यथा—

अक्षिन्	कुशल	पाणिपद	वक्त्र
अजिन (चर्म)	कोदण्ड (धनुष)	पाथस् (जल)	वन
अध्यात्म	क्षीर (जल)	पानीय	वसु (धन)
अन्न	गीत	पाप	वारि (जल)
अन्तरीप (टापू)	गोदारण (हल)	पिशित (मांस)	वार् ,,
अभ्र (मेघ)	चक्षुष्	पीयूष (अमृत)	वित्त
अमृत (जल)	चिवुक	पुरीष (विष्ठा)	विपिन (वन)
अम्वरीष (संसार)	चिह्न	पुस्कर (जल)	विवर
अम्वु (जल)	छत्र	पुष्प	वृजिन (क्लेश)
अम्भस् ,,	छिद्र	विल	वेतन (तनखाह)
अरण्य	जघन	विस (कमल-	शंवर (जल)
अर्णस् (जल)	जल	नाल)	शत
अशन	जीवन (जल)	वुस (भूसा)	शरासन
अश्मसार (लोहा)	ज्ञान	भय	शष्प (कोमल)
अहन्	तपस्	भुवन (जल)	घास
आनन	तरस (मांस)	मनस्	शासन
आपस् (जल)	तल	मांस	शिरीष (वृक्ष)
आस्य	तल्प (शय्या)	मिथुन	शिल्प (कला)
उडुप (डोंगी)	तुहिन (तुषार)	मुख	शुक्र (वीर्य)
उत्तरीय	तोरण (सजावट)	मेघपुष्प (जल)	शोणित
उदक (जल)	तोय	यशस्	श्मशान
उष्ण	दिन	रक्त	श्वभ्र (विल)
इन्द्रिय	द्रविण (धन)	रन्ध्र	समीप
ऋक्थ (धन)	द्रव्य ,,	रत्न	सरिल(जल)
ऋजीप (तावा)	द्युम्न ,,	रिक्थ (धन)	सर्वतोमुख ,,

ऋण	धन	रुक्म (सोना)	सलिल ,,
कमल (जल)	धनुष्	रुधिर	सामन्
कबन्ध ,,	नयन	रूप	साहस
कल्मष (पाप)	निम्न (नीचे)	रोक (बिल)	सिद्ध (मुहांसा
कानन (वन)	निर्व्यथन (बिल)	रोमन्	रोग
कान्तार ,,	नीर (जल)	लक्ष	सोपान (सीढ़ी)
कार्मुक (धनुष)	पत्र	लपन (मुख)	स्वापतेय (धन)
कालायस् (लोहा)	पद (स्थान)	लवण	हल
किल्विष (पाप)	पनस (कटहल)	लांगल (हल)	हसन
किसलय (न. प.)	पयस् (जल)	लिंग (चिह्न)	हिरण्य
कीलाल (जल)	पर्ण (पत्र)	लोचन	हृदय । इत्यादि
कुंकुम	परार्ध (संख्या)	लोह	

स्त्रीलिङ्गाधिकार—

सामान्यतः—मि, नि, क्तिन्, ई (ङीप्, ङीष्) ऊङ्, आप् (डाप्, चाप्) प्रत्ययान्त तथा एकाक्षर (स्त्री, भूः) शब्द नित्य स्त्रीलिंग होते हैं। यथा—

अजा	छदि (छत,छप्पर)	भू (पृथिवी)	शष्कुलि (पूड़ी)
अशनि (वज्र)	ज्योत्स्ना	भूमि	शोभा
अप् (जल)	पारा	भ्रुकुटि (भौंह)	समा (वर्ष)
अवनि	त्रुटि	याच्ञा	सिकता (नि. ब.)
उपानह् (जूता)	दिश् (दिशा)	राजि (पंक्ति)	सुमनस् (फूल)
उष्णिष् (पगड़ी)	धारा	लक्ष्मी	स्रक् (माला)
कुटी	पंक्ति	वलि (पूजा)	स्रुच् (स्रुक्)
ग्लानि	प्रभा	वर्ति (बत्ती)	स्त्री
चमू	भास् (तेज)	विभा	इत्यादि

पुन्नपुंसकाधिकार—

अधो लिखित शब्द वैकल्पिक पु० न० उभय लिङ्गी होते हैं यथा—

अंकुश	काश	दृढ	भूत (प्रेत,प्राणी)
अघ (पाप)	कुञ्ज	देह	मण्ड

अभ्र (मेघ)
अम्बुद ,,
अर्घ
अष्टापाद (सोना)
आयुध
उद्यम
ऐरावत
औषध
ककुद
कबन्ध (धड़)
कुथ (गलीचा)
कुलिश
कूर्च (दाढ़ी)
क्ष्वेलित (गर्जन)
खण्ड (टुकड़ा)
गृह
घृत
दण्ड
दर्प
दर्भ (कुश)
निदाघ (ग्रीष्म)
पटह (ढोल)
पट्ट
पार्श्व (बगल)
पुच्छ
पुस्तक
प्रस्थ (पहाड़ी मैदान)
बुस्त (कलिया)
मुस्त (माथा)
मेह (रोग)
लोहित (लाल)
वज्र
शल्य (बाण)
शव (मुर्दा)
शृङ्ग
सैन्धव (नमक)
इत्यादि ।

स्त्री-पुंसाधिकार –

अधो निर्दिष्ट शब्द वैकल्पिक स्त्री० पु० उभय लिङ्गी होते हैं । यथा—

अर्चिस् (स्त्री नं.)
कण्डु (खुजली)
कर्कन्धु (बेर)
किष्कु (हाथभर)
गो
त्रुटि
पाटलि (वृक्ष)
वस्ति (मूत्राशय)
मणि
मरीचि (किरण)
मसि (स्याही)
मुष्टि
मृत्यु
यष्टि (लाठी)
रेणु (धूल)
शाल्मलि (वृक्ष)
सीधु (शराव)
इत्यादि

अवशिष्टलिङ्ग[1] (त्रिलिङ्गी शब्द)—अव्यय (जिस शब्द का तीनों लिङ्गों में सब विभक्तियों में, सब वचनों में समान रूप हो याने कुछ भी विकार को प्राप्त न करें वह शब्द अव्यय कहलाता है), एवं कति, युष्मद् तथा अस्मद् शब्द तीनों लिङ्गों में समान होते हैं ।

इसी प्रकार षान्त (सजुष्) तथा संख्यावाचक (एकादि), गुणवाचक (शुक्लादि), कृत्यप्रत्ययान्त शब्द एवं करण और अधिकरण में विहित ल्युट् प्रत्ययान्त शब्द तथा सर्वनामसंज्ञक सर्वादिगणपठित शब्दों का लिङ्ग परवत् (विशेष्यवत्) होता है ।

नोट—(१) जातिवाचक, समूहार्थक तथा समष्टिबोधक शब्दों की यदि विभिन्नता दिखानी नहीं हो तो (संस्कृत-हिन्दी उभय में) एकवचन में ही

१. तत्तल्लिङ्गवाचकताप्रयुक्तकार्यविशेषशून्यम् अवशिष्टलिङ्गम् ।

प्रत्युक्त होते हैं। यथा—वर्णानां ब्राह्मणः श्रेष्ठः, बलवती सेना, विद्वद्गणः, आदि।

(२) (वक्ष्यमाण) समाहार द्वन्द्व और द्विगु समास से परिनिष्ठित शब्दों का भी एकवचन में ही प्रयोग होता है। यथा—पाणिपादम्, त्रिभुवनम्, इत्यादि।

(३) अश्विनीकुमार तथा दम्पति, जम्पति (पति-पत्नी) शब्दों का द्विवचन में ही प्रयोग होता है।

(४) नित्य पुंल्लिङ्ग—दार, अक्षत, लाज और प्राणार्थक असु तथा प्राण शब्द नित्य बहुवचन में ही प्रयुक्त होते हैं।

(५) अस्मद् शब्द तथा आदर अर्थ में अन्य शब्द भी (संस्कृत-हिन्दी उभय में) विकल्प से बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं।

संख्यावाचक शब्द—

(१) संख्यावाचक 'एक' शब्द[1] प्रायः–नित्य एकवचनान्त, 'द्वि' शब्द द्विवचनान्त तथा 'त्रि' से लेकर अष्टादश पर्यन्त संख्यावाची शब्द नित्य बहुवचनान्त और 'एकोनविंशति' (१९) से आगे सभी संख्यावाचक शब्द एकवचनान्त ही होते हैं।

नोट—(१) एक से अष्टादश (१८) पर्यन्त संख्यावाचक शब्द तीनों लिंगों में प्रयुक्त होते हैं और एकोनविंशति (१९) से लेकर नवनवति (९९) पर्यन्त संख्यायें स्त्रीलिंग होते हैं। यथा—

एकोनविंशतिः बालकाः, विंशतिः बालिकाः, विंशतिः फलानि, इत्यादि।

(२)—एक से लेकर अष्टादश (१८) पर्यन्त संख्यावाचक शब्द केवल संख्येय अर्थ में अर्थात् विशेषण रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। जैसे—

एकः पण्डितः, दश पण्डिताः, (न कि पण्डितस्य एकः, पण्डितानां दश।)

(३) एकोनविंशति (१९) से लेकर आगे की विंशत्यादि संख्यायें संख्या और संख्येय (विशेषण और विशेष्य) दोनों में प्रयुक्त होती हैं। यथा—विंशतिः बालकाः, बालकानां विंशतिः (दोनों शुद्ध है)। तदुक्तम्—

---

१. विशिष्टार्थे तु-एक-द्वि-बहुवचनान्तोऽपि। यथा 'इत्येके आचार्याः'।

'अष्टादशान्ता एकाद्याः संख्या संख्येयगोचराः ।
विंशत्याद्या सदैकत्वे सर्वाः संख्येय-संख्ययोः ॥'

(४) एकोनविंशत्यादि संख्यायें जब संख्या (विशेष्य) अर्थ में प्रयुक्त होती हैं, तब उनसे द्विवचन और बहुवचन भी होते हैं। यथा—

द्वे (विंशतिश्च विंशतिश्च=) विंशती, तिस्रः विंशतयः, आदि। छात्राणां—विंशतिः, विंशती, विंशतयो वा, इत्यादि।

कारक-प्रकरण

कारक

'क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्'=क्रिया के जनक (सम्पादक) को कारक कहते हैं। अथवा—'करोति क्रियां निर्वर्तयति इति कारकम्'= जो क्रिया या व्यापार का निर्वर्तक या किसी न किसी रूप में साधक हो उसे कारक कहते हैं। यथा—'अन्तेवासी गुरुकुले उपाध्यायात् ज्ञानाय मनसा पुस्तक पठति' यहाँ पठनरूप व्यापार का जनक किसी न किसी रूप में सभी हैं। क्योंकि अन्तेवासी कर्ता होकर, गुरुकुल आधार होकर, उपाध्याय अपादान रूप में, ज्ञान उद्‌श्यत्वेन सम्प्रदान होकर, मन प्रकृष्ट उपकारक तथा करण रूप से और पुस्तक कर्म रूप से एक ही पठन क्रिया का निष्पादन करते हैं (याने क्रिया के जनक होते हैं)।

जो क्रिया का जनक नहीं है, उसे कारक नहीं कहते। इसीलिये सम्बन्ध (षष्ठी) और सम्बोधन संस्कृत में कारक नहीं माने जाते हैं। उदाहरण यथा—'हे बालक ! त्वम् रामस्य वस्त्रं पश्य' यहाँ 'पश्य' इस व्यापार का कर्ता 'त्वम्' है, न कि बालक। तथा 'राम' तो केवल वस्त्र का सम्बन्ध बतलाता है, न कि क्रिया (व्यापार) का जनक है, अतः सम्बन्ध और सम्बोधन कारक नहीं है।

कारक के भेद

'कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाऽधिकरणं चेत्याहुः कारकाणि षट् ॥'

कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छै प्रकार के कारक होते हैं।

(१) कर्ता

स्वतन्त्रः कर्ता—(क्रियासम्पादकः (स्वतन्त्रः) कर्ता)

कर्तृलक्षण-'कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे प्रधानीभूतधात्वर्थव्यापाराश्रयत्व कर्तृत्वम्' अर्थात् क्रियासम्पादन के विषय में जो प्रधान (स्वतन्त्र) भाव से विवक्षित रहता है, उसे कर्ता कहते हैं।

नोट—सकर्मक धातु से कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य (उभय) में तथा अकर्मक धातु से केवल भाववाच्य में प्रयोग होता है।

(१) कर्तृवाच्य में—कर्ता प्रथमान्त, कर्म द्वितीयान्त तथा तिङन्त क्रिया के पुरुष-वचन कर्ता के अनुसार प्रयुक्त होते हैं। यथा—'इन्दुमती पुष्पं चिनोति'।

(२) कर्मवाच्य में— कर्ता तृतीयान्त, कर्म प्रथमान्त तथा क्रिया 'यक्' प्रत्ययघटित आत्मनेपदी तथा उनके पुरुष-वचन कर्मानुसार ही एक० द्वि०, बहुवचनान्त होते हैं। यथा—'रामेण—वेदः पठ्यते, वेदौ पठ्येते, वेदाः पठ्यन्ते'।

(३) भाववाच्य में—कर्ता कर्मवाच्यवत् तृतीयान्त ही होता है पर विशेषता यह होती है कि कर्म नहीं होता और अकर्मक क्रिया सदैव प्रथम पुरुष की यक्प्रत्ययघटित आत्मनेपदी तथा एकवचनान्त ही होती है। यथा—'मया, आवाभ्याम् अस्माभिर्वा स्थीयते'।

अनुशीलनी कारिका—

(१) 'कर्तुर्हि प्रथमा बोध्या क्रिया कर्त्रनुसारिणी।
कर्मणस्तु द्वितीया स्याद् वचनं कर्तृवन्मतम् ॥'

(२) 'कर्मणः प्रथमा बोध्या क्रिया कर्मानुसारिणी।
स्यात् सार्वधातुके यक् च धातोरप्यात्मने पदम् ॥
कर्तुः स्थाने तृतीया स्यात् कर्मवाच्यस्य संस्थितिः ॥'

(३) 'भाववाच्येऽन्यपुरुषे वचनं चैकमीरितम्।
कर्तुः स्थाने तृतीया स्यात् सर्वत्रैष क्रमो मतः ॥'

(२) कर्म

कर्तुरीप्सिततमं कर्म—(कर्ता क्रिया द्वारा यत् किञ्चित् प्राप्तुमिष्टतमं मन्यते तत् कर्मकारकं भवति।) अर्थात्—क्रियाद्वारा जो आक्रान्तः

हो, याने कर्ता अपनी क्रिया (व्यापार) द्वारा जिसको प्राप्त करता हो उसे कर्मकारक कहते हैं। कर्मकारक से द्वितीया विभक्ति होती है।

नोट—कहीं अनीप्सित कारक की भी कर्मसंज्ञा होती है। जैसे—'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति, ओदन भुञ्जानो विषं भुंक्ते। इत्यादि।

(क) द्विकर्मक

अकथितं च—(अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्) अपादानादि कारकों की अविवक्षा से कर्मत्व रूप में वक्ता की इक्षा होने पर अपादानादि भी कर्म हो जाते हैं। (इसीको अकथित, अविवक्षित या अप्रधान (गौण) कर्म कहते हैं। द्विकर्मक धातु सूत्र में परिगणित हैं—दे० [1]'दुह्–याच्–पच्' इत्यादि पृ० १७३। उदा०'–गां दुग्धं दोग्धि'।)

कर्मलक्षण-कर्तृवृत्तिव्यापारप्रयोज्य-फलवत्वप्रकारकेच्छानिरूपित-विषयताश्रयत्वम्। अर्थात् संज्ञा के जिस रूप पर क्रिया के व्यापार का फल पड़ता है, उसे 'कर्म' कहते हैं। कर्म से द्वितीया विभक्ति होती है।

उक्तञ्च—'कर्तृवाच्यप्रयोगे तु द्वितीया कर्तृकारके।
धिक्-प्रतीत्यादिभिर्योगे क्रियायाश्च विशेषणे॥
ऋते विनादिभिश्चैव द्वितीया सम्मता मता॥'पृ० १७८

नोट—'विवक्षाधीनानि कारकाणि भवन्ति' (इति न विस्मर्तव्यम्) अत एव–विवक्षा होने पर–'गोपः गां दुग्धं दोग्धि' की जगह–गोपः गोः दुग्धं दोग्धि। इत्यादि अपादान कारक भी हो सकता है।

(३) करण

साधकतमं करणम्—(यद्व्यापाराऽनन्तरं क्रियायाः निष्पत्तिः तत्

---

१. दुह प्रपूरणे, टुयाचृ याञ्चायाम्, रुधिर् आवरणे, प्रच्छ् ज्ञीप्सायाम्, चिञ् चयने, ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि, शासु अनुशिष्टौ, जि अभिभवे, मन्थ विलोडने, मुष् स्तेये, णीञ् प्रापणे, हृञ् हरणे, कृष् विलेखने, वह् प्रापणे-इन्ही धातुओं में प्रधान और अप्रधान दो कर्म होते हैं। क्रिया के साथ प्रधानरूप से जिसका सम्बन्ध होता है, उसे प्रधान कर्म कहते हैं।

करणम्) अर्थात् जिसके व्यापार के अव्यवहित उत्तर काल में क्रिया की निष्पत्ति होती है, उसे करण कारक कहते[1] हैं।

उदा०-'रामेण बाणेन हतो वाली' यहाँ बाण के व्यापार होने के अव्यवहितोत्तर काल में ही वाली का हनन होता है, अतः यहाँ बाण करण है।

'करण' और 'हेतु' में थोड़ा-सा ही भेद है—

करण-लक्षण—क्रियाजनकमात्रवृत्ति व्यापारवृत्ति च यत् तत् करणम्। अर्थात् जो क्रिया का जनक और व्यापारवान् हो, उसे 'करण' कहते हैं।

हेतु-लक्षण—द्रव्य-गुण-क्रियात्मक-कार्यत्रयनिरूपित-निर्व्यापार-सव्यापारवृत्ति च यत् तद् हेतुत्वम्।

करण-उदा०—'दण्डेन ताडयति' यहाँ दण्ड क्रिया का जनक है और व्यापारवान् भी है, अतः दण्ड करण है।

हेतु-उदा०—'पुण्येन दृष्टो हरिः' यहाँ जो पुण्य रूप हेतु है, उसमें हरि-दर्शन-जनकत्व रूप क्रियाजनकता तो है, पर वह व्यापारवान् नहीं है। अतः यहाँ पुण्य हेतु है-करण नहीं। एवं 'दण्डेन घटः' यहाँ दण्ड व्यापारवान् है, पर उसमें क्रियाजनकत्व नहीं है, अतः वह हेतु है—करण नहीं।

अनुशीलनी कारिका—

'भावे कर्मणि वाच्ये च तृतीया कर्तृकारके।
करणे च तथा हेतौ प्रकृत्यादेः प्रयोगतः॥
विना-हीनादिभिर्योगे सहार्थैश्च विशेषणे।
विकृताङ्गे तृतीया स्याद् योगे तुल्यार्थकैरपि॥'

(४) सम्प्रदान

चतुर्थी सम्प्रदाने—सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है।

तदुक्तम्—

'सम्प्रदाने चतुर्थी स्यात् तादर्थ्ये च क्रियायुते।
रुच्यर्थानां प्रीयमाणे नमो योगे च सा भवेत्॥'

---

१. तदुक्तं हरिकारिका—

'क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्-व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत् तदा स्मृतम्॥'

अथवा— सम्प्रदाने निमित्तार्थे क्रियायोगे च कुत्रचित् ।
शब्दैः शक्तसमर्थाद्यैर्नमः-स्वस्तिहितादिभिः ॥
रुचादिधातुयोगे च चतुर्थी विहिता भवेत् ॥

उदा० १—सम्प्रदाने-विप्राय गां ददाति । २—निमित्तार्थे-परोपकाराय सतां विभूतयः । ३—क्रियायोगे-सर्वस्मै सत्पथं दर्शयेत् । ४—शक्तादियोगे-अलं मल्लः (शक्तः) मल्लाय, गुरवे नमः, प्रजाभ्यः स्वस्ति, अग्नये स्वाहा, पितृभ्यः स्वधा, छात्राय हितम्, तृणाय मन्ये, धनिने सुखम्, यज्ञदत्ताय शतं धारयति, भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः, गोपी कृष्णाय श्लाघते, पुष्पेभ्यः स्पृहयति । ५—रुच्यादियोगे—गुरवे रोचते दधि, मित्राय क्रुध्यति, इत्यादि ।

(क) जिसको स्वाधिकार निवृत्तिपूर्वक कुछ दिया[1] जाय अर्थात् दान क्रिया के कर्म के साथ जिसका सम्बन्ध स्थापित किया जाय उसे सम्प्रदान कारक कहते हैं । यथा—'विप्राय गां ददाति'

यहाँ दान क्रिया का कर्म गौ है, उस गौ के साथ विप्र का स्वत्व (अधिकार) स्थापित किया जाता है, अतः यहाँ विप्र सम्प्रदान कारक है ।

(ख) जिसकी आकांक्षा से कोई कार्य किया जाय अर्थात् जो क्रिया की प्रवृत्ति का फल हो उसे भी सम्प्रदान कारक कहते हैं, जैसे—'मुक्तये हरिं भजति' ।

अनुशीलनी कारिका—

'क्रिययाऽभीप्सिताच्चैव धारि-रुचि-स्पृहादिषु ।
तादर्थ्ये क्लिपि-योगे चोत्पादकज्ञापन एव च ॥
हितयोगे तुमुन्योगे नम आदिप्रयोगतः ।
आशीर्वादे चतुर्थी स्यात् क्रुधादेः कर्मतः तथा ॥'

अन्यच्च—

'सम्प्रदाने चतुर्थी स्यात् तादर्थ्ये च क्रियायुते ।
रुच्यर्थानां प्रीयमाणे नमो योगे च सा भवेत् ॥' (पृ० १८६)

---

१. स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक-परस्वत्वोत्पादनानुकुलव्यापारो दाधात्वर्थः । अत एव 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' इत्यत्र न चतुर्थी ।

परस्वत्वोत्पत्तिजनकव्यापारमात्रस्य दाधात्वर्थवादिनां मते तु 'विष्णवे नमः' इत्यादौ 'इदं न मम' इत्यन्ते योज्यम् ।

(५) अपादान

'अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम् ।
ध्रुवमेवाऽतदादेशात् तदपादान'मुच्यते ॥
पततो ध्रुव[२] एवाऽसौ यस्मादश्वात् पतत्यसौ ।
तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमिष्यते ॥' (ह॰ का॰)

ध्रुवमपायेऽपादानम्[१]—अर्थात् जिससे कोई वस्तु अलग हो याने प्रस्तुत धात्वर्थव्यापार का जो आश्रय नहीं हो, किन्तु विगलाव में अवधि होता हो उसे अपादान (ध्रुव) कहते हैं। (अपादान कारक में पंचमी होती है।) यथा–'वृक्षात् पर्णं पतति'।

नोट—पंचमी भी अनुक्त अपादान में ही होती है। इसीलिये 'बिभेति अस्माद् इति भीमः' यहाँ 'म' प्रत्यय से अपादान उक्त है अतः 'भीम' से पंचमी नहीं होती।

अनुशीलनी कारिका—

'अपादाने ल्यबर्थे च योगे पूर्वादिभिः तथा ।
उत्कर्षे पञ्चमी ज्ञेया हेत्वर्थे तु विभाषया ॥
ऋते विनादिभिर्योगे पञ्चमी च स्मृता बुधैः ।'

षष्ठ्याः (सम्बन्धस्य) कारकत्वं नास्ति

(सम्बन्धस्य क्रियाजनकत्वाऽभावात् ।) अर्थात् सम्बन्धषष्ठी को कारक नहीं माना जाता, इसलिये कि सम्बन्ध में क्रियाजनकत्व रूप कारक नहीं है। जैसे—

'माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति' इस वाक्य में पिता से ही प्रश्नादि क्रिया की उत्पत्ति हो जाने के कारण उनके प्रति माणवक अन्यथा सिद्ध हो जाता है। (दे॰ पृ॰ २१६)

---

१. अपादानत्वं—विभागजनकव्यापाराऽनाश्रयत्वे सति विभागाश्रयत्वम् ।

२. ध्रुवत्वं—प्रकृतधात्वर्थव्यापाराश्रयत्वे सति तज्जन्यविभागाश्रयत्वम् ।

अनुशीलनी कारिका—

'षष्ठी भवति सम्बन्धे कृदन्ते कर्तृकर्मणोः ।
तृतीया स्यात् तथा षष्ठी कृत्यानां कर्तृकारके ॥
तुल्यार्थयोगे षष्ठी स्यात् तृतीया च विभाषया ।'

(६) अधिकरण

आधारोऽधिकरणम्—कर्ता और कर्म के आधार (आश्रय) को अधिकरण कारक कहते हैं। अनुक्त अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति होती है।

आधार तीन प्रकार का होता है—१. ऐकदेशिक, २. वैषयिक, ३. अभिव्यापक। उदाहरण—१. कटे आस्ते, २. मोक्षे इच्छाऽस्ति, ३. तिलेषु तैलम्, इत्यादि।

अनुशीलनी कारिका—

'आधारे च तथा भावे विभक्तिः सप्तमी भवेत् ।
अनादरे च निर्धारे षष्ठी स्यात् सप्तमी तथा ॥'

अन्यच्च—

'सप्तमी त्रिविधाधाराद् दूरान्तिकार्थतोऽपि च ।
भावान्तरं यतो लक्ष्यं कर्मयोगे निमित्ततः ॥
नित्यैव सा मता सद्भिरथ निर्धारणे यतः ।
भृशाऽनादरभावे च षष्ठी स्यात् सप्तमी तथा ॥'

सभी कारकों के उदाहरण—

रामो राजमणिः सदा विजयते, रामं रमेशं भजे
रामेणाऽभिहता निशाचरचमूः, रामाय तस्मै नमः ।
रामान्नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहं
रामे चित्तलयः सदा भवतु मे हे राम मामुद्धर ॥

प्रथम परिशिष्ट समाप्त

श्रीकाशीपतिः पातु वः

प्रश्नपत्राणि

(१)

१. वृद्धिगुणसंज्ञयोर्विषयव्यवस्थार्थमावश्यकत्वे कथम् ऐऔजिति सूत्रारम्भस्य सावर्ण्याभावज्ञापकत्वमिति समाधाय म, थ, ट, प, र वर्णेषु कयोरपि द्वयोः बाह्यप्रयत्ना लेख्याः । १०

अथवा—नाज्झलावित्यत्राकारप्रश्लेषे फलं मानञ्च प्रदर्श्य "इको गुणवृद्धी" इति सूत्रं सोदाहरणं व्याख्येयम् ।

२. दध्यत्र, अवश्यलाव्यम् सुश्लोकेति, मामकी तनू इति, वाग्घरिः, सन्त्सः, सञ्च्छम्भुः, एतेषु त्रयाणामेव साधुत्वं विधाय 'कथन्तर्हि मदोदग्राः ककुद्मन्तः' इत्याद्युक्तेराशयं विशदीकुरुत ? १०

अथवा—कृष्णर्द्धिः, उपार्च्छति, होतॄकारः, उत्थानम्, संस्कर्ता, चक्रिस्त्रायस्व, आविष्कृतम्, शिवोऽर्च्यः, स उ एकाग्निः, धूर्पतिः, एतेषु पञ्चैव साधनीयाः ।

३. रामाय, हरौ, सख्युः, माभ्याम्, द्व्यह्नि, गाम्, एतेषु त्रयाणां साधुत्वं विधाय क्रोष्टुशब्दस्य सर्वविभक्तिषु रूपाणि लिखत । १०

४. "जरसौ" इत्यत्र शीभावमाशङ्क्य परमतप्रदर्शनपूर्वकं दीक्षितोक्तदिशा समाधाय च आस्ना, प्रधीणां, धुक्षु, राज्ञः, प्रियपञ्चाम्, अस्माकम्, अमुमुईचा, षण्णाम्, एतेषु त्रयाणामेव साधुत्वं विधेयम् । १०

५. स्वाम्पि, बहुराज्ञी, अजिका, चिरण्टी, इन्द्राणी, ब्रह्माणी, एतेषु त्रयाणामेव साधुत्वं विधाय स्वाङ्गलक्षणं ग्रन्थकारोक्तं सोदाहरणं वक्तव्यम् । १०

(२)

१. सवर्ण-संहिता-संज्ञाविधायकानि सूत्राणि सोदाहरणानि लिखित्वा "अष्टाभ्य औश्, इत्यादावादेः परस्येत्येतदपि" इति पङ्क्तेराशयं स्फुटं प्रतिपादयत । १०

२. तवल्कारः, प्रार्षभीयति, शिवेहि, रामकृष्णावमू आसाते, सञ्छम्भुः, कांस्कान्, मातुः कृपा, भो देवाः, एषु केचन पञ्चैव प्रयोगाः साधु साध्याः । १०

३. रामाणाम्, जरसौ, सखा, लून्युः, श्रीणाम्, हे वर्षाभु, ज्ञानानि, दध्ना, एषां केषाञ्चित् पञ्चानां सिद्धिः कार्या । १०

अथवा—सम्बुद्ध्याक्षिप्तस्याङ्गस्यैङ्ह्रस्वाभ्यां विशेषणान्नेहेति पङ्क्तेराशयं प्रतिपाद्य पितराविल्यत्र दीर्घाभावे कारणं लिखत ।

४. अनड्वान्, यूनः, राज्ञः, अग्ने तेजस्विन्, तादृक्, विदुषः, अमूः, चेच्छिदि, विस्रुपः, एषु केचन पञ्चप्रयोगाः साधनीयाः । १०

अथवा—समस्यमाने द्व्येकत्ववाचिनी युष्मदस्मदीत्यादि कारिकार्थः सोदाहरणं स्फोरणीयः ।

५. निर्भस्त्रिका, अतिधीवरी, गार्गी, कन्या, सपत्नी, ब्रह्माणी, तटी, नारी, एतेषां पञ्चानामेव सिद्धिः साधु कार्या । १०

(३)

१. प्रत्याहार-गुण-स्वरितसंज्ञाविधायकानि सूत्राणि विलिख्य, 'अकृतव्यूहाः पाणिनीया' इति परिभाषाफलं वदत । १०

२. प्राच्र्छति, गव्यूतिः, पतञ्जलिः, देवदत्त, किम्वुक्तम्, उत्थानम्, संस्कर्ता, रामस्थाता, देवायिह, एषु केचन पञ्चैव साधु समाधेयाः । १०

३. रामाः, सर्वेषाम्, सुसखिना, यूष्णः, सुद्यावौ, मत्यै, पुनर्भूणाम्, सुधीनि, प्ररीणाम्, एषु केषाञ्चित् पञ्चानामेव सिद्धिः कार्या । १०

अथवा—कथं तर्हि दुर्धियः वृश्चिकभिय इत्यादिपङ्क्तेराशयं सम्यक् प्रतिपाद्य, अद्ड्डतरादिभ्य इति सूत्रे अद्डादेशे डकाराकारयोः प्रयोजनं वदत ।

४. चतुर्षु, मघवान्, अष्टौ, अतिमयि, प्राचा, सुवः, अमू, गवाक्षु, केचित् पञ्चैव प्रयोगाः साध्याः । १०

५. तत्र शालायाम्, सीमे, आसुरायणी, कुण्डी, शफोरुः, एषु त्रीन् प्रयोगान् संसाध्य शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिरित्यत्रामहत्पूर्वाग्रहणफलं प्रदर्शयत । १०

(४)

१. ह्रस्व-वृद्धि-संज्ञाविधायकानि प्रमाणानि लिखित्वा परनित्यान्तरङ्गेतिपरिभाषाफलं स्पष्टं प्रदर्शयत । १०

२. लव्यम्, प्रोधीयति, गवेन्द्रः, रामकृष्णावमू आसाते, तच्छिवः, नॄः पाहि, सर्पिष्कुण्डिका, शिवोऽर्च्यः, एतेषु केचन पञ्चैव प्रयोगाः साध्याः ।

अथवा—चतुर्मुख इत्यत्र णत्वाभावं स्पष्टं प्रतिपाद्य, ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण इति सूत्रस्थपूर्वग्रहणफलं लिखत ।

३. सर्वेषाम्, सख्यौ, बहुश्रेयस्यै, धाता, निर्जभिः, क्रोष्ट्री, हृन्दि, एषां केषां चित् पञ्चानामेव साधनं साधु कार्यम् । १०

४. विश्वौहः, मघोनः, ऋत्विक्, प्राचः, पुमान्, अमुना, अमूषाम्, स्रग्वीणि, एषु केचित् पञ्चैव साधनीयाः । १०

५. अधिहरि, गार्गी, एनी, कटी, पञ्चाजी, एतान् साधयत ।

(५)

१. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् । अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः । इत्यनयोः कार्यवैलक्षण्यं सोदाहरणं प्रदर्श्य, अष्टाभ्य औशित्यादावादेः परस्ये-त्येतदपि परत्वादनेन वाध्यते, इति ग्रन्थस्याशयः सम्यक् प्रदर्शनीयः । १०

२. एङि पररूपम् इत्यत्र वा सुपीत्यनुवृत्तौ वाक्यभेदस्वरूपं तत् फलञ्च प्रदर्श्य प्राच्छेति, लव्यम्. पटत्पटेति, अमी ईशाः । त्वङ्करोषि, पुंस्कोकिलः, निष्प्रत्यूहम्, शिवो वन्द्यः, मनोरथः, एष विष्णुः, एषु कांश्चिदपि चतुरः प्रयोगान् साधयत । १०

३. सर्वेषाम्, यूष्णि, नियाम्, मत्याम्, क्रोष्ट्री, श्रीपाय, अत्र चतुर्णां प्रयोगाणां सिद्धिं विधाय, नेयङुवङ्स्थानावस्त्री, इति सूत्रं सोदाहरणं व्याख्येयम् । १०

४. अनड्वान्, पथः, प्राचा, अद्भिः, धनूंषि, अमूनि, अत्र चतुर्णां सिद्धौ यत्नं विधाय कृन्मेजन्त इति सूत्रं सोदाहरणं व्याख्यायताम् । १०

५. ऐन्द्री, गार्गी, द्व्यूध्नी, एनी, कठी, वैदी, विग्रहप्रदर्शनपूर्वकम् एषु चतुर्णां सिद्धिविधौ यत्नं विधाय, बहुव्रीहेर्भाषितपुंस्कत्वात्ततो विहितस्य नित्यम् । शैषिके कपि तु विकल्प एवेति भेदे युक्तिः प्रदर्शनीया । १०

(६)

१. अ, इ, उ, ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादशभेदान् सयुक्तिकं प्रदर्श्य विश्वपाभिरित्यत्र होढ इति ढत्वं न भवति, इति ग्रन्थस्याशयः सम्यक् प्रदर्शनीयः । ८

२. गव्यूतिः, तवल्कारः, अवेहि, वाप्यश्वः, अमुकेऽत्र, चतुर्मुखः, तच्छिवः, सञ्छम्भुः, शिवच्छाया, मातुःकृपा, देवाः सन्ति, सैष दाशरथी रामः, एषु विशेषसूत्रनिर्देशपुरस्सरं षट्प्रयोगाः, साधु साधनीयाः । १२

३. रामाः, सर्वे, त्वत्कपितृकः, पूष्णः, सुसखिना, क्रोष्टुः, गमुल्, निज्भ्याम्, श्रियाम्, अजरसम्, प्रीणाम्, एषु केषाञ्चित्-पञ्चानामेव साधुत्वं प्रतिपादयत । १०

४. विश्वौहः, आभ्याम्, राज्ञः, वृत्रघ्नः, प्रियाष्टाभ्याम्, अतिवयम्, प्रतीचः, धीमान्, तक्, अमूषाम्, विमलदिवी, वेभिदि, एषु केवलं पञ्चानामेव साधुत्वं प्रतिपाद्य, 'अदसोऽद्रेः पृथङ्मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत् । केचिदन्त्यसदेशस्य, नेत्येकेऽसेर्हिदृश्यते' इति कारिका सोदाहरणं व्याख्येया । १०

अथवा—सुद्यौः, अनेन, प्रतिदीव्नः, मघवान्, अष्टौ, युष्माकम् विविट्, अमुना, दृक्, असृक्, स्वाम्पि, अत्र केवलं पञ्चानामेव साधुत्वं विधाय, वष्टिभागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः, आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा, इति कारिका साधु व्याख्येया । १०

५. पञ्चाजी, निर्भस्त्रका, वक्ष्यमाणा, मनावी, दंष्ट्रा, उपाध्याया, सुस्वेदा, युवतिः, विग्रहप्रदर्शनपूर्वकम्—एषु चतुर्णां सिद्धिं विधाय, 'आकृतिग्रहणा जातिः, लिङ्गानां च न सर्वभाक्, सकृदाख्यात-निर्ग्राह्या, गोत्रं च चरणैः सह' इति, अयम् सन्दर्भः सोदाहरणं व्याख्येयः ।

१९७४

१. हलन्त्यमिति सूत्रस्यावृत्तिप्रयोजनं सोपपत्तिकमुपवर्ण्यताम् । ८

२. नायकः, कृष्णर्द्धिः, शिवेहि, अमी ईशाः, पुंस्कोकिलः, कस्कः, यशस्कल्पम्, सर्पिष्कुण्डिका, भो देवाः, एतेषां प्रयोगाणां केवलं पञ्च-प्रयोगेषु सूत्रनिर्देशपूर्वकं सन्धिकार्याणि लिख्यन्ताम् १२

३. रामाय, पूर्वस्मिन्, मासः, बहुश्रेयस्यै, सख्युः, दध्ना, वारिणे, मधूनि, धात्रा, एषु, पञ्चप्रयोगाणां सूत्रनिर्देशपूर्वकं सिद्धिर्विधीयताम् । १०

४. लिहा, चत्वारः, कान्, राज्ञः, एभिः, मघोनः, पन्थाः, अष्टानाम्, आवाम्, अमुना, एतेषु पञ्चप्रयोगाणां सिद्धिर्विधीयताम् । १०

५. अजा, बहुयज्वा, उपत्यका, ऐन्द्री, आसुरायणी, त्रिहायणी, मामकी, वीरपत्नी, हिमानी, चन्द्रमुखी, एषु पञ्चैव विग्रहप्रदर्शनपूर्वकं प्राधान्येन स्त्रीप्रत्ययकार्यं विधाय सूत्रनिर्देशपुरस्सरं साधनीयाः। अजाद्यतष्टाप् इत्यस्यार्थो लेख्यः। १०

अथवा

षिद्गौरादिभ्यश्च, वोतो गुणवचनात्, वसोः सम्प्रसारणम् एतेषां सूत्राणां सोदाहरणा व्याख्या विधेया।

१९७५

१. "लण्" सूत्रेऽकारस्येत्संज्ञायाः प्रयोजनमुपवर्ण्यताम्। १०

अथवा

"कृत्तद्धितसमासाश्चेति" सूत्रे समासग्रहणस्य प्रयोजनं साधूपपाद्यताम्।

२. आदित्यम्, प्राच्छंति, चक्रि अत्र, वागीशः, शिवच्छाया, दुष्कृतम्, शिरस्पदम्, देवा इह, सैष दाशरथीरामः, एतेषां यथेच्छं पञ्चसु सन्धिकार्याणि सूत्रनिर्देशपुरस्सरं लिख्यन्ताम्। १०

३. रामाणाम्, द्वितये, द्वयह्नि, हरौ, सुसखिना, त्रयाणाम्, क्रोष्टूनाम्, सर्वस्यै, प्रशाम्याम्, एषु पञ्चानां साधुत्वं विधीयताम्। १०

४. विश्वौहः, राजभ्याम्, वृत्रघ्नः, यूनः, युष्माकम्, प्राचः, अमी, अनया, अमूनि, एतेषु पञ्चानां संसिद्धिः क्रियताम्। १०

५. भवती, सर्विका, कुरुचरी, त्रिलोकी, सुराज्ञी, सपत्नी, मृद्वी, दित्यौही, युवतिः, एषु पञ्चप्रयोगाः साधु साधनीयाः। १०

१९७६

१. ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतमित्यत्र प्रमाणमुपन्यस्य, नाज्झलाविति सूत्रे आकारप्रश्लेषे मानं फलञ्चाभिधीयताम्। १०

२. सुद्ध्युपास्यः, लव्यम्, चिनुहि इति, आच्छादयति, चिद्रूपम्, पुरस्करोति, भो अच्युत, एषु त्रयाणां सन्धिकार्यं प्रतिपाद्य, "मातुः कृपा" इत्यत्र षत्वाभावं प्रतिपादयत। १०

३. रामाय, पूर्वस्मिन्, माभ्याम्, कुमार्यौ, गमुल्, निज्भ्याम्, पुनर्भूणाम्, अजरांसि, एषु पञ्चानां साधुत्वं ब्रूत। १०

४. द्युक्षु, प्रियचत्वाः, एभिः, वृत्रघ्नः प्रियाष्टनः, प्राचः, असकौ, अद्भिः, भान्ती, एषु पञ्चानां सिद्धिं प्रदर्शयत । १०

अथवा

"समस्यमाने द्व्यचेत्ववाचिनी०" इत्येताः कारिकाः सोदाहरणं व्याख्येयाः ।

५. अतिसुत्वरी, देवदत्तिका, गङ्गाका, द्विपुरुषी, रोहिणी, भाजी, स्वङ्गी, शफोरूः, एषु चतुरः प्रयोगान् संसाध्य, वक्ष्यमाणा इत्यत्र ङीप् कथं नेति विलिख्यताम् । १०

कारकान्त सूत्रसूची

सूत्रांक

सूत्रांक

सूत्रांक